त्रैमासिक
जनवरी–मार्च 2007
बीस रुपये

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

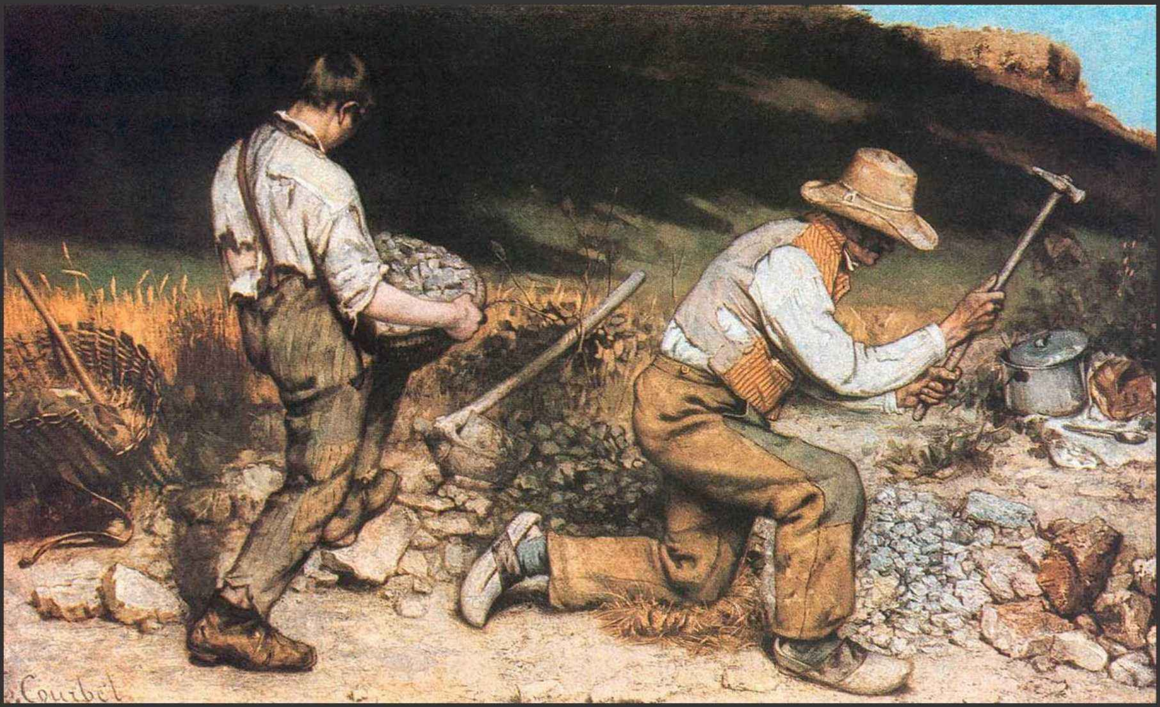

विशेष भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास
(1990 के बाद हुए परिवर्तनों का ब्योरा)

'अस्मितावादी राजनीति' और उत्तरआधुनिकतावाद का राजनीतिक एजेण्डा

निठारी के बहाने पूँजीवाद की सभ्यता समीक्षा
आर्थिक विकास की यशोगाथा में छुपा समृद्धि और वंचना का अन्तरविरोध
किसानों का उजरती मज़दूरों में रूपान्तरण : पूँजीवादी खेती की तार्किक परिणति
चीन में मेहनतकश वर्गों की दशा—राबर्ट वील ● चीन में अति–उत्पादन का संकट
मध्यपूर्व में एक और आत्मघाती दुस्साहस की राह पर अमेरिका
अमेरिकी अर्थव्यवस्था का बजट घाटा और व्यापार घाटा

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

हर अंक में संग्रहणीय सामग्री

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

नवम्बर'95-फरवरी'96

• साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमण्डलीकृत पूँजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) • शिखर पर रुदन : आत्म-विश्लेषण और आत्म-आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा • माओ त्से-तुङ और सुरजीत पातर की कविताएँ • आइजेंस्ताइन और 'पूंजी' पर फिल्म बनाने की योजना

मार्च-अगस्त 1996

• माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में • भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष • आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएँ

सितम्बर-अक्टूबर 1996

• मार्क्स और पर्यावरण • क्रान्ति का विज्ञान • विज्ञान, कला और अधिरचना–एमिल बर्न्स • ताचाई की कहानी • 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

नवम्बर'96-फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग, समस्याओं और चुनौतियों पर विशेष सामग्री

• माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएँ • स्तालिन : एक मूल्यांकन • स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद • रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय–रोजा लक्ज़मबर्ग • सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार • सोलह-सूत्रीय सर्कुलर • सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में–जार्ज थामसन • कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स • पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएँ

मार्च-जून 1997

• मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल • पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएँ • सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे • सूचना क्रान्ति का सच

जुलाई-अक्टूबर 1997

• एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी • माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य • सेर्गेई आइजेंस्ताइन–कला का मनोविज्ञान • मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

नवम्बर '97-फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएँ • गैर-सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र • मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का "मिशन" : सेवा का सच • माओ की कविताएँ

मार्च-जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट • 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख • ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' • पूँजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ • मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ • शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएँ

जुलाई-दिसम्बर 1998

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :

• बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर • लोर्का की कविताएँ • लोर्का पर नेरूदा की कविता • रॉबसन पर नाज़िम हिकमत की कविता • उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर'-अवस्था : एजाज़ अहमद • गैर-सरकारी संगठनों का असली मिशन • माओकालीन चीन में मार्क्सवाद : जार्ज थामसन • हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएँ

जुलाई-सितम्बर 1999

• स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र • तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढाँचा • भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न • बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति 'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'

अक्टूबर-दिसम्बर 1999

• जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां • 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता' • बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर : जार्ज थामसन • मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में : वोलोशिनोव • विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम • इस्तवान मेस्जारोस की चर्चित कृति 'बियॉण्ड कैपिटल' की समीक्षा

जनवरी-मार्च 2000

• कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में : अंतोनियो लाब्रियोला और रेमंड लोट्टा के महत्वपूर्ण लेख • जार्ज लुकाच के विरोध में : ब्रेष्ट • माओवादी चीन में स्त्रियाँ • नजरुल की कविता 'विद्रोही'

जुलाई-सितम्बर 2000

आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष-प्रश्न और हमारा समय • समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम • स्त्री-मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र • हांस आइसलर का लेख : एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता

जनवरी-मार्च 2001

इतिहास के लिए कुछ कार्य- स्थगन प्रस्ताव • औपनिवेशिक भारत में लोकभाषाओं एवं लिपियों का शिक्षा व्यवस्था से निष्कासन • सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याओं पर माओ • राष्ट्रीय प्रश्न पर जार्ज थामसन • 'मजदूर वर्गीय संगीत की समस्याएं'–हांस आइसलर

जुलाई-सितम्बर 2001

• भारतीय कृषि का संकट और नरोदवादी-राष्ट्रवादी "मार्क्सवाद" • शेयर बाजार–एक मार्क्सवादी विश्लेषण : फ्रेडरिक एंगेल्स, हरपाल बराड़, तापस चक्रवर्ती, सत्यम वर्मा और प्रो. अरुण कुमार के लेख • निरंकुश दमनकारी राज्यतंत्र की ओर धकेलती आर्थिक नीतियाँ • 'सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्याएँ ' की आलोचना–माओ त्से-तुङ • खाद्यान्न की वैश्विक राजनीति

अक्टूबर 2001-मार्च 2002

• दक्षिण एशिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद की चुनौती • अफ़गानिस्तान और उसके बाद • एन.जी.ओ. : साम्राज्यवाद के चाकर • एन.जी.ओ. की सैद्धान्तिकी और व्यवहारशास्त्र के बारे में हमारी समझ कैसे बनी?

जुलाई-सितम्बर 2003

• मार्क्सवाद पर अंबेडकर के विचार • इराक : मदमत्त हाथी फिर दलदल में • साम्राज्यवाद के बारे में • पश्चिम एशिया : शान्ति की शर्त फलस्तीन की आजादी • पूँजीवादी निवेश के कारण तबाह हो रहे हैं गरीब किसान • स्तालिन के निधन के पचास वर्ष बाद • दूरसंचार का निजीकरण

अक्टूबर-दिसम्बर 2004

वर्ल्ड सोशल फोरम और एन.जी.ओ. की राजनीति पर केन्द्रित विशेष अंक

जुलाई-सितम्बर 2005

आज के साम्राज्यवाद के कुछ पहलू : कुछ विकासमान समीकरण, कुछ भावी सम्भावनाएँ समाजवाद पर पुनर्विचार : समाजवादी संक्रमण क्या है भारत में बदलते कृषि-सम्बन्ध पंजाब का किसान आन्दोलन और कम्युनिस्ट उत्तर-आधुनिकता, हिन्दू राष्ट्रवाद और 'वैदिक विज्ञान'

अंकों का मूल्य और डाकखर्च भेजे जाने पर पिछले उपलब्ध अंक डाक से भेज दिये जायेंगे। अनुपलब्ध अंकों की महत्वपूर्ण सामग्री की फोटो प्रतिलिपि भी प्रतिलिपि व्यय और डाकखर्च भेजे जाने की उपलब्ध कराने की व्यवस्था है। पिछले अंकों की सामग्री ईमेल से भी भेजी जा सकती है।

दायित्वबोध

वर्ष–11 अंक–1

जनवरी–मार्च 2007

सम्पादक मण्डल :

विश्वनाथ मिश्र, अरविन्द सिंह, कात्यायनी, सत्यम, मीनाक्षी

आवरण एवं सज्जा : **रामबाबू**

आवरण का चित्र :

'दि स्टोनब्रेकर्स', गुस्ताव कूर्बे

सम्पादकीय कार्यालय :

55, यू.एन.आई. अपार्टमेंट, जीएच-2

सेक्टर-11, वसुंधरा, गाजियाबाद-201010

फोन : 93129-67616

ईमेल : **dayitvabodh@rediffmail.com**

एक प्रति : 20 रुपये

वार्षिक : 80 रुपये

(डाक व्यय 15 रुपए अतिरिक्त)

आजीवन : 1000 रुपये

सम्पादन एवं संचालन

पूर्णतः अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ-226 010**

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम. आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज-एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, वेस्ट गोरख पार्क, दिल्ली-32 से मुद्रित

इस अंक में

अपनी बात

निठारी के बहाने पूँजीवाद की सभ्यता-समीक्षा 4

शोध–अध्ययन

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास 11

सामयिक

छोटे किसानों का उजरती मज़दूरों में रूपान्तरण : पूँजीवादी खेती की तार्किक परिणति 38

ज्वलन्त प्रश्न

"अस्मितावादी" राजनीति और उत्तरआधुनिकतावाद का राजनीतिक एजेण्डा 44

विशेष लेख

चीन में मेहनतकश वर्गों की दशा -- रॉबर्ट वील 55

टिप्पणियाँ

आर्थिक विकास की यशोगाथा में छुपा समृद्धि और वंचना का अन्तरविरोध 69

मध्यपूर्व में एक और आत्मघाती दुस्साहस की राह पर अमेरिका 75

अमेरिकी साम्राज्यवाद का व्यापार तथा बजट घाटा 78

चीन में अति उत्पादन का संकट 80

जन्म-शताब्दी वर्ष (28 सितम्बर 2007-2008) के आरम्भ के अवसर पर

प्रगति के समर्थक प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह अनिवार्य है कि वह पुराने विश्वास से सम्बन्धित हर बात की आलोचना करे, उसमें अविश्वास करे और उसे चुनौती दे। प्रचलित विश्वास की एक-एक बात के हर कोने-अँतरे की विवेकपूर्ण जाँच-पड़ताल उसे करनी होगी। यदि कोई विवेकपूर्ण ढंग से पर्याप्त सोच विचार के बाद किसी सिद्धान्त या दर्शन में विश्वास करता है तो उसके विश्वास का स्वागत है। उसकी तर्क-पद्धति भ्रान्तिपूर्ण, गलत, पथ-भ्रष्ट और कदाचित् हेत्वाभासी हो सकती है, लेकिन ऐसा आदमी सुधर कर सही रास्ते पर आ सकता है, क्योंकि विवेक का ध्रुवतारा सही रास्ता बनाता हुआ उसके जीवन में चमकता रहता है। मगर कोरा विश्वास और अन्धविश्वास खतरनाक होता है। क्योंकि वह दिमाग को कुन्द करता है और आदमी को प्रतिक्रियावादी बना देता है।

यथार्थवादी होने का दावा करने वाले को तो समूचे पुरातन विश्वास को चुनौती देनी होगी। यदि विश्वास विवेक की आँच बरदाश्त नहीं कर सकता तो ध्वस्त हो जायेगा। तब यथार्थवादी आदमी को सबसे पहले उस विश्वास के ढाँचे को पूरी तरह गिरा कर उस जगह एक नया दर्शन खड़ा करने के लिये जमीन साफ करनी होगी।

-- भगतसिंह ('मैं नास्तिक क्यों हूँ' से)

पाठकों से

साथियो,

'दायित्वबोध' एक लम्बे समय से नियमित प्रकाशित न हो पाने के लिए और हम अपनी वादाख़िलाफ़ी के लिए बदनाम रहे हैं।

यह अंक लगभग डेढ़ वर्षों के अन्तराल के बाद आपके हाथों में होगा। इसके पूर्व प्रकाशित अंक भी लगभग डेढ़ वर्षों के बाद प्रकाशित हो पाया था।

अब एक बार फिर हमने पत्रिका की अनियमितता के बुनियादी कारणों पर विचार किया है और इसे नियमित बनाने के संकल्प के साथ पत्रिका का नया अंक लेकर आपके समक्ष उपस्थित हो रहे हैं। 'दायित्वबोध' के सम्पादन एवं व्यवस्था की बेहद छोटी टीम और अपने वैचारिक सरोकारों के अनुरूप बौद्धिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक कार्रवाइयों में उस टीम की अति व्यस्तता भी शुरू से हमारी एक अहम समस्या रही है। इसके अतिरिक्त इस अंक के विलम्बित प्रकाशन के पीछे कुछ अन्य अप्रत्याशित समस्याएँ और उनके निराकरण में हमारा उलझाव भी एक महत्वपूर्ण कारण रहा। बहरहाल, हम इन बाधाओं को हल करके 'दायित्वबोध' का नया अंक आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। सम्पादक-मण्डल को पुनर्गठित और विस्तारित करने के साथ ही हमने इस बार व्यवस्था पक्ष को भी पुनर्गठित किया है। यह प्रक्रिया अगले कुछ अंकों तक भी जारी रहेगी और हमें विश्वास है कि हम एक बार फिर अपने सुहृद पाठकों का विश्वास जीतने में और सक्रिय सहयोग हासिल कर पाने में सफल होगा।

पाठकों को याद होगा कि 'दायित्वबोध' के पिछले अंक (जुलाई-सितम्बर 2005) के सम्पादकीय में हमने आज के साम्राज्यवाद के कुछ पहलुओं, कुछ विकासमान समीकरणों और कुछ भावी सम्भावनाओं की चर्चा की थी और वह चर्चा पत्रिका के अगले अंक के सम्पादकीय में भी जारी रहने वाली थी। अब इतने लम्बे समय बाद, चर्चा की उसी कड़ी को आगे बढ़ाने के बजाय, फ़िलहाल इस प्रसंग को हम स्थगित कर रहे हैं। आज के साम्राज्यवाद की अभिलाक्षणिकताओं और तद्विषयक समकालीन अध्ययनों-स्थापनाओं की समालोचना का काम हम कुछ अंकों के बाद पत्रिका में सिलसिलेवार शुरू करेंगे। उस समय तक पत्रिका का नियमित प्रकाशन भी सुव्यवस्थित हो चुका रहेगा।

इतने लम्बे समय तक स्थगन के बावजूद, हमें अपने गम्भीर पाठकों से पत्रिका के प्रकाशन में लापरवाही बरतने की शिकायत और पुनर्प्रकाशन के आग्रह भरे पत्र लगातार मिलते रहे हैं। ऐसे पत्रों की संख्या कई दर्ज़न होगी। इससे यह साबित हो जाता है कि 'दायित्वबोध' किस हद तक अपने पाठकों के लिए ज़रूरी बन चुकी है और इसे उनका कितना स्नेह प्राप्त है।

इस दौरान कागज़ और छपाई की कीमतों में काफ़ी वृद्धि के कारण पहले की ही क़ीमत पर 'दायित्वबोध' उपलब्ध करा पाना संभव नहीं है, फिर भी हमने पत्रिका का मूल्य बढ़ाने के बजाय बीस रुपये बनाये रखने का निर्णय लिया है। इससे होने वाले घाटे को पूरा करने के लिए हम पत्रिका के तमाम शुभचिन्तकों और इसे नितान्त ज़रूरी पत्रिका मानने वाले पाठकों से कुछ अतिरिक्त सहयोग जुटायेंगे। हमारी आपसे पुरज़ोर अपील है कि 'दायित्वबोध' के लिए आप यथासम्भव, अधिक से अधिक अतिरिक्त सहयोग भेजें और भिजवायें। आप वार्षिक सदस्यताएँ और विज्ञापन जुटाकर भी हमारा सहयोग कर सकते हैं। हालाँकि अपने और अन्य बिरादर पत्रिकाओं के सम्पादकों के अनुभवों को देखते हुए यह कठिन लगता है, लेकिन फिर भी हमारी कोशिश रहेगी कि हम कालान्तर में एक ऐसा स्थायी कोष निर्मित कर लें, जिससे पत्रिका के हर अंक पर होने वाले आर्थिक घाटे की क्षतिपूर्ति की जा सके। आप हमें लिखें। आपका पत्र मिलने पर हम सदस्यता-कूपन, सहयोग-कूपन, विज्ञापन-आवेदन हेतु आवश्यक पत्रादि आप तक भेज देंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जिन मित्रों की वार्षिक सदस्यता राशि समाप्त हो चुकी है या होने के क़रीब है, वे अविलम्ब धनादेश/डिमाण्ड ड्राफ्ट/चेक भेज दें।

एक और ज़रूरी आग्रह। आप अपने शहर या इलाके के शिक्षण-संस्थानों के पुस्तकालयों और अन्य सार्वजनिक पुस्तकालयों में 'दायित्वबोध' की सदस्यता दिलवाने की विशेष तौर पर कोशिश करें। इससे पत्रिका के पाठक-समुदाय का परिधि-विस्तार होगा। पत्रिका में प्रकाशित गंभीर वैचारिक और बहसतलब सामग्री पर विचार-गोष्ठियाँ भी आयोजित करें और उनकी रपट हमें अवश्य भेजें।

पत्रिका की सामग्री पर अपने विचार ज़रूर लिखें, हो सके तो विस्तार से।

जिन मित्रों को सदस्यता-राशि भेजने के बावजूद पत्रिका नहीं मिल रही है, वे अपना पूरा पता, सदस्यता राशि भेजने की तिथि तथा ज़रिया एक बार फिर हमें लिख भेजें। यदि किन्हीं मित्र के पत्र व्यवहार का पता इस बीच बदल गया हो, तो वे हमें अवश्य सूचित कर दें।

'दायित्वबोध' का सम्पादकीय पता भी इस बीच बदल गया है। इस पर ग़ौर कीजियेगा और नया सम्पादकीय पता दर्ज़ कर लीजियेगा।

'दायित्वबोध' के कुछ पुराने पाठक और ज़िम्मेदार शुभचिन्तक ही अधिकांशतः पत्रिका के वितरक का भी काम करते रहे हैं। ऐसे सभी साथियों से आग्रह है कि वे पत्रिका के प्रसार के लिए एक बार फिर नये सिरे से प्रयास करें। कुछ ऐसे साथियों के पास पिछले अंकों की बिक्री की कुछ बकाया राशि भी पड़ी हुई है। उसे, जितनी जल्दी हो सके, जोड़-जुगाड़कर भेज दीजिये।

हार्दिक क्रान्तिकारी अभिवादन एवं शुभकामनाओं के साथ

-- सम्पादक मण्डल

अपनी बात

निठारी के बहाने पूँजीवाद की सभ्यता-समीक्षा

निठारी देश के मेहनतकश अवाम की बेबसी और और उसके अभिशप्त जीवन की एक त्रासद गाथा ही नहीं है। यह केवल किसी विलासी धनपशु और उसके मनोरोगी नौकर की असामान्य करतूत या पूँजीवादी अमानवीयता की कोई आम तस्वीर भी नहीं है। यह नीरोकालीन रोमन साम्राज्य की चरम पतनशीलता और पाम्पेई की विलासिता की तस्वीर है। यह पूँजीवादी सभ्यता की ह्रासकथा है। कुतुबनुमा बता रहा है कि पूँजीवादी सभ्यता का जहाज़ एक ऐसे भँवर में फँस चुका है जहाँ उसे डूबने से कोई नहीं बचा सकता।

नोएडा सेक्टर-31 की खूनी कोठी नं. 5 का लोमहर्षक सच जब सामने आया उस समय समूची दुनिया के पूँजीवादी अभिजन समाज पर नये साल का सुरूर चढ़ा हुआ था। जगमगाते मॉलों-मल्टीप्लेक्सों, पंचतारा होटलों, शैम्पेन की फुहारों, ऐश्वर्य और आनन्दातिरेक में डूबे साफ़-शफ़्फ़ाक चेहरों के बीच एक स्याह धब्बा उभरता है -- निठारी! नरकंकालों के ढेर, चीखते-चिग्घाड़ते, आँखों से अंगारे बरसाते मेहनतकश पुरुष और स्त्रियाँ, उन पर लाठियाँ बरसाती खाकी वर्दी! मानवीय पीड़ा-व्यथा, बेबसी और आँसुओं के अथाह महासागर के बीच खड़ी वैभव और विलासिता की मीनारें -- क्या यह रोमन साम्राज्य के पश्चिमी और पूर्वी हिस्सों के अन्तरविरोधी यथार्थ की याद नहीं दिलाता जिनकी टकराहटों से रोमन सभ्यता का सर्वनाश हो गया था? आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता भी आज पतन के इसी मुकाम पर आ खड़ी हुई है।

पूँजीवाद की भूमण्डल व्यापी बर्बरता और उसकी अमानवीयता की आम तस्वीरें हम रोज़-रोज़ देख रहे हैं। इराक-अफ़गानिस्तान-फिलस्तीन से लेकर इथियोपिया-सोमालिया तक युद्धविध्वस्त धरती, विनष्ट होती अकूत सामाजिक सम्पदा और क्षत-विक्षत मानवता, भूख-कुपोषण-बीमारी-बेकारी से हो रही अनगिन मौतें, अपनी जगह-ज़मीन, रोज़ी-रोटी से बेदख़ल की जा रही अगणित आबादी, सामूहिक आत्महत्याएँ, ज़िन्दा रहने के लिए अपना ख़ून और गुर्दा बेचते ग़रीब-मज़लूम, जिस्म का सौदा करती मजबूर स्त्रियाँ और बेसहारा बुढ़ापा -- पूँजीवादी विभीषिका की ये आम तस्वीरें हैं। हमने गुजरात में धर्मध्वजाधारियों की बर्बरताएँ भी देखी हैं। देशी-विदेशी पूँजी की हिफ़ाज़त में उठी लाठियाँ और बरसती गोलियाँ भी हम आये दिन देखते ही रहते हैं। लेकिन निठारी का जो सच सामने आया है वह इन सबसे बिल्कुल अलग है। निठारी ने हमारे सामने यह सच्चाई उजागर की है कि विश्व पूँजीवाद के इस नये पतनशील दौर में हमारे समाज में चरम विलासिता और चरम भोग में डूबा हुआ एक ऐसा नव-धनी तबका पैदा हो चुका है जो मनुष्यता की सारी शर्तों को खो चुका है।

देश के पूँजीवादी राज्य-तंत्र और समाज के इसी अमानवीय परिवेश में एक नया पूँजीवादी कुलीन वर्ग तेज़ी से फल-फूल रहा है जिसे न तो पुलिस-कानून-न्याय का ख़ौफ़ है और न ही कोई सामाजिक भय। इसके लिए मानवीय श्रम द्वारा उत्पादित माल ही नहीं स्वयं मनुष्य और समूची प्रकृति भी केवल इस्तेमाल करने, भकोसने और चबाने के लिए है। भूमण्डलीकरण के इसी मानवद्रोही सामाजिक-सांस्कृतिक मानचित्र पर उभरकर हमारे सामने आता है, निठारी! पूँजीवादी सभ्यता की चरम पतनशीलता का एक प्रतीक!

राजधानी दिल्ली से चन्द किलोमीटर दूर बसी औद्योगिक नगरी नोएडा में लम्बे समय से दर्ज़नों बच्चे ग़ायब होते रहे, एक धनपशु की कोठी में उनके साथ पाशविक दुराचार किया जाता रहा, उनके अंगों को काटकर बेचा जाता रहा, नरमांस भूनकर खाया जाता रहा, लेकिन देश की संसद मौन रही, 'ख़बरों से आगे' रहने का दम भरने वाले मीडिया को कानों-कान ख़बर तक नहीं लगी। इस बीच 'जन-गण मन के अधिनायक' देश को महाशक्ति बनाने का सब्ज़बाग दिखाते रहे, भाग्य विधाता 'मुस्कुराते हुए विकास' के आँकड़ों की नुमाइश करते रहे। ये उन्हीं प्रवासी मेहनतकशों के बच्चे थे जिनके खून-पसीने-अस्थिमज्जा को इस उद्योग नगरी की जेलनुमा चारदीवारियों के भीतर सिक्कों में ढाला जाता है या जो 'भूरे साहबों' की कोठियों में जाकर उनकी सेवा-टहल करते हैं। अपने बच्चों की गुमशुदगी की शिकायत लेकर जब ये स्थानीय पुलिस थाने में जाते थे तो उन्हें दर्ज करना तो दूर, डरा-धमका और अपमानित कर भगा दिया जाता था। यह वही नोएडा है जहाँ कुछ महीने पहले एक मल्टीनेशनल कम्पनी के आला अफ़सर का बेटा जब अपहृत हुआ था तो समूचा शासन-प्रशासन एक टाँग पर खड़ा हो गया था, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पल-पल की खबरें दे रहा था और प्रदेश सरकार का एक मंत्री सान्त्वना देने उस अफ़सर के घर पहुँच गया था। लेकिन वे अभागे बच्चे तो फटेहाल

मेहनतकशों के थे जिनकी जान की क़ीमत इन कुलीनों के लिए कीड़ों-मकोड़ों से अधिक नहीं है। सब कुछ जानते हुए भी 'खाकी वर्दीधारियों का संगठित गिरोह' उस धनपशु के कुकर्मों से आँखें मूँद लेने के लिए भारी रकम वसूलता रहा। इतना ही नहीं, सत्ता-तंत्र से जुड़े सफ़ेदपोश भी उसे पुलिस के चंगुल से बचाने के लिए थाने में फोन की घण्टियाँ घनघनाते रहे। नहीं, निठारी की घटना कोई आम घटना नहीं, यह पूँजीवादी सभ्यता की चरम पतनशीलता को उजागर करने वाली एक प्रतीक घटना है।

हालाँकि, सच यह भी है कि पूँजीवादी सभ्यता की समूची यात्रा ही इन्सानी ख़ून और हड्डियों के बीच से गुज़रती हुई इस मुक़ाम तक पहुँची है। सामाजिक श्रम एवं प्राकृतिक सम्पदा की लूटमार और दोहन, बर्बर क़त्लेआम और विभिन्न किस्म के सामाजिक एवं राष्ट्रीय अपराधों के एक से बढ़कर ख़ूनी अध्याय तो इसने अपनी यात्रा की शुरुआती मंज़िलों में ही लिख डाले थे। विश्व पूँजीवाद के इस आरम्भिक दौर में यूरोप में बच्चों एवं स्त्रियों के शोषण की लोमहर्षक दास्तान कार्ल मार्क्स ने 'पूँजी' के प्रथम खण्ड में लिपिबद्ध की है। लेकिन इसकी चरम पतनशीलता की प्रातिनिधिक प्रवृत्तियाँ 1930 की महामन्दी के बाद फासिज़्म के दौर में उभरकर सामने आयी थीं। इस समय पूँजीवाद अपने बुढ़ापे की अवस्था -- साम्राज्यवाद की अवस्था में प्रवेश कर चुका था। साम्राज्यवादी लुटेरों के बीच दुनिया के बाज़ारों और कच्चे माल के स्रोतों पर कब्ज़ा जमाने की गलाकाटू होड़ ने दूसरे विश्व युद्ध को जन्म दिया जिसमें करोड़ों लोग मारे गये और अपंग बना दिये गये। अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने हिरोशिमा-नागासाकी पर बम गिराकर जो विनाशलीला रची उससे मानवता थर्रा उठी थी। लेकिन नाज़ी बर्बरों ने जो जघन्य कारनामे अंजाम दिये वे पूँजीवादी सभ्यता की चरम पतनशीलता की प्रतिनिधि घटनाएँ थीं। नाज़ी यातना शिविरों में लाखों यहूदियों और कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को जिस तरह तड़पा-तड़पा कर मारा गया उनकी याद भी रोम-रोम में सिहरन पैदा कर देती है। इन शिविरों में नाज़ियों ने मनुष्यों को यातना देने और क़त्ल करने के ऐसे-ऐसे तरीक़े ईजाद किये कि उनकी चर्चा भी आत्मा में झुरझुरी पैदा कर देती है। गैस चैम्बरों में ज़हरीली गैसों से दम घुट-घुटकर मरते लोग, कँटीली बाड़ों के पीछे भूखे-प्यासे ढाँचा बन चुके लोगों के हुजूम, बेबस-बलात्कृत स्त्रियाँ, माँ के एक बूँद दूध के लिए चिग्घाड़ते नवजात शिशु और इन सबके बीच पिस्तौल-हण्टर लिये घूमते नाज़ी अफ़सर जिनके चेहरों पर शिकन की एक लक़ीर तक नहीं। उल्टे वे इस गर्वबोध से भरे रहते थे कि उन्हें फ़्यूहरर के आदेश पर आर्य नस्ल के इस 'शुद्धीकरण अभियान' में शामिल होने का महान अवसर मिला है।

जर्मन एकाधिकारी पूँजी के राज्य तंत्र की इन बर्बरताओं के साथ ही उस समय समूचे यूरोपीय और अमेरिकी समाज को चरम मानवद्रोही प्रवृत्तियों ने अपनी चपेट में ले लिया था। दर्शन-कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में मानवता के उज्ज्वल भविष्य की कामनाओं और स्वप्नों के स्थान पर मनुष्यता के अन्धकार युग की विरुदावलियों और चरम निराशावाद का बोलबाला था। मानवीय उदात्तता के स्थान पर मानवीय तुच्छताओं को प्रतिष्ठापित करते हुए 'तुच्छताओं का सौन्दर्यशास्त्र' रचा जाने लगा। गहन अवसाद और अकेलेपन में डूबे फिलिस्टाइन बुद्धिजीवी ने घोषणा कर डाली कि "हमारा समय बड़े-बड़े कार्यभारों का समय नहीं है। भविष्य के प्रति पूर्ण अनास्थाशील, आत्म-अलगाव और आत्मरति का शिकार यह फिलिस्टाइन पाशविक आनन्द में डूब गया। इसे सिद्धान्त का जामा पहनाते हुए उसने ऐलान कर डाला कि "मनुष्य को पशु बनकर सरलता प्राप्त करनी चाहिए।" "नैतिक नरभक्षण" में लिप्त इस फिलिस्टाइन की आत्मिक बंजरता के बारे में गोर्की ने लिखा था,

"फिलिस्टाइन कालातीत हो चुकी सच्चाइयों के क़ब्रिस्तान का एक जराजीर्ण रात्रिकालीन प्रहरी बन चुका है और जो स्वयं ही इतना अशक्त है कि न तो अपने काल की सीमा लाँघकर, जो अतिजीवी के रूप में बचा हुआ है, उसमें पुनः प्राणप्रतिष्ठा कर सकता है और न कुछ ऐसा सृजित कर सकता है जो नवीन हो।"

1930 की महामन्दी के बाद शुरू हुई यूरोप और अमेरिका के बौद्धिक समाज की यह चारित्रिक नैतिक-आत्मिक अधोगति यहीं थमी नहीं रही। थम भी नहीं सकती थी क्योंकि विश्व पूँजीवाद के जिन संकटों के भौतिक आधार पर राज्य-तंत्र और समूचे समाज में बर्बरता और पतनशीलता की ये प्रातिनिधिक प्रवृत्तियाँ पैदा हुई थीं वह बीच-बीच की तात्कालिक राहतों के बावजूद और अधिक गहराता चला गया है।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विध्वस्त जापान और यूरोप के पुनर्निर्माण के दौर में विश्व पूँजीवादी अर्थतंत्र में जो उछाल दिखायी दी थी वह बेहद तात्कालिक साबित हुई। अमेरिकी साम्राज्यवाद की आइज़ेनहावर कालीन "भव्यता" और कैनेडीकालीन "उल्लास" ज़्यादा दिन टिका न रह सका। विगत शताब्दी का सातवां दशक खत्म होते-होते विश्व पूँजीवाद के संकट उन्मादी रूप में वापस लौट आये। असाध्य रोग से मृत्युशय्या पर पड़े मरीज़ की तरह साम्राज्यवादी तंत्र थोड़ा सम्भलता है पर तत्काल उससे भी गहरी बीमारी में जा धँसता

पूँजीवादी समाजों का कुलीन तबका अपने ऐश्वर्य का अश्लील प्रदर्शन करता हुआ आज चरम विलासिता और चरम भोग में डूबा हुआ हाँफ रहा है। सनक और उन्माद भरे नृत्य-गान, कार्निवाल एवं विचित्र-वीभत्स खेल-कूदों के आयोजनों से अब उसे तुष्टि नहीं मिल रही है। इस अभिजन समाज के बीच कौटुम्बिक व्याभिचार तो पहले ही चलन में आ चुके थे। इनका आत्मिक खोखलापन अब जीवन की ऊब और नीरसता को दूर करने के लिये पाशविक आनन्द की नयी-नयी तरक़ीबों को आज़माने के लिये उकसाता रहता है। ...

है। भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर ने भी उसे बेहद तात्कालिक राहत ही दी है। इस दौर में अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की प्रकृति और कार्यप्रणाली में आये कुछ महत्वपूर्ण बदलावों के बावजूद साम्राज्यवाद आज पहले से भी अधिक जराजीर्ण और परजीवी हो चुका है। आज उसकी जो भी शक्तिमत्ता दिखायी दे रही है वह मुख्यतः विश्व स्तर पर क्रान्तिकारी सर्वहारा शक्तियों की कमज़ोरी के कारण है। अभूतपूर्ण विपर्यय और पूँजीवादी पुनरुत्थान के इस दौर में क्रान्ति की लहर पर प्रतिक्रान्ति की लहर के अभी भी हावी होने और इस अवधि के लम्बा खिंचने का मुख्य कारण यह है कि सर्वहारा क्रान्ति की हरावल शक्तियाँ विश्व स्तर पर पहले चक्र की क्रान्तियों के समाहार का काम अभी भी पूरा नहीं कर सकी हैं। विश्व सर्वहारा क्रान्तियों का नया चक्र तब तक शुरू नहीं हो सकता जब तक सर्वहारा के हरावल "अतीत सम्बन्धी अपने मूढ़ विश्वासों" से छुटकारा नहीं पा लेते। जब विश्वस्तर पर सर्वहारा के हरावल यह समझ लेंगे कि ज़रूरत "एक बार फिर क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने" की है, न कि उसकी प्रेतात्मा से मोहाविष्ट होने की तो फिर विश्व पूँजी के दुर्गों पर फैसलाकुन प्रहार की शुरुआत होने में देर नहीं लगेगी। तब तक विश्व पूँजीवादी तंत्र भूमण्डलीकरण की संजीवनी-बूटी से जवानी लौट आने का भ्रम प्रदर्शित करता रह सकता है। हालांकि ऐसा भी नहीं है कि वैश्विक वित्तीय पूँजी का यह 'विजयाभियान' एकदम प्रतिरोधहीन रहा है। क्रान्तिकारी हरावलों की कमज़ोर स्थिति के बावजूद जनता की लड़ाइयों और स्वतःस्फूर्त बग़ावतों का सिलसिला इस दौर में भी जारी रहा है। यह अनायास नहीं है कि 1990 के दशक में पश्चिम पूँजीवादी दुनिया में विश्व पूँजीवाद के नवजीवन के बारे में जो उल्लसित किलकारियाँ सुनायी दे रही थीं वे नयी सदी आते-आते गले की घुरघुराहटें बन चुकी हैं।

विश्व पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की इस पतन-यात्रा के समान्तर उसकी विचार-यात्रा भी चलती रही है। पश्चिमी विचार-यात्रा की जो पतनगाथा उन्नीसवीं सदी के अन्त में नीत्शे से शुरू हुई थी -- वह बीसवीं सदी में स्पेंग्लर-टायनबी से होते हुए 'वित्तीय पूँजी की अन्तिम विजय' के मिथ्याभास के बीच आज फ्रांसिस फ़ुकोयामा जैसों तक पहुँचकर निर्वाण को प्राप्त हो चुकी है। अब उसके पास मानवता को देने के लिए "अन्त" के दर्शन के सिवा कुछ नहीं बचा है। दरअसल, आज विश्व-पूँजीवाद को अपनी अवश्यंभावी मृत्यु का पूर्वाभास हो गया है और वह भयाक्रान्त होकर मानव सभ्यता के ही अन्त की घोषणाएँ कर रहा है। यह हाल तब है जब अभी विश्व सर्वहारा उसके दुर्गों पर निर्णायक हमला बोलने के लिए ठीक से तैयार भी नहीं हो सका है। आगे क्या हाल होगा इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। क्या भूमण्डलीकरण के इस दौर में पूँजीवादी सभ्यता का नया फिलिस्टाइन "पशुवत सरलता" प्राप्त करने की खोज में बुनियादी मानवीय सहजवृत्तियों को पूरी तरह खो बैठेगा?

संकेत तो कुछ ऐसे ही मिल रहे हैं। पश्चिमी पूँजीवादी समाजों का कुलीन तबका अपने ऐश्वर्य का अश्लील प्रदर्शन करता हुआ आज चरम विलासिता और चरम भोग में डूबा हुआ हाँफ रहा है। सनक और उन्माद भरे नृत्य-गान, कार्निवाल एवं विचित्र-वीभत्स खेल-कूदों के आयोजनों से अब उसे तुष्टि नहीं मिल रही है। इस अभिजन समाज के बीच कौटुम्बिक व्याभिचार तो पहले ही चलन में आ चुके थे। इनका आत्मिक खोखलापन अब जीवन की ऊब और नीरसता को दूर करने के लिए पाशविक आनन्द की नयी-नयी तरक़ीबों को आज़माने के लिए उकसाता रहता है। अब इनकी सारी सर्जनात्मकता सामूहिक यौन-क्रियाओं के नये-नये रूपों की ईजाद करने और मनुष्य की आदिम वृत्तियों की अनुभूतियों का सन्धान करने में ही चुक जा रही है। इस सबके बाद जब निरर्थकता बोध सालने लगता है तो उसकी पापात्मा प्रायश्चित के लिए बेचैन हो उठती है और वह किसिम-किसिम के रहस्यमय धार्मिक पन्थों और कबीलाई जीवन के टोने-टोटकों की शरण में जा पहुँचता है।

... अब इनकी सारी सर्जनात्मकता सामूहिक यौन-क्रियाओं के नये-नये रूपों की ईजाद करने और मनुष्य की आदिम वृत्तियों की अनुभूतियों का सन्धान करने में ही चुक जा रही है। इस सबके बाद जब निरर्थकता बोध सालने लगता है तो उसकी पापात्मा प्रायश्चित के लिये बेचैन हो उठती है और वह किसिम-किसिम के रहस्यमय धार्मिक पन्थों और कबीलाई जीवन के टोने-टोटकों की शरण में जा पहुँचता है।

हालीवुड का सिनेमा आज की पूँजीवादी सभ्यता और संस्कृति की पतनशीलता को प्रातिनिधिक रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। एक ओर 'बेसिक इंस्टिंकट' जैसी फिल्में हैं जो मनुष्य की आदिम वृत्तियों और लालसाओं का पुनराविष्कार कर रही हैं तो दूसरी ओर 'जुरासिक पार्क' जैसी फिल्में जो जुरासिक युग के हिंस्त्र वन्य जीवों को कम्प्यूटर के ज़रिये पुनर्सृजित कर भयानक रस के "नये-नये आयामों" को उद्घाटित कर रही हैं। प्रकृति से छेड़छाड़ न करने के मसीही उपदेश देते हुए ये फिल्में उन मानवद्रोही सामाजिक शक्तियों से लोगों का ध्यान हटाने की कोशिश कर रही हैं जो विज्ञान और तकनोलॉजी को मानवता के बजाय मुनाफ़े की सेवा में लगाये रखना चाहती हैं। इन सबके बीच 'सी' ग्रेड वाली फिल्मों का कचरा भी भारी मात्रा में उत्पादित किया जाता है जिन्हें थोक के भाव तीसरी दुनिया के "बन्द समाजों" के बाज़ारों में निर्यात किया जा रहा है। सांस्कृतिक अधःपतन की हालत आज वहाँ पहुँच चुकी है कि सिनेमा और मॉडलिंग की दुनिया से जुड़ी अनेक अभिनेत्रियाँ नारी मुक्ति की मिथ्या पूँजीवादी चेतना में जीती हुई अपनी समूची मानवीय गरिमा

को ही खो बैठी हैं। पूँजीवादी सभ्यता की ये अभिशप्त स्त्रियाँ "पीले शैतान" के वशीभूत होकर स्त्री देह और यौन क्रियाओं के सार्वजनिक प्रदर्शन में वहाँ तक जा पहुँची हैं कि मानवीय निजता की सारी चौहद्दियाँ ध्वस्त हो चुकी हैं। अब शायद भूमण्डलीकरण के दौर के फिलिस्टाइन को निर्वाण प्राप्त हो जाये।

पूँजीवादी सभ्यता और संस्कृति की यह पतनगाथा अब पश्चिम की चौहद्दी तक सीमित नहीं रह गयी है। अब इसका भी भूमण्डलीकरण हो गया है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के विश्वव्यापी संजाल ने पश्चिमी पूँजीवादी सांस्कृतिक कचरे और नैतिक सड़ाँध को समूचे भूमण्डल पर फैला दिया है। भारत, ब्राज़ील, मेक्सिको, इण्डोनेशिया, मलेशिया जैसे देश जो अपने बुनियादी-अवरचनागत ढाँचे और वैविध्यपूर्ण अर्थव्यवस्थाओं के नाते विश्व सर्वहारा क्रान्तियों के नये संस्करणों की ज़मीन हैं, सांस्कृतिक पतनशीलता के विषवृक्ष के फलने-फूलने के लिए भी अनुकूल ज़मीन मुहैय्या करा रहे हैं। इन देशों के पूँजीपति वर्ग ने साम्राज्यवादी पूँजी और उसके भौतिक उत्पादों के साथ ही साम्राज्यवादी सांस्कृतिक उत्पादों के लिए भी दरवाज़े पूरी तरह खोल दिये हैं। साम्राज्यवादी कचरा साहित्य हो या हालीवुड सिनेमा और टी.वी. के सड़े हुए सांस्कृतिक माल, इन सबकी अगवानी के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग भी बाँहें पसारे खड़ा है। भूमण्डलीकरण की नीतियों के तहत एक ओर देश में उजरती ग़ुलामों की पीड़ा-व्यथा के महासागरों का निर्माण हो रहा है तो दूसरी ओर पतित पूँजीवादी-साम्राज्यवादी संस्कृति के मरुस्थलों और बदबूदार दलदलों का प्रसार भी तेज़ी के साथ हो रहा है।

पश्चिमी पूँजीवाद की भौतिक-आत्मिक संस्कृति की चरम पतनशीलता की जो तस्वीर ऊपर खींची गय है उसका कैनवास विस्तारित होकर अब भारतीय समाज को भी अपनी ज़द में ले चुका है। लोभ-लालच, और पाशविक इन्द्रिय भोग, अन्धी स्वार्थपरता, गलाकाटू होड़, बीमार और बनैले किस्म का व्यक्तिवाद, सामाजिक संवेदनहीनता और भीषण अलगाव की संस्कृति आज भारतीय समाज के सांस्कृतिक जीवन में व्याप्त हो चुकी है। 'महान भारतीय मध्य वर्ग' आज पतित पूँजीवादी सांस्कृतिक उत्पादों का सबसे बड़ा और उत्साही उपभोक्ता बन चुका है। इसके साथ ही सामन्ती अतर्कपरकता, मध्ययुगीन बर्बरता एवं जनवाद के मूल्यों के प्रति घोर अवमानना की संस्कृति भी कोढ़ में खाज की तरह हमारे समाज में अभी भी बनी हुई है। इसी हिंस्र सांस्कृतिक परिवेश में बच्चों, स्त्रियों और दलितों के ख़िलाफ़ होने वाले सामाजिक अपराधों की बाढ़-सी आ गयी है।

लोभ-लालच, और पाशविक इन्द्रिय भोग, अन्धी स्वार्थपरता, गलाकाटू होड़, बीमार और बनैले किस्म का व्यक्तिवाद, सामाजिक संवेदनहीनता और भीषण अलगाव की संस्कृति आज भारतीय समाज के सांस्कृतिक जीवन में व्याप्त हो चुकी है। 'महान भारतीय मध्य वर्ग' आज पतित पूँजीवादी सांस्कृतिक उत्पादों का सबसे बड़ा और उत्साही उपभोक्ता बन चुका है। इसके साथ ही सामन्ती अतर्कपरकता, मध्ययुगीन बर्बरता एवं जनवाद के मूल्यों के प्रति घोर अवमानना की संस्कृति भी कोढ़ में खाज की तरह हमारे समाज में अभी भी बनी हुई है। इसी हिंस्र सांस्कृतिक परिवेश में बच्चों, स्त्रियों और दलितों के ख़िलाफ़ होने वाले सामाजिक अपराधों की बाढ़-सी आ गयी है।

जैसे-जैसे वित्तीय पूँजी के ऑक्टोपसी पंजे भारतीय समाज के समूचे आर्थिक जीवन को अपनी जकड़ में कसते जा रहे हैं वैसे-वैसे बुर्जुआ राज्य-तंत्र और बुर्जुआ राजनीति का चरित्र भी घोर जनविरोधी और निरंकुश-दमनकारी होता जा रहा है। बुर्जुआ राजनीतिक संस्कृति का पतन आज उस मुकाम पर पहुँच चुका है कि राजनीतिक दलों और अपराधियों के संगठित गिरोहों का फर्क मिटता जा रहा है। घोर संवेदनहीन नौकरशाही ठगों-रहज़नों का संगठित गिरोह बन चुकी है और राज्य-तंत्र का हथियारबन्द दस्ता -- पुलिस-अर्द्धसैनिक बल और फौज -- बुर्जुआ वर्ग की हिफ़ाज़त में अपने खूनी दाँत और शिकारी पंजे निकालकर खुले रूप में सामने आ गया है। और बुर्जुआ न्यायपालिका -- बुर्जुआ जनवाद की पवित्रतम संस्था -- भी निष्पक्षता के मुखौटे को हटाकर निर्लज्जता के साथ देशी-विदेशी पूँजी की हिफ़ाज़त की वास्तविक भूमिका में आ चुकी है।

देश के पूँजीवादी राज्य-तंत्र और समाज के इसी अमानवीय परिवेश में एक नया पूँजीवादी कुलीन वर्ग तेज़ी से फल-फूल रहा है जिसे न तो पुलिस-कानून-न्याय का ख़ौफ़ है और न ही कोई सामाजिक भय। इसके लिए मानवीय श्रम द्वारा उत्पादित माल ही नहीं स्वयं मनुष्य और समूची प्रकृति भी केवल इस्तेमाल करने, भकोसने और चबाने के लिए है। भूमण्डलीकरण के इसी मानवद्रोही सामाजिक-सांस्कृतिक मानचित्र पर उभरकर हमारे सामने आता है, निठारी! पूँजीवादी सभ्यता की चरम पतनशीलता का एक प्रतीक! साफ़ नज़र आ रहा है कि पूँजीपति वर्ग आज शब्दशः मनुष्यता की शर्तों को खो चुका है। यह अमानुषिक जमात आज अधिशेष निचोड़ने से बचे हुए समय में अपनी चरम विलासिता और चरम भोग की लालसा को शान्त करने के लिए मनुष्यता को, समस्त मानवीय मूल्यों को ही निचोड़ डाल रही है। ये लोग हर हाल में इन स्थितियों को बचाये रखना चाहते हैं। दूसरी तरफ़ है सर्वहारा वर्ग। पूँजीपति वर्ग ने इसे भी निचोड़कर समस्त भौतिक-आत्मिक सम्पदा से रिक्त बना डाला है और इससे भी मनुष्यता की सारी शर्तें छीन ली हैं। लेकिन यह वर्ग इन स्थितियों के ख़िलाफ़ अवश्य ही बग़ावत करेगा क्योंकि यह इसके अस्तित्व की शर्त है।

हमारे समाज में पसरी इस अमानवीयता और नैतिक सड़ाँध के बीच बुद्धिजीवी वर्ग कहाँ है? वह अभी भी हताश-निराश, पूरी तरह इच्छाशक्तिविहीन होकर तन्द्रा में पड़ा हुआ है। निठारी जैसी घटना पर भी वह बस कुनमुना कर, आह-कराह निकाल कर रह गया। इसी तरह, गुजरात नरसंहार पर भी वह मरसिये

गाकर, छत पर खड़े होकर मानवता को बचाने की खोखली चीख़पुकार मचाकर अपने अध्ययन कक्षों में दुबक गया था। इतिहास गवाह है कि जब बुद्धिजीवी सोते रहते हैं, निष्क्रिय पड़े रहते हैं तो अलेक्ज़ाण्ड्रिया के पुस्तकालय जलाने जैसी घटनाएँ सामने आती हैं। ये सभ्यता के अवनति काल की प्रतीक घटनाएँ हैं। लेकिन हमारा बुद्धिजीवी वर्ग अभी क़ुतुबनुमा का इशारा नहीं पढ़ पा रहा है। एक ओर हमारा वह नवफिलिस्टाइन है जो स्त्री-देह के इतिहास-भूगोल में भटकता हुआ 'पशुवत सरलता' के निकट जाने या 'छोटी चीज़ों का ख़ुदा' तलाशने में जुटा हुआ है। और दूसरी ओर वह मानवतावादी-उदारवादी है जो इतिहास का पिछवाड़ा देखने में मगन है। वर्तमान की बर्बरता का विकल्प 'भविष्य की कविता में' तलाशने के बजाय वह अतीत की रागात्मक स्मृतियों का शरणागत हो चुका है। अरे भद्रजन! जब संस्कृतिद्रोही पूँजीवाद अलेक्ज़ाण्ड्रिया के पुस्तकालय और बामियान की प्रतिमाओं की तरह देश की सांस्कृतिक निधियों को भी नष्ट करना शुरू कर देगा तब जागने से क्या होगा?

पूँजीवादी सभ्यता और संस्कृति के इस अवनति काल में भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के तहत पिछले डेढ़ दशक में हमारे देश में महानगरीय जीवन का एक नया भू-सांस्कृतिक मानचित्र निर्मित हुआ है। गाँवों में वित्तीय पूँजी की घुसपैठ तेज़ होने के साथ ही भारी संख्या में ग़रीब किसान आबादी अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर रोज़ी-रोटी की तलाश में औद्योगिक महानगरों की ओर भाग रही है। दिल्ली सहित अकेले राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले नोएडा-ग़ाज़ियाबाद-साहिबाबाद, गुड़गाँव-फ़रीदाबाद जैसे औद्योगिक महानगरों-उपनगरों में एक करोड़ से अधिक मज़दूरों की आबादी रहती है। ये मज़दूर ज्यादातर कैज़ुअल, ठेका या दिहाड़ी पर लगातार 16-18 घण्टे काम करने के बाद भी बमुश्किल-तमाम इतना कमा पा रहे हैं कि ज़िन्दा रह सकें और मालिक का मुनाफ़ा बढ़ाते रह सकें। चमचमाती सड़कों और जगमगाती कोठियों की पृष्ठभूमि में बजबजाती नालियों, गन्दगी के अम्बार और दुर्गन्ध भरे वातावरण के बीच बसी झुग्गियों और लॉजों में ये मज़दूर जीवन का एक-एक दिन घिस रहे हैं। मज़दूरों की रिहाइश की ये जगहें महानगरीय खूबसूरती के बीच उभरे वे 'बदनुमा दाग़' हैं जिन्हें देखकर महानगरीय कुलीन ही नहीं आम मध्यवर्गीय लोग भी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। महानगरीय कुलीनों की बिरादरी के मन में इस मेहनतकश आबादी के प्रति कितनी प्रचण्ड नफ़रत भरी हुई है इसे खुशवन्त सिंह के एक बयान से समझा जा सकता है। आज से दस-बारह साल पहले इस बूढ़े-विलासी-पियक्कड़ बौद्धिक लम्पट ने कुलीनों की एक सभा में इन असभ्य देहातियों से दिल्ली को छुटकारा दिलाने के लिए किसी 'सेलेक्टिव एपिडेमिक' फैलने या भारत-पाकिस्तान के बीच ऐसे युद्ध की कामना की थी जिसमें इन झुग्गियों पर परमाणु बम गिर जाये और उनका नामोनिशान मिट जाये।

इस अमानवीयता और नैतिक सड़ाँध के बीच बुद्धिजीवी वर्ग कहाँ है? वह अभी भी हताश-निराश, पूरी तरह इच्छाशक्तिविहीन होकर तन्द्रा में पड़ा हुआ है। निठारी जैसी घटना पर भी वह बस कुनमुना कर, आह-कराह निकाल कर रह गया। ...ये सभ्यता के अवनति काल की प्रतीक घटनाएँ हैं। लेकिन हमारा बुद्धिजीवी वर्ग अभी कुतुबनुमा का इशारा नहीं पढ़ पा रहा है। एक ओर हमारा वह नवफिलिस्टाइन है जो स्त्री-देह के इतिहास-भूगोल में भटकता हुआ 'पशुवत सरलता' के निकट जाने या 'छोटी चीज़ों का ख़ुदा' तलाशने में जुटा हुआ है। और दूसरी ओर वह मानवतावादी-उदारवादी है जो इतिहास का पिछवाड़ा देखने में मगन है।

इसी महानगरीय संवेदनहीनता, भीषण सामाजिक अलगाव और चरम मानवद्रोही सांस्कृतिक परिवेश के बीच मेहनतकशों के अभिशप्त जीवन का क्रिया-व्यापार भी जारी रहता है। सड़कों पर भीड़ में खोये गुमनाम लोग अदृश्य छायाओं की तरह डोलते रहते हैं। पहले कालिख और ग्रीज़ से पुते इनके चेहरे महानगरीय कुलीनों के मूड-मिज़ाज को ख़राब कर देते थे, इसलिए अब उन्हें उजाड़ा जा रहा है, दर-ब-दर किया जा रहा है, महानगरों की बाहरी परिधियों पर फेंका जा रहा है। उन्हें इस तरह बिखरा दिया जा रहा है कि वे एक साथ दिखायी न दें। एक साथ दिखने से ये कुलीनों के मन में भय जो पैदा करते हैं! ... इन्हीं के बच्चे ग़ायब हो रहे हैं, इन्हीं के बच्चों का मांस भूनकर खाया जा रहा है।

इस पर आश्चर्य कैसा? जिस व्यवस्था में मुनाफे के लिए मेहनतकशों के खून की आखिरी बूँद तक निचोड़ ली जा रही है उसमें मोनिन्दर जैसे पूँजीपति नरपिशाचों का पैदा होना कतई आश्चर्य की बात नहीं। ग़रीबों के बीच से भी सुरेन्दर जैसे कुछेक लोग निकल ही आते हैं जो मोनिन्दरों की मानवद्रोही जमात की सेवा-टहल करते-करते खुद भी उन्हीं की तरह मनुष्यता को चबाने लगते हैं। आज ये मानव भेसधारी लकड़सुंघे-लकड़बग्घे बेख़ौफ़ होकर भारी संख्या में 'कंक्रीट के जंगलों' में घूम रहे हैं। यह अनायास नहीं है कि देश में क़रीब पैंतालीस हज़ार बच्चे (केवल एक सरकारी एजेंसी के आँकड़ों के अनुसार) हर साल ग़ायब हो रहे हैं। कोई भी बुर्जुआ मीडिया या जाँच एजेंसी यह रहस्योद्घाटन नहीं कर सकती कि पाशविक यौनाचार और मानव अंगों की तस्करी का कितना बड़ा अन्तरराष्ट्रीय नेटवर्क हमारे देश में काम कर रहा है। लेकिन निठारी से इसके संकेत तो मिल ही गये हैं कि पूँजीपति-नेता-अफ़सर सब खून-मांस के इस धन्धे में शामिल हैं।

यह अकारण नहीं है कि सी.बी.आई. से लेकर बुर्जुआ मीडिया तक की सारी कवायद अब मोनिन्दर-सुरेन्दर को मनोरोगी साबित करने और कुछेक पुलिस वालों के गले में फन्दा डालने तक सिमट कर रह गयी है। यह भी बुर्जुआ जनवाद का एक खेल है कि व्यवस्था को बचाने के लिए उसके कुछ सड़े हुए अंगों को बेनक़ाब

किया जाये। आज बुर्जुआ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया इस खेल को अत्यन्त कुशलता के साथ खेल रहा है। 'स्टिंग आपरेशनों' के ज़रिये बुर्जुआ राजनीति और अपराध के रिश्तों के कुछेक सनसनीख़ेज़ रहस्योद्घाटनों और 'जनहित' के मुद्दों पर कुछेक चर्चाओं आदि के ज़रिये इलेक्ट्रानिक मीडिया ने जो साख अर्जित की है उससे आम दर्शक यह नहीं पकड़ पाता कि उसके कैमरे की नज़र 'सेलेक्टिव' होती है। बुर्जुआ मीडिया का भी बुनियादी सरोकार मनुष्य नहीं मुनाफ़ा है। 'सेलिब्रिटीज़' की ज़िन्दगी के अनोखे-अनछुए पहलुओं की बारीकियों, सनसनीख़ेज़ आपराधिक वारदातों और भूत-प्रेत-डायन के किस्सों से कहाँ फ़ुर्सत कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का कैमरा मेहनतकशों की ज़िन्दगी के अँधेरे कोनों में झाँके। मानवीय संवेदनाओं के प्रति यह कैमरा तभी संवेदनशील नज़र आता है जब उसे भी सनसनीख़ेज़ बिकाऊ माल बनाकर पेश करने की गुंजाइश हो।

इन हालात में देश के मेहनतकशों की बेबसी को समझा जा सकता है। निठारी इसका भी प्रतीक है। मौजूदा पूँजीवादी सभ्यता के ये अ-नागरिक हैं। पूँजीवाद जनवाद का पाखण्ड अब इसे छुपा नहीं सकता। आज देश के बुर्जुआ अभिजन समाज के साथ देश के मेहनतकशों का वही रिश्ता हो चुका है जो रोम के अभिजन समाज और दासों के बीच था। लेकिन आधुनिक सर्वहारा -- पूँजीवादी सभ्यता का यह आधुनिक दास यूँ ही बेबस-बेदम पड़ा नहीं रहेगा। आज के ये उजरती गुलाम "अपने विमानवीकरण से अवगत" हैं, इसलिए वे इस अमानवीकरण के ख़िलाफ़ विद्रोह करने के लिए विवश हैं।

इन हालात में देश के मेहनतकशों की बेबसी का क्या आलम है समझा जा सकता है। निठारी इसका भी प्रतीक है। मौजूदा पूँजीवादी सभ्यता के ये अ-नागरिक हैं। पूँजीवाद जनवाद का पाखण्ड अब इसे छुपा नहीं सकता। आज देश के बुर्जुआ अभिजन समाज के साथ देश के मेहनतकशों का वही रिश्ता हो चुका है जो रोम के अभिजन समाज और दासों के बीच था। लेकिन आधुनिक सर्वहारा -- पूँजीवादी सभ्यता का यह आधुनिक दास यूँ ही बेबस-बेदम पड़ा नहीं रहेगा। आदिविद्रोही स्पार्टकस की विद्रोही चेतना इसके सामाजिक अस्तित्व के साथ अंगीभूत रूप में जुड़ी हुई है। आज के ये उजरती गुलाम "अपने विमानवीकरण से अवगत" हैं, इसलिए वे इस अमानवीकरण के ख़िलाफ़ विद्रोह करने के लिए विवश हैं।

यह आधुनिक सर्वहारा वर्ग जब अभी बचपने में ही था तो उन्नीसवीं सदी के मध्य में लन्दन में पूँजीपतियों की एक सभा में एक मज़दूर ने ऊँचे स्वर में गर्जना की थी कि यदि सामन्त हमारी हड्डियाँ तोड़ेंगे तो तुम पूँजीपति पहले लोग होगे जो उन हड्डियों का पाउडर बनाकर बाज़ार में बेच दोगे। शिशु सर्वहारा का यह आक्रोश आज श्रम की कठोर पाठशाला और अपने ऐतिहासिक संघर्षों की भट्ठी में तपकर पक चुका है। यह आक्रोश उसके अन्दर ही खदबदा रहा है। आने वाले दिनों में यह लावा विसूवियस ज्वालामुखी के विस्फोट की तरह आज के पाम्पेई की विलासिता को जलाकर राख में बदल डालेगा। यह आधुनिक सर्वहारा का ऐतिहासिक मिशन है। मानव सभ्यता का नाश नहीं होगा। मानवता पूँजीवाद का नाश कर अपने को बचायेगी।

हमें पूरा विश्वास है कि बुद्धिजीवी वर्ग में भी ऐसे लोग निश्चय ही मौजूद हैं जिनके हृदय का ताप उनके मानवीय विवेक को कभी सोने नहीं देता। ये मानव-सभ्यता के कुतुबनुमा का इशारा ज़रूर समझेंगे। निठारी की नरबलि उन्हें हमेशा ललकारती रहेगी।

(फरवरी, 2007)

'दायित्वबोध' यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • अक्षरा स्टेशनर्स, स्टशेन रोड, **गोरखपुर** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े आठ) • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, आई.टी. चौराहा, **लखनऊ** • विश्वनाथ मिश्र, भूमि एवं जल संरक्षण विभाग, नेशनल पी.जी.कालेज, **बड़हलगंज, गोरखपुर** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** • जनचेतना, 16/6, वाघम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, **इलाहाबाद** • प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, विश्वनाथ मंदिर गेट,बीएचयू, **वाराणसी** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर**

उत्तरांचल • बुक वर्ल्ड, एस्ले हाल, गांधी पार्क के सामने, **देहरादून**

दिल्ली • सत्यम, सी-74, दिव्ज्योति अपार्टमेण्ट, एस.एफ.एस. फ्लैट्स, सेक्टर-19, रोहिणी, **दिल्ली** • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय • यू-स्पेशल बुक शॉप, आर्ट्स फैकल्टी, दिल्ली विश्वविद्यालय • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना आर्केड, कनाट प्लेस • जनचेतना ठेला, चौड़ा मोड़ (शाम 5 से 8.30), **नोएडा**

बिहार • समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल**

पंजाब • सुखविन्दर,154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फेज-3, पखोवाल रोड, **लुधियाना**

हरियाणा • डा. सुखदेव हुन्दल, ग्रा. पो. सन्तनगर, जिला : **सिरसा**

राजस्थान • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम.डी. रोड, **जयपुर** • बुक्स एंड न्यूज मार्ट, एम.आई.रोड, **जयपुर**

महाराष्ट्र • पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • वसुन्धरा, 602, हीरानंदानी गार्डन, गेट वे प्लाजा, **पवई** • वि.रा. साथीदार, **नागपुर**

प. बंगाल • पुस्तक केन्द्र, भारतीय भाषा परिषद, शेक्सपियर सरणी, **कोलकाता** • राकेश गोरखा, पाथिभरा पुस्तक पसल, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ. केरन, जि.-**जलपाईगुड़ी**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97, **रतलाम**

छत्तीसगढ़ • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर, बस्तर**

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास

(1990 के बाद हुए परिवर्तनों का ब्योरा)

● सुखविन्दर

इस निबन्ध का उद्देश्य एक बार फिर नये सिरे से भारतीय कृषि या भारतीय समाज के स्वरूप को पूँजीवादी सिद्ध करना नहीं है, क्योंकि यह काम तो बहुत पहले किया जा चुका है। भारतीय कृषि में हुई हरित क्रान्ति के दौरान ही भारतीय कम्युनिस्टों और अकादमिक मार्क्सवादियों के बीच यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ था कि भारतीय कृषि में प्रधान उत्पादन सम्बन्धों का चरित्र क्या है? 1970 में 'इकॉनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली' पत्रिका में इस प्रश्न पर बहस चली, जिसमें भारतीय कृषि को सामन्ती या अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था सिद्ध करने वाले मैदान में डटे न रह सके। 1967 में नक्सलबाड़ी विद्रोह के बाद अस्तित्व में आये क्रान्तिकारी खेमे में भी इस प्रश्न पर किसी न किसी रूप में वाद-विवाद होता रहा। 'भारत की कम्युनिस्ट लीग (मार्क्सवादी-लेनिनवादी)' ने भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास में पहली बार भारतीय समाज के सांगोपांग विश्लेषण का काम अपने हाथ में लिया। 1978 में अपनी स्थापना के बाद, पाँच वर्षों की गहन-गम्भीर जाँच-पड़ताल के बाद, अपने सैद्धान्तिक पत्र 'लाल तारा' के दूसरे अंक में, तथ्यों-आँकड़ों-तर्कों सहित, भारतीय समाज को पूँजीवादी सिद्ध करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया कि भारतीय समाज को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक कहना गलत है और यह कि भारतीय समाज अब जनवादी, नवजनवादी क्रान्ति की मंजिल को पार कर समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में प्रवेश कर चुका है।

'लाल तारा-2' के प्रकाशन के बाद इसे देश के कोने-कोने में, उस समय के क्रान्तिकारी शिविर के अन्य संगठनों तक पहुँचाया गया और सबके सामने इस विषय पर विचार-विमर्श और वाद-विवाद का प्रस्ताव रखा गया। लेकिन इन सभी संगठनों ने भारतीय क्रान्ति के इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर मौन धारण किये रखा। इसके बाद 1987 में दुबारा 'भारत की कम्युनिस्ट लीग (मार्क्सवादी-लेनिनवादी)' ने यह प्रयत्न किया कि भारतीय समाज में आये इस परिवर्तन को दूसरे विश्व युद्ध के बाद पूरे विश्व भर में साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में आये महत्वपूर्ण बदलावों को ध्यान में रखते हुए देखा जाये। इस सम्बन्ध में साम्राज्यवाद की कार्यप्रणाली में आये बदलावों के विषय में, भारतीय समाज के चरित्र, भारत की समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम विषयक दो महत्वपूर्ण दस्तावेज़ जारी किये गये। परन्तु इस बार भी क्रान्तिकारी शिविर के बाकी संगठनों ने 'एक चुप, सौ सुख' की नीति का अनुसरण करना ही बेहतर समझा। इसलिए इस निबन्ध में हम भारतीय समाज, विशेष तौर पर भारतीय कृषि के पूँजीवादी चरित्र के बारे में, कोई नयी बात नहीं कहने जा रहे हैं। इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य 1990 के बाद के दौर में भारतीय पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में, विशेषकर भारतीय कृषि में आये परिवर्तनों को जानना-समझना है। इन परिवर्तनों की दिशा निस्सन्देह और अधिक परिपक्व पूँजीवादी विकास की ही है।

1990 के बाद का दौर पूरे विश्व में और भारत में भी तीव्र परिवर्तनों का समय रहा है। इन तीव्र परिवर्तनों से भारतीय समाज का कोई भी कोना अछूता नहीं रहा है। कहा जा सकता है कि यह समय भारतीय समाज के तीव्र गति से पूँजीवादी विकास का रहा है। पूँजीवादी विकास की ऐसी गति, जो भारतीय समाज ने पिछले चार दशकों में कभी नहीं देखी थी।

इन तीव्र परिवर्तनों के समय में, जो संगठन अभी भी भारत को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज के रूप में आँकते रहे हैं, उनके भी पुराने पड़ चुके साँचे-खाँचे हिलने लगे। भारतीय समाज के चरित्र के सवाल पर इन सगंठनों पर बाहर से जो प्रश्न उठते थे, उन पर ये मौन धारण किये रहे; परन्तु अब इन संगठनों के अन्दर से ही भारतीय समाज के चरित्र के बारे में इनकी समझ पर सवाल उठने लगे। इन संगठनों के नेतृत्व को मजबूरन इन सवालों पर मुँह खोलना ही पड़ा। परन्तु अभी भी यह संगठन अपने घिसे-पिटे पुराने फ्रेमवर्क का खूँटा गाड़े बैठे हैं। ये भारतीय समाज में हुए चौतरफा परिवर्तनों से उठने वाले सवालों पर यह कहकर पल्ला झाड़ लेते हैं कि इन प्रश्नों को अभी जाँचा-परखा जाना है (यह बात ये संगठन पिछले दो दशकों से भी अधिक समय से कहते चले आ रहे हैं), या फिर नये तथ्यों को काट-छाँटकर इन नये परिवर्तनों को अपने कार्यक्रम सम्बन्धी पुराने फ्रेमवर्क में फिट करने की कोशिश करते हैं।

इस प्रवृत्ति का एक स्पष्ट उदाहरण है शहीद कामरेड बाबा भुजा सिंह यादगारी प्रकाशन, बंगा द्वारा पंजाबी में प्रकाशित 'भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों?'। इस पुस्तक का शीर्षक ही स्पष्ट कर देता है कि सम्पादक ने यह पुस्तक भारतीय समाज को अर्द्ध-सामन्ती सिद्ध करने के लिए प्रकाशित की है। इस उद्देश्य में इस पुस्तक का सम्पादक कितना सफल हुआ है, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

इस पुस्तक में चार निबन्ध हैं। पहला निबन्ध श्रीमान अरविन्द का है, जिसका शीर्षक है 'कृषि में परिवर्तन के अन्तर्गत वर्ग-सम्बन्धों को समझने के सैद्धान्तिक आधार'। इस निबन्ध में लेखक ने कुल मिलाकर 12 तथ्य दिये हैं, जिन्हें आधार बनाकर कृषि के उत्पादन सम्बन्धों के बारे में किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। परन्तु वास्तव में ये तथ्य कुल 11 ही हैं, क्योंकि एक तथ्य का वर्णन लेखक ने दो बार कर दिया है। यह सातवाँ तथ्य है 'कृषि में उत्पादकता रुझान', जिसको बारहवें स्थान पर दोहराया गया है। खैर, इस भूल पर कोई टिप्पणी किये बिना ही हम आगे चलते हैं। वास्तव में यह निबन्ध भारतीय कृषि में प्रभावी उत्पादन

सम्बन्धों के प्रश्न पर बिलकुल खामोश है। इसका लेखक यह तो बताता है कि भारतीय कृषि में प्रभावी उत्पादन सम्बन्धों को जानने के लिए किन-किन तथ्यों को जाँचना चाहिए, लेकिन लेखक स्वयं इस तरह की कोई जाँच नहीं करता। इस तरह हम कह सकते हैं कि भारतीय कृषि में प्रभावी उत्पादन सम्बन्धों के बारे में लेखक की कोई अवस्थिति ही नहीं है। पता नहीं भारतीय समाज को 'अर्द्ध-सामन्ती' सिद्ध करने के लिए प्रकाशित की गयी इस पुस्तक के सम्पादक ने किस आधार पर इस निबन्ध को पुस्तक में शामिल किया है।

इस पुस्तक में प्रकाशित दूसरा लेख 'भारतीय कृषि का वर्ग विश्लेषण' तत्कालीन 'सी.पी.आई.--एम.एल. (पीपुल्स वार)' के मुखपत्र 'वैनगार्ड' के 1986 में प्रकाशित अंक से लिया गया है। इस निबन्ध में तथ्यों-आँकड़ों सहित भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामन्ती सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इस पुस्तक के सम्पादक का खुद ही मानना है कि इस निबन्ध के आँकड़े बहुतों को पुराने लग सकते हैं और सचमुच ही ये आँकड़े अब काफ़ी पुराने पड़ चुके हैं। इसमें दिये तथ्यों, जिनके आधार पर भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामन्ती सिद्ध करने की कोशिश की गयी है, का पुराना पड़ जाना ही यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी है कि यह निबन्ध भी कोई टिप्पणी किये जाने लायक नहीं है। परन्तु भारत को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक मानने वाली धारा के श्रीमान यह कह सकते हैं कि हम भी तो सी.एल.आई. (एम.एल.) द्वारा प्रकाशित 'लाल तारा-2' के आधार पर ही भारतीय समाज को पूँजीवादी सिद्ध करते हैं। 'दायित्वबोध' के पाठक नव जनवादियों के इस एतराज पर हैरान हो सकते हैं, क्योंकि समाज का विकास आगे की ओर होता है, पीछे की ओर नहीं। यह तो हो सकता है, कि समाज में हो चुका पूँजीवादी विकास और अधिक परिपक्व पूँजीवादी विकास की ओर कदम बढ़ाये, परन्तु यह नहीं हो सकता कि एक पूँजीवादी समाज वापस सामन्तवाद की ओर चला जाये। इसलिए नवजनवादियों का यह एतराज़ बिलकुल निराधार होगा।

इस पुस्तक में प्रकाशित उक्त निबन्ध में बेशक भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामन्ती सिद्ध करने की कोशिश की गयी है, परन्तु यह भी स्वीकार किया गया है कि भारतीय कृषि में पूँजीवादी सम्बन्ध भी विकसित हो रहे हैं। इसमें कहा गया है, "ऊपर दिये गये तथ्यों-आँकड़ों से स्पष्ट है कि 1966-67 से लेकर कृषि आगतों (Agricultural Inputs) में सचमुच वृद्धि हुई है। यह भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में विकसित हो रहे पूँजीवादी सम्बन्धों का संकेत है।" (पृष्ठ 19)

भारतीय कृषि में 'पूँजीवादी विकास का संकेत' देने वाले ये तथ्य और आँकड़े 1983-84 तक के हैं और तब से अब तक दो दशक बीत चुके हैं। उक्त तथ्यों-आँकड़ों से भारत के ग्रामीण क्षेत्र में जिस पूँजीवादी विकास का संकेत मिलता है, क्या यह विकास और अधिक परिपक्व विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ा? इस प्रश्न के उत्तर में इस पुस्तक में प्रकाशित निबन्ध और इसका सम्पादक दोनों खामोश हैं।

उपरोक्त निबन्ध एक और अर्थ में भी पुराना पड़ चुका है। यह निबन्ध 1986 में लिखा गया था और इसी किताब में प्रकाशित अरविन्द का निबन्ध 2005 में लिखा गया है। दोनों निबन्धों को ध्यान से पढ़ने पर ज्ञात होता है कि अरविन्द का निबन्ध उक्त निबन्ध की ही नकल है या इसका संक्षिप्त रूप है। जिन तथ्यों के आधार पर इस निबन्ध में भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामन्ती सिद्ध करने की कोशिश की गयी है, अरविन्द ने उन तथ्यों को आधार बनाकर ही 'कृषि के परिवर्तनों में वर्ग सम्बन्धों को समझने का सैद्धान्तिक आधार' तैयार किया है, जिसे उन्होंने किसी नतीजे तक नहीं पहुँचाया।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय कृषि में पिछले दो दशकों में हुए तीव्र परिवर्तनों को समझने के मामले में ये भारतीय नरोदनिक बुरी तरह विभ्रमग्रस्त हैं। इन परिवर्तनों के बारे में इनकी कोई अवस्थिति नहीं है, ये इस विषय पर पूरी तरह मौन हैं और इन परिवर्तनों से आँखें मूँद कर अपने पुराने व्यवहार में ही व्यस्त हैं। इस पुस्तक के सम्पादक ने, जैसे कि उससे रहा न जाता हो, बीच-बीच में टिप्पणियाँ कर इस पुस्तक के अधूरेपन को दूर करने का प्रयास किया है। सी.आर. सी. नामक संगठन के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए श्रीमान सम्पादक का कहना है, "अब उसका कोई भी नाम लेने वाला नहीं बचा है। बिना व्यवहार वाले ज्ञान-धुरन्धरों का शायद यही हश्र होता है।" सम्पादक की यह टिप्पणी बिलकुल ठीक है, लेकिन हम इसमें इतना इज़ाफ़ा ज़रूर करना चाहेंगे कि 'शायद' नहीं, लाज़िमी तौर पर यही हश्र होता है। परन्तु सम्पादक जी, व्यवहार के लिए किसी मार्गदर्शक सिद्धान्त की भी तो ज़रूरत होती है, जो अपने-आप में मनुष्य के कुल सामाजिक व्यवहार का ही निचोड़ होता है। लेनिन ने यूँ ही तो नहीं कहा था, "बिना क्रान्तिकारी सिद्धान्त के कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं होता।" इसलिए क्रान्तिकारी सिद्धान्त की रोशनी, यानी समाज की विज्ञानसम्मत समझदारी, के बिना व्यवहार अँधेरे में हाथ-पाँव मारने से अधिक कुछ नहीं हो सकता। क्रान्तिकारी सिद्धान्त के मार्गदर्शन के अभाव में व्यवहार में लगे रहने वालों की हालत एक दिन यूरी कजाकोव की कहानी के अन्धे शिकारी कुत्ते जैसी हो जाती है।

इस किताब का तीसरा निबन्ध 'भारतीय समाज का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती' तत्कालीन 'सी.पी.आई.--एम.एल. (पार्टी यूनिटी)' के अंग्रेज़ी पत्र 'पार्टी यूनिटी' के 1987-88 अंक से लिया गया है। यह निबन्ध मुख्य रूप से इस पार्टी की अन्दरूनी बहस को सम्बोधित है। यह निबन्ध भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामन्ती न मानने वालों (i) जो मुख्य रूप से भारतीय कृषि को पूँजीवादी मानते हैं (ii) जो यह कहते हैं कि भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामन्ती कहना उचित नहीं, लेकिन कहा क्या जाये, इस विषय पर मौन हैं, को धकियाने के उद्देश्य से लिखा गया है। भारतीय समाज के गहन-गम्भीर सांगोपांग विश्लेषण से रहित यह बेहद सतही निबन्ध है।

इस पुस्तक में प्रकाशित अन्तिम निबन्ध सी.पी.आई.--एम.एल. (पार्टी यूनिटी) के कार्यक्रम का एक हिस्सा है। श्रीमान अरविन्द के निबन्ध को छोड़कर बाकी सभी लेखों का एक ही उद्देश्य है, भारतीय कृषि को अर्द्ध-सामन्ती सिद्ध करना। इन निबन्धों में दिये गये सभी तथ्य-तर्क आपस में मिलते-जुलते ही हैं।

अब हम यहाँ अपने मूल बिन्दु पर आते हैं। हमारे इस निबन्ध का मुख्य उद्देश्य 1990 के बाद, भारतीय शासकों द्वारा नयी आर्थिक नीति अपनाने तथा भारत सहित पूरे विश्व में उदारीकरण-निजीकरण-भूमण्डलीकरण की आँधी के दौर में, भारतीय कृषि में हुए परिवर्तनों की तस्वीर पेश करना है। इस मुख्य उद्देश्य को पूरा करते हुए हम 'भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों' नामक उक्त पुस्तक में दिये गये तर्कों की भी चीर-फाड़ करेंगे। हम कोशिश करेंगे कि इस निबन्ध में 1990 के बाद के ही आँकड़े दें। कहीं नये आँकड़ों की अनुपलब्धता या पुराने आँकड़ों की प्रासंगिकता के चलते ही 1990 से पहले के आँकड़े देने पड़ सकते हैं। इसमें हम श्री अरविन्द की ओर से भारतीय कृषि के उत्पादन सम्बन्धों को समझने के लिए जो 11 कारक गिनाये गये हैं, उन्हें भी

समेटने की कोशिश करेंगे। श्रीमान अरविन्द ने तो इन तथ्यों के आधार पर भारतीय कृषि के परिवर्तनों को जाँचने-परखने की कोशिश नहीं की, परन्तु हम यह कार्य जरूर करेंगे।

(1) घरेलू बाज़ार का जन्म और विस्तार

"बाज़ार माल अर्थव्यवस्था की एक श्रेणी है, जो कि अपने विकास के क्रम में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में रूपान्तरित हो जाती है और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के तहत ही बाज़ार सम्पूर्ण नियंत्रण और प्रधानता हासिल करता है। इसलिए, घरेलू बाज़ार के बारे में बुनियादी सैद्धान्तिक प्रस्थापनाओं की पड़ताल करने के लिए हमें सरल माल अर्थव्यवस्था से शुरू करना चाहिए और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इसके क्रमिक विकास पर नज़र डालनी चाहिए (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृ0 37 अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

साधारण माल उत्पादन का अस्तित्व युगों से रहा है, यहाँ तक कि दास समाज में भी यह देखा जा सकता है। इसलिए केवल माल उत्पादन के आधार पर ही किसी समाज को पूँजीवादी समाज नहीं कहा जा सकता। यह साधारण माल उत्पादन ही आगे चलकर पूँजीवादी माल उत्पादन के लिए ज़मीन तैयार करता है। माल अर्थव्यवस्था का आधार श्रम का सामाजिक बँटवारा है।

"मैन्युफैक्चरिंग का कच्चे माल के उद्योग से और मैन्युफैक्चर का कृषि से पृथक्करण स्वयं कृषि को एक उद्योग में, अर्थव्यवस्था की एक माल-उत्पादक शाखा में रूपान्तरित कर देता है। विशेषीकरण की जो प्रक्रिया उत्पादों के मैन्युफैक्चर की विविध किस्मों को एक-दूसरे से अलग करती है और लगातार बढ़ती हुई संख्या में उद्योग की शाखाओं को पैदा करती है, कृषि में भी प्रकट होती है जिससे विशेषीकृत कृषि जिले (और खेती की प्रणालियाँ) बन जाते हैं, तथा न सिर्फ़ कृषि और उद्योग के उत्पादों के बीच, बल्कि कृषि के विभिन्न उत्पादों के बीच भी विनिमय शुरू हो जाता है। वाणिज्यिक (और पूँजीवादी) कृषि का यह विशेषीकरण सभी पूँजीवादी देशों में, अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन के रूप में प्रकट होता है (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ठ 38-39, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

इस तरह बाज़ार के लिए उत्पादन पूँजीवाद की एक अनिवार्य विशेषता है। परन्तु यह माल उत्पादन पूँजीवादी माल उत्पादन उस समय ही बनता है जब छोटे उत्पादक तबाह हो जाते हैं। यानी ऐसे छोटे उत्पादक जो खुद के श्रम से उत्पादन करते हैं और कोई अतिरिक्त मूल्य हासिल नहीं करते तथा यदि वे कुछ भाड़े का श्रम ख़रीदते भी हैं तो इस अतिरिक्त मूल्य को स्थिर पूँजी में नहीं बदल पाते, वे बाज़ार और मुकाबले में बड़ी पूँजी के स्वामियों से हार जाते हैं। वे उजरती मज़दूर बन जाते हैं और उनके श्रम के साधन उनसे छिन जाते हैं और उनकी श्रमशक्ति स्वयं एक माल बन जाती है। इसी प्रक्रिया के दूसरे छोर पर बुर्जुआ वर्ग का जन्म होता है, जो दूसरों की श्रम का ख़रीदार होता है। यह उत्पादन प्रक्रिया के दौरान हासिल अतिरिक्त मूल्य को लगातार बढ़ती हुई मात्रा में स्थिर पूँजी में बदलता है और लगातार विस्तृत पुनरुत्पादन उसके अस्तित्व की शर्त बन जाता है।

मार्क्स और लेनिन इस परिघटना की व्याख्या इस तरह करते हैं, "दरअसल जिन घटनाओं ने छोटे किसानों को उजरती मज़दूरों और उनके जीवन-निर्वाह तथा श्रम करने के साधनों को पूँजी के भौतिक तत्वों में बदल दिया था, उन्हीं घटनाओं ने पूँजी के लिए एक घरेलू मण्डी भी तैयार कर दी थी। पहले किसान का परिवार जीवन-निर्वाह के साधन और कच्चा माल पैदा करता था, और इन चीजों के अधिकतर भाग का उपभोग भी प्रायः किसान और उसके परिवार के लोग ही करते थे। पर अब यह कच्चा माल और जीवन-निर्वाह के ये साधन माल बन गये हैं। बड़ा किसान इन चीजों को बेचता है, उसका बाज़ार है मैन्युफैक्चर। सूत, लिनेन, ऊन का मोटा सामान -- वे तमाम चीज़ें, जिनका कच्चा माल पहले हर किसान-परिवार की पहुँच के भीतर था और जिनको प्रत्येक किसान-परिवार अपने निजी इस्तेमाल के लिए कात-बुनकर तैयार कर लिया करता था, अब मैन्युफैक्चर की चीजों में रूपान्तरित हो गयीं, और देहाती इलाके इनके लिए मण्डियों का काम करने लगे।... इस प्रकार जहाँ एक ओर, आत्मनिर्भर किसानों का सम्पत्तिहरण किया जाता है और उनको उत्पादन के साधनों से अलग कर दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर, इसके साथ-साथ देहात के घरेलू उद्योग को भी नष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार मैन्युफैक्चर और खेती का सम्बन्ध-विच्छेद करने की क्रिया सम्पन्न की जाती है। और केवल देहात के घरेलू उद्योग के विनाश से ही किसी देश की आन्तरिक मण्डी को वह विस्तार तथा वह स्थिरता प्राप्त हो सकती है, जिसकी पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को आवश्यकता होती है (कार्ल मार्क्स, पूँजी, खण्ड एक, पृ. 786-787, हिन्दी संस्करण)।"

लेनिन के शब्दों में, "नतीजतन, किसानों का ग्रामीण सर्वहारा में रूपान्तरण मुख्यतः उपभोग की वस्तुओं का बाज़ार तैयार करता है, जबकि किसानों का ग्रामीण बुर्जुआ में रूपान्तरण मुख्यतः उत्पादन के साधनों का बाज़ार तैयार करता है। दूसरे शब्दों में, "किसानों" के सबसे निचले समूहों में हमें श्रम-शक्ति का माल में रूपान्तरण दिखायी देता है, जबकि ऊपरी समूहों में उत्पादन के साधनों का पूँजी में रूपान्तरण दिखायी देता है। इन दोनों ही रूपान्तरणों का परिणाम घरेलू बाज़ार के निर्माण की वह प्रक्रिया होती है जो सिद्धान्त रूप में आम तौर पर सभी पूँजीवादी देशों में स्थापित है (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृ. 166, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

किसानों के विभेदीकरण (यानी इनका खेतिहर बुर्जुआ वर्ग तथा उजरती सर्वहाराओं में बँटवारा) के कारण घरेलू बाज़ार का और कृषि क्षेत्र के दो विरोधी वर्गों का जन्म होता है। खेतिहर बुर्जुआ वर्ग न केवल छोटे उत्पादकों के उत्पादन के साधनों को जब्त कर पूँजी के साधनों में और छोटे उत्पादकों को उजरती मज़दूरों में बदलता है, बल्कि उजरती मज़दूरों की लूट के ज़रिये हासिल अतिरिक्त मूल्य के बड़े हिस्से को भी लगातार स्थिर पूँजी में बदलता है। इसी प्रक्रिया के दूसरे छोर पर उजरती मज़दूर होते हैं, जिनके लिए श्रम शक्ति को बेचना जीवित रहने की शर्त बन जाती है। इस पड़ाव पर आकर साधारण माल उत्पादन पूँजीवादी माल उत्पादन में बदल जाता है। पूँजीवादी माल उत्पादन अर्थव्यवस्था में प्रभावी हो जाता है। बेशक इसके साथ-साथ एक समय तक साधारण माल उत्पादन का सहअस्तित्व बना रह सकता है। ग्रामीण क्षेत्र में कृषि बुर्जुआ वर्ग और खेत-मज़दूरों का जन्म कृषि में पूँजीवाद का सबसे प्रमुख सूचक है। इसलिए भारतीय कृषि में प्रभावी उत्पादन सम्बन्धों की छानबीन का आरम्भ हम इसी सूचक से करेंगे।

तालिका-1 कृषि में पूँजी निर्माण (1950-1990)
(1980-81 की कीमतों पर, करोड़ रुपये में)

वर्ष	कृषि में कुल पूँजी निर्माण	कृषि में सकल घरेलू उत्पाद	कॉलम 3 में 2 का प्रतिशत	कुल घरेलू स्थिर पूँजी निर्माण	कृषि में कुल स्थिर पूँजी निर्माण	कॉलम 5 में 6 का प्रतिशत
1	2	3	4	5	6	7
1950-51	1,262	20,860	6.05	4,891	1,224	25.03
1951-52	1,439	21,202	6.79	5,332	1,436	26.93
1952-53	1,332	22,084	6.03	4,883	1,244	25.48
1953-54	1,342	24,070	5.58	5,361	1,414	26.38
1954-55	1,335	24,743	5.40	5,980	1,367	22.86
1955-56	1,582	24,377	6.49	7,111	1,500	21.09
1956-57	1,534	25,836	5.49	8,082	1,489	18.42
1957-58	1,585	24,523	6.46	8,584	1,473	17.16
1958-59	1,510	27,281	5.53	8,029	1,413	17.60
1959-60	1,294	26,883	4.81	8,292	1,228	15.53
1960-61	1,668	28,841	5.78	9,793	1,585	16.19
1961-62	1,670	28,748	5.81	9,572	1,665	17.39
1962-63	1,848	28,131	6.57	11,037	1,804	16.35
1963-64	2,000	28,653	6.98	11,963	1,939	16.21
1964-65	2,128	31,619	6.73	12,660	2,103	16.61
1965-66	2,308	27,360	8.44	13,599	2,558	16.60
1966-67	2,346	26,734	8.78	13,239	2,313	17.47
1967-68	2,589	31,298	8.27	13,272	2,580	19.44
1968-69	2,694	31,190	8.64	12,756	2,558	20.05
1969-70	2,871	33,451	8.58	13,578	2,754	20.28
1970-71	2,758	35,930	7.68	13,762	2,625	19.07
1971-72	2,924	35,793	8.36	14,351	2,767	19.28
1972-73	3,180	33,005	9.63	16,277	2,938	18.05
1973-74	3,208	35,786	8.96	15,767	2,902	18.41
1974-75	2,975	34,800	8.55	15,515	2,709	17.46
1975-76	3,388	39,740	8.53	18,117	2,935	16.20
1976-77	4,258	37,323	11.41	18,859	3,646	19.33
1977-78	4,073	41,994	9.70	19,927	3,744	18.79
1978-79	5,246	42,831	12.25	22,150	4,246	19.17
1979-80	5,215	37,108	14.05	21,653	4,440	20.51
1980-81	4,636	42,466	10.92	23,617	4,537	19.21
1981-82	4,099	45,145	9.97	26,408	4,348	16.46
1982-83	4,575	44,570	10.26	28,607	4,409	15.41
1983-84	4,097	49,753	8.23	28,708	3,957	13.78
1984-85	4,551	49,702	9.16	30,560	4,287	14.03
1985-86	4,322	49,855	8.67	31,781	4,068	12.80
1986-87	4,014	48,995	8.19	34,231	3,798	11.10
1987-88	4,418	49,249	8.97	35,843	4,219	11.77
1988-89	4,346	57,494	7.50	38,302	4,257	11.11
1989-90	4,334	59,481	7.29	40,214	4,258	10.59
1990-91	4,357	62,048	7.02	42,170	4,286	10.16

स्रोत : भारत सरकार की रिपोर्टें (1989, 1991 तथा 1992)

(i) भारतीय कृषि में पूँजी निर्माण

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि पूँजी निर्माण कृषि में पूँजीवादी विकास के सबसे प्रमुख तथ्यों में से एक है। कृषि बुर्जुआ वर्ग अपना मुनाफ़ा बढ़ाने और बाज़ार में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को खदेड़ने के लिए, लगातार अपने मुनाफ़े के बड़े हिस्से को कृषि में निवेश कर कृषि की स्थिर पूँजी में निरन्तर वृद्धि करते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार भी कृषि में पूँजी निर्माण में निवेश करती है। आइये, इससे सम्बन्धित तालिका-1 पर एक निगाह डालते हैं (देखें पिछला पृष्ठ 14):

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय कृषि में पूँजी निर्माण लगातार उतार-चढ़ावों से गुजरता रहा है। 1950-51 में कृषि में कुल पूँजी निर्माण 1,262 करोड़ रुपये था, जिसमें कि 1969-70 (रु. 2,871 करोड़) तक लगातार वृद्धि नज़र आती है। इसके बाद यह कभी घटता, कभी बढ़ता है और 1978-79 में अपने शिखर तक जा पहुँचता है। जब यह पूँजी निर्माण 5,246 करोड़ रुपये हो जाता है तो इसके बाद कृषि में पूँजी निर्माण में लगातार गिरावट नज़र आती है।

1990 के बाद, जब सरकार ने कृषि सहित अर्थव्यवस्था के अन्य सभी क्षेत्रों से हाथ खींचने शुरू कर दिये तो इससे पैदा होने वाले भ्रम, कि कृषि में पूँजी निर्माण लगातार कम हो रहा है, के शिकार भारतीय नरोदनिक भी हुए। जबकि वास्तविकता यह है कि कृषि में केवल सरकारी निवेश कम हुआ है, लेकिन निजी निवेश में तीव्र वृद्धि दिखायी देती है। कृषि में कुल पूँजी निर्माण में निजी क्षेत्र का हिस्सा 1980-81 में 49 प्रतिशत से बढ़कर 1998-99 में 75 प्रतिशत हो गया (स्रोत : इकॉनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, मई 19-25, 2001)। इस तरह 1978-79 के बाद से जो कृषि में पूँजी निर्माण में लगातार कमी का रुझान दिखायी देता है, वह 1990-91 तक जारी रहता है। 1991 के बाद यह रुझान तीव्रता से बदलता है, जब भारतीय कृषि में पूँजी निर्माण फिर से बढ़ने लगता है। 2000-01 में यह बढ़कर 16,545 करोड़ रुपये हो जाता है। (देखें तालिका-2 तथा तालिका-3(क) एवं 3(ख)।

तालिका-2 : भारतीय कृषि में पूँजी निर्माण
(1993-1994 की कीमतों पर, करोड़ रुपये में)

वर्ष	कुल	सरकारी	निजी	% हिस्सा सरकारी	% हिस्सा निजी
1993-94	13,523	4,467	9,056	33.0	67.0
1994-95	14,969	4,947	10,022	33.0	67.0
1995-96	15,960	4,849	10,841	33.9	69.1
1996-97	16,176	4,668	11,508	28.9	71.1
1997-98	15,942	3,979	11,963	25.0	75.0
1998-99	14,895	3,869	11,026	26.0	74.0
1999-2000	16,582	4,112	12,470	24.8	75.2
2000-01	16,545	4,007	12,538	24.2	75.8

स्रोत : इकॉनॉमिक सर्वे 2001-2002

तालिका-3 (क) : स्थिर पूँजी निर्माण
(1993-94 की कीमतों पर) (करोड़ रुपये में)

वर्ष	कुल	सरकारी	निजी
1993-94	14,749	4,996	9,753
1994-95	15,978	5,406	10,572
1995-96	16,824	5,318	11,506
1996-97	17,009	4,942	12,067
1997-98	17,046	4,467	12,579
1998-99	12,730	4,462	13,268
1999-2000	19,712		

स्रोत : नेशनल एकाउण्ट्स स्टेटिसटिक्स 2001

तालिका-3 (ख) कुल पूँजी निर्माण (करोड़ रुपये में)

	चालू कीमतों पर			1993-94 की कीमतों पर	
वर्ष	1993-94	2002-03	2003-04	2002-03	2003-04
कृषि आदि	15,249	37,972	43,907	21,500	24,186
कृषि	13,253	35,533	37,743	18,240	20,510

स्रोत : मंथली रिव्यू ऑफ दि इंडियन इकॉनॉमी सीएमआईई, फरवरी 2005

आइये, अब किसानों द्वारा लिए जाने वाले कर्ज़ों के उपयोग के लिए तालिका-4 पर एक नज़र डालते हैं :

इस तरह देखा जाये तो किसानों द्वारा लिये जाने वाले कर्जों का लगभग 60 प्रतिशत कृषि में पूँजीगत खर्चो या चालू खर्चो पर प्रयोग होता है।

आइये, अब भारतीय कृषि में पूँजी निर्माण से सम्बन्धित नरोदवादियों के तर्कों की जाँच-पड़ताल करते हैं। 'भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों' नामक पुस्तक में प्रकाशित, अपने निबन्ध में श्रीमान अरविन्द ने ठीक ही कहा है, "कृषि में पूँजी संग्रह की मात्रा... पूँजीवाद के विकास को निर्धारित करने वाले कारकों में से एक है, क्योंकि पूँजीवाद का मूल नियम है कि स्थिर पूँजी... अनिवार्यतः ही बढ़ते रूप में तीव्र गति से विकसित होनी चाहिए"। (पृष्ठ 5)। और यही सब भारतीय कृषि में पिछले पाँच दशकों से भी अधिक समय से हो रहा है, परन्तु ये लोग इस सच्चाई की ओर पीठ किये हुए खड़े हैं। आगे श्रीमान का कहना है, "हम देखते हैं कि हरित क्रान्ति के पहले दशक को छोड़कर, कृषि लागतों की कीमतों में वृद्धि और कृषि उत्पादन की कम हो रही कीमतों में असन्तुलन के कारण कृषि में आये संकट से मुनाफ़ा/बेशी मूल्य लगातार संकुचित हुआ है।

तालिका-4

कृषि व्यवसाय के लिए पूँजीगत व्यय	30.6%
कृषि व्यवसाय के लिए चालू व्यय	27.8%
ग़ैर-कृषि व्यवसाय के लिए व्यय	6.7%
उपभोग व्यय	8.8%
शादी और अन्य रस्मों पर व्यय	11.1%
शिक्षा पर व्यय	0.8%
चिकित्सा व्यय	3.4%
अन्य व्यय	10.8%

स्रोत : द हिन्दू बिज़नेस लाइन, 30 अगस्त, 2005

1990 के भूमण्डलीकरण के दशक में यह संकट और गहरा हुआ है, जिसने मुनाफ़े को और घटा दिया है।" (उपरोक्त)

ऊपर दिये गये आँकड़ों से यह बात स्पष्ट है कि श्रीमान अरविन्द के इस दावे में कोई दम नहीं है। बेशक 1978-79 के बाद भारतीय कृषि में पूँजी निर्माण में लगातार कमी का रुझान देखा गया है, परन्तु 1990 के आस-पास कृषि में पूँजी निर्माण एक उछाल के साथ आगे बढ़ा है।

अरविन्द का कहना है, "इसलिए प्राप्त आँकड़ों के अनुसार कृषि में पूँजी निर्माण 1980 में 11 प्रतिशत से कम होकर 1990 में 7.6 प्रतिशत रह गया।" (उपरोक्त)

यह श्रीमान द्वारा हवा में छोड़ा हुआ एक और तीर है। उन्होंने इन आँकडों के स्रोत बताने का कष्ट भी नहीं किया। लगता है ये आँकड़े श्रीमान अरविन्द के दिमाग की ही उपज हैं। श्रीमान अरविन्द ने यह बताने की भी कोशिश नहीं की कि ये आँकड़े किस चीज का प्रतिशत हैं। क्या ये कुल कृषि उत्पादन का प्रतिशत हैं या कुल उत्पादन का प्रतिशत हैं या भारतीय अर्थव्यवस्था में हुए कुल पूँजी निर्माण का प्रतिशत हैं? इसी तरह श्रीमान अरविन्द ने इस निबन्ध में कार्ल मार्क्स और लेनिन के कई उद्धरण दिये हैं, जिनका मूल स्रोत भी उन्होंने नहीं बताया। लगता है श्री अरविन्द की पार्टी में उन्हें कुछ भक्त किस्म के पाठक मिल गये हैं, जो उनकी कही हर बात पर विश्वास कर लेते हैं।

आगे अरविन्द ने एक और मनगढ़न्त निष्कर्ष निकाला है, "कृषि में अतिरिक्त उत्पादन के इस निम्न स्तर के अतिरिक्त, यह उपज भी मुख्य रूप से अन्य क्षेत्रों में ही चली जाती है। सूदखोरी और व्यापार में मुनाफ़ा अधिक लाभप्रद होने के कारण, इस अतिरिक्त मूल्य के बड़े हिस्से का कृषि में पुनः निवेश नहीं होता बल्कि यह व्यवसाय के और क्षेत्रों में लग जाता है।" (उपरोक्त)। इसके आगे लेखक ने बिना किसी स्रोत का हवाला दिये ग्रामीण क्षेत्र (केवल कृषि नहीं) में कम हुए सरकारी निवेश के आँकड़े दिये हैं।

अरविन्द का कहना है कि कृषि में पैदा हुए अतिरिक्त मूल्य का कृषि में पुनः निवेश नहीं होता और कृषि क्षेत्र में सरकारी निवेश भी कम हो रहा है। अगर ऐसा है तो फिर श्री अरविन्द जी, कृषि में जो पूँजी निर्माण हो रहा है, वह पूँजी कहाँ से आ रही है? क्या यह आसमान से टपक रही है? कृषि में यह पूँजी निर्माण 1990-91 में 4,357 करोड़ रुपये था (तालिका-1), जो कि 2003-04 में बढ़कर 24,186 करोड़ रुपये हो गया (तालिका-3 (ख)), यानी एक दशक में लगभग 6 गुना वृद्धि।

यहाँ एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य गौर करने लायक है, जैसा कि श्री अरविन्द का कहना है कि कृषि में सरकारी निवेश कम हो रहा है और हमने भी ऊपर दिये आँकड़ों में यही रुझान बतलाया है। परन्तु इसके साथ ही कृषि क्षेत्र में हो रहे तीव्र गति के पूँजी निर्माण में निजी निवेश तेजी से बढ़ा है। ऊपर दिये गये आँकड़ों में ये रुझान भली प्रकार देखा जा सकता है। इसका मतलब यह है कि अब केवल कृषि से प्राप्त अतिरिक्त मूल्य का बड़ा हिस्सा कृषि के पूँजी निर्माण में लग रहा है और जैसा कि तालिका-4 में दिखाया गया है कि किसानों द्वारा लिये गये कर्ज़ों का भी लगभग 60 प्रतिशत पूँजी निर्माण में ही लग रहा है। इसलिए अरविन्द का यह कहना कि कृषि में पूँजी निवेश नहीं हो रहा, उनकी कोरी कल्पना मात्र ही है।

उद्योगों की तरह कृषि में पूँजी निर्माण (स्थिर पूँजी में बढ़ोत्तरी) के दो हिस्से हैं, एक अचल पूँजी (Fixed Capital) और दूसरा परिचलनशील पूँजी (Circulating Capital) के रूप में पूँजी निवेश। कृषि में मशीनीकरण, सिंचाई सुविधाओं का विस्तार, कृषि के औज़ार, ज़मीन के सुधार के लिए खर्च आदि अचल पूँजी के अन्तर्गत आते हैं। इसमें हमारे पास इस समय केवल कृषि के मशीनीकरण और कृषि में सिंचाई सुविधाओं के विस्तार से सम्बन्धित आँकड़े ही उपलब्ध हैं।

कृषि में खादों की खपत, अधिक उपज देने वाली किस्मों (High Yielding Varieties) की खपत के अतिरिक्त बिजली का व्यय, डीज़ल का व्यय, कीटनाशक दवाओं के व्यय आदि के रूप में पूँजी निवेश परिचलनशील पूँजी के अन्तर्गत आता है। इनमें भी हमारे पास अभी खादों और अधिक उपज देने वाली किस्मों और बिजली की खपत से सम्बन्धित आँकड़े ही उपलब्ध हैं। हम ये आँकड़े आगे दे रहे हैं (देखें तालिका-5 से तालिका-11)।

(क) कृषि का मशीनीकरण : मशीनीकरण कृषि में पूँजीवादी विकास का एक महत्वपूर्ण कारक है। जहाँ इससे श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होती है, प्रकृति की ताक़तों के आगे मनुष्य की विवशता कम होती है, वहीं यह कृषि में सामन्ती उत्पादन प्रणाली के अवशेषों को भी तबाह करता है।

लेनिन के शब्दों में : "किसानों और भूस्वामी द्वारा खेती के सम्बन्ध में ऊपर जो कहा गया है उससे निम्नलिखित नतीजे निकाले जा सकते हैं : एक ओर, पूँजीवाद कृषि में मशीनों के उपयोग को शुरू करने और बढ़ाने वाला कारक है; और दूसरी ओर, कृषि में मशीनों के इस्तेमाल की प्रकृति पूँजीवादी है, यानी इससे आगे चलकर पूँजीवादी सम्बन्धों की स्थापना होती है तथा उनका और विकास होता है।... जब कोई भूस्वामी किसी नयी मशीन या सुधरे हुए औज़ार का इस्तेमाल शुरू कराता है, तो वह किसान (जो उसके लिए काम करता था) के औज़ारों को हटाकर अपने औज़ार लगाता है। नतीजतन, वह लेबर सर्विस से पूँजीवादी खेती की व्यवस्था के मातहत आ जाता है। कृषि मशीनों के फैलाव का मतलब होता है पूँजीवाद द्वारा लेबर सर्विस का ख़ात्मा।... कृषि में मशीनरी का सुव्यवस्थित इस्तेमाल पितृसत्तात्मक "मध्यम" किसान को उतनी ही कठोरता से धकेलकर बाहर करता है जितनी कठोरता से वाष्पचालित करघा दस्तकार बुनकर को बाहर करता है (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ठ 228-29-30, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

अरविन्द का कहना है, "हम देखते हैं कि हरित क्रान्ति के पहले दशक को छोड़कर, कृषि लागतों की कीमतों में वृद्धि और कृषि उत्पाद की कम हो रही कीमतों में असन्तुलन के कारण कृषि में आये संकट से मुनाफ़ा/अतिरिक्त मूल्य लगातार संकुचित हुआ है। 1990 के भूमण्डलीकरण के दौर में संकट और गहरा हुआ, जिसने न सिर्फ़ मुनाफ़े को और अधिक घटा दिया है... कृषि में अतिरिक्त उत्पादन तो कम होता ही है इसके अलावा यह अन्य क्षेत्रों को चला जाता है। सूदखोरी और व्यापार अधिक लाभप्रद होने के कारण, इस अतिरिक्त मूल्य के बड़े हिस्से का कृषि में पुनः निवेश नहीं हो पाता।"

अरविन्द को पता नहीं क्यों समझ में नहीं आ रहा कि लागतें बढ़ने तथा कृषि उत्पाद की कीमतें कम होने का "संकट" पूँजीवादी संकट ही है। कृषि की सामन्ती प्रणाली में ऐसा देखने को नहीं मिलता। श्री अरविन्द के कथनानुसार एक ओर तो कृषि उत्पाद की कीमतें कम होने के कारण मुनाफ़ा/अतिरिक्त मूल्य ही कम है और दूसरे, यह मुनाफ़ा भी और क्षेत्रों की ओर चले जाने से कृषि में पूँजी निर्माण नहीं हो रहा। हम ऊपर देख चुके हैं कि यह तथ्यों पर आधारित सच्चाई नहीं, बल्कि श्री अरविन्द की कल्पना की उड़ान है। यह सैद्धान्तिक

तालिका-5 : प्रमुख राज्यों में ट्रैक्टरों की संख्या में बदलाव

राज्य	1962-65	1970-73	1980-83	1990-93
आन्ध्र प्रदेश	2,922	5,690	21,450	32,600
असम	224	325	277	647
बिहार	2,132	5,001	14,639	42,139
गुजरात	3,542	7,113	28,122	45,400
हरियाणा	4,850	17,903	52,311	1,02,840
जम्मू-कश्मीर	104	342	985	2,857
कर्नाटक	2,595	5,154	20,501	31,616
केरल	418	983	1,258	1,838
मध्य प्रदेश	2,484	4,720	24,436	38,358
महाराष्ट्र	3,462	5,598	21,453	33,699
उड़ीसा	661	1,748	1,188	1,899
पंजाब	10,646	41,185	1,06,501	2,34,006
राजस्थान	4,095	11,056	54,686	84,574
तमिलनाडु	3,280	4,892	14,541	21,833
उत्तर प्रदेश	10,087	13,792	1,42,237	2,21,571
पश्चिम बंगाल	1,514	1,686	1,900	5,100
कुल योग	53,016	1,26,188	5,05,485	9,00,977

स्रोत : भल्ला व सिंह, 2001 ('दायित्वबोध', जुलाई-सितम्बर, 2005 में प्रकाशित सुच्चा सिंह गिल एवं रणजीत सिंह घुम्मण के लेख 'भारत में बदल रहे कृषि सम्बन्ध' से उद्धृत)।

तालिका-6 : प्रमुख राज्यों में पम्पिंग सेटों की संख्या में बदलाव (हज़ार में)

राज्य	1962-65	1970-73	1980-83	1990-93
आन्ध्र प्रदेश	105.67	261.94	688.23	1,046.98
असम	0.37	0.47	1.16	3.55
बिहार	10.55	101.99	374.77	750.83
गुजरात	127.11	409.49	564.26	690.47
हरियाणा	15.85	116.47	209.90	403.80
जम्मू-कश्मीर	0.13	0.45	0.99	2.46
कर्नाटक	49.23	201.88	305.11	510.50
केरल	11.69	28.43	98.72	209.25
मध्य प्रदेश	22.63	124.06	406.60	631.66
महाराष्ट्र	214.82	346.76	587.83	715.66
उड़ीसा	0.90	5.87	16.97	39.84
पंजाब	45.90	328.77	662.60	721.22
राजस्थान	13.09	72.94	421.78	626.84
तमिलनाडु	251.15	915.42	1,150.19	1,127.34
उत्तर प्रदेश	38.35	306.42	1,101.18	1,699.69
पश्चिम बंगाल	4.69	7.22	208.01	768.82
कुल मुख्य राज्य	912.13	3,228.58	6,798.30	9,949.31

स्रोत : उपरोक्त

तालिका-7 : ट्रैक्टरों की वार्षिक बिक्री

राज्य	कुल बिक्री (1999-2000 से 2003-04 तक)	औसत वार्षिक बिक्री
उत्तर प्रदेश	2,90,513	58,102
मध्य प्रदेश	1,38,382	27,744
पंजाब	1,04,584	20,916
राजस्थान	89,087	17,817
हरियाणा	78,313	15,662
गुजरात	63,286	12,657
बिहार	71,528	14,305
आन्ध्र प्रदेश	69,421	13,844
महाराष्ट्र	57,406	11,481
कर्नाटक	44,837	8,967
तमिलनाडु	37,510	7,502
उड़ीसा	16,391	3,278
अन्य राज्य/ केन्द्र शासित प्रदेश/ निर्यात आदि	76,647	15,329
सम्पूर्ण भारत	11,16,690	2,23,333

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार, 2004-05

तालिका-8 : पॉवर टिलर की वार्षिक बिक्री

राज्य	कुल बिक्री (1999-2000 से 2003-04 तक)	औसत वार्षिक बिक्री
पश्चिम बंगाल	25,537	5,107
तमिलनाडु	8,278	1,655
असम	6,874	1,375
कर्नाटक	5,499	1,100
केरल	4,562	912
उड़ीसा	5,183	1,037
आन्ध्र प्रदेश	3,002	600
महाराष्ट्र	2,408	482
त्रिपुरा	1,932	386
गुजरात	1,427	285
मणिपुर	884	177
बिहार	1,149	230
अन्य राज्य/ केन्द्र शासित प्रदेश	5,455	1,091
सम्पूर्ण भारत	68,034	13,606

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, भारत सरकार, 2004-05

तालिका-9 : डीज़ल इंजन

वर्ष	संख्या (लाखों में)	प्रति लाख हेक्टेयर
1951	0.66	50
1961	2.30	151
1971	-	-
1981	28.10	1623
1985	35.54	1969
1988	42.50	2400
2002	49.00	-

स्रोत : एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लान्स एंड बेसिक स्टेटिस्टिक्स, 1989 तथा दि हिन्दू सर्वे ऑफ इंडियन एग्रीकल्चर, 2002।

तालिका-10 : विद्युत पम्प सेट

वर्ष	संख्या (लाखों में)	प्रति लाख हेक्टेयर
1951	0.21	16
1961	2.00	131
1971	16.20	997
1981	43.24	2495
1985	53.20	4947
1988	61.67	3484
2002	98.00	

स्रोत : उपरोक्त

तालिका-11 : ट्रैक्टरों की संख्या, कुल भारत

वर्ष	1966	1972	1982	2002
ट्रैक्टरों की संख्या	53,200	1,48,200	5,18,500	26,30,000

स्रोत : उपरोक्त

तौर पर भी पूरी तरह गलत है। आइये देखें कि लेनिन के इस विषय में क्या विचार हैं :

"पूँजीवाद से जन्मी प्रतिस्पर्धा और विश्व बाज़ार पर काश्तकार की निर्भरता ने तकनीक के रूपान्तरण को ज़रूरी बना दिया, जबकि अनाज के दामों में गिरावट ने इस ज़रूरत को विशेष रूप से अत्यावश्यक बना दिया है... पिछले दो वर्षों के दौरान, अनाज के कम दामों और कृषि से जुड़े कामों को हर कीमत पर सस्ता करने की ज़रूरत का असर यह हुआ है कि कटाई की मशीनों का भी इस्तेमाल... इतने व्यापक तौर पर होने लगा है कि डिपो समय पर सबकी ज़रूरत पूरी नहीं कर पा रहे हैं (उपरोक्त, पृष्ठ 229, अनुवाद हमारा)।"

इस सैद्धान्तिक चर्चा के बाद आइये अब कृषि में मशीनीकरण से सम्बन्धित आँकड़ों पर एक नज़र डालें :

यहाँ प्रस्तुत आँकड़ों से स्वतंत्रता-पश्चात भारतीय कृषि में तीव्र गति से मशीनीकरण का रुझान स्पष्ट दिखायी देता है। ट्रैक्टरों की संख्या 1966 में 53,200 थी, जो कि 2002 में बढ़कर 26,30,000 हो गयी (तालिका-11)। इस तरह इस दौरान ट्रैक्टरों की संख्या में 49 गुना से भी अधिक की बढ़ोत्तरी हुई।

डीज़ल इंजनों के मामले में भी यही रुझान दिखायी देता है। 1951 में भारतीय कृषि में केवल 66,000 डीज़ल इंजन थे, जो कि 2002 में बढ़कर 49 लाख हो गये (तालिका-9)। इस तरह डीज़ल इंजनों की संख्या में 74 गुना से भी अधिक की बढ़ोत्तरी हुई। प्रति लाख हेक्टेयर डीज़ल इंजनों की संख्या देखनी हो तो 1951 में यह संख्या 50 थी जो 1988 में बढ़कर 2,400 हो गयी। इस तरह 1988 तक ही प्रति लाख हेक्टेयर डीज़ल इंजनों की संख्या में 48 गुना से भी अधिक बढ़ोत्तरी हो गयी।

विद्युत पम्प सेटों की ओर ध्यान दें तो यहाँ भी वही रुझान देखने को मिलेगा। 1951 में भारतीय कृषि में केवल 21,000 विद्युत पम्प सेट थे, जोकि 2002 में बढ़कर 98 लाख हो गये (तालिका-10)। इस तरह 1951 से विद्युत पम्प सेटों की संख्या में यह वृद्धि 466 गुना से भी अधिक की है। प्रति लाख हेक्टेयर विद्युत पम्प सेटों की संख्या 1951 में 16 से बढ़कर 1988 में 3,484 हो गयी। इस तरह 1988 तक ही भारतीय कृषि में विद्युत पम्प सेटों की संख्या में 217 गुना से भी अधिक की बढ़ोत्तरी देखी जा सकती है।

2002 में भारत में 26 लाख 30 हज़ार ट्रैक्टर थे। वर्ष 2004-05 में भारत में 2 लाख 40 हज़ार ट्रैक्टरों की बिक्री हुई (इकॉनॉमिक टाइम्स, 16 जून, 2005)। इस तरह, 2002 के बाद के पिछले तीन वर्षों में ही यदि प्रतिवर्ष 2 लाख टैक्ट्र भी 2002 के ट्रैक्टरों की संख्या में जोड़ लें तो इस समय भारत में तकरीबन 32 लाख 30 हज़ार ट्रैक्टर हैं। इसके अलावा प्रतिवर्ष 2 लाख 50 हज़ार पावर थ्रेशर कृषि में लगाये जा रहे हैं। अनुमानित 90 प्रतिशत से अधिक फसल पावर थ्रेशरों से झाड़ी जाती है ('दि हिन्दू' सर्वे)। इसके अलावा कम्बाइन हार्वेस्टरों का प्रयोग भी कृषि में बढ़ा है, जिसके आँकड़े फिलहाल हमारे पास नहीं हैं।

यदि कृषि में इतनी तीव्र गति से मशीनीकरण के बाद भी नरोदवादियों को भारतीय कृषि में पूँजीवाद नज़र नहीं आ रहा तो भारतीय समाज को समझने में ईश्वर ही उनकी सहायता कर सकता है।

'भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों' के सम्पादक ने अँधेरे में एक और तीर छोड़ा है। उसका कहना है कि "समूची कृषि मशीनरी, सिंचाई सुविधाओं, खाद और कीटनाशक दवाओं की खपत का 25 प्रतिशत हिस्सा अकेले पंजाब में प्रयोग होता है (हालाँकि लेखक के इस कथन की जाँच की जानी चाहिए), जबकि कृषि योग्य भूमि में इसका हिस्सा 2 प्रतिशत के आस-पास है। यदि इसमें पश्चिमी उत्तर प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, तटवर्ती आन्ध्र प्रदेश की चुनिन्दा पट्टियाँ मिला दें तो कृषि मशीनरी और आगत में इनका हिस्सा 50 प्रतिशत और क्षेत्रफल मुश्किल से 5 प्रतिशत होगा। क्या 5 प्रतिशत क्षेत्र वाले राज्य या राज्यों के कुछ पॉकेटों के 5 प्रतिशत भाग के द्वारा मशीनरी और लागत वस्तुओं के 50 प्रतिशत हिस्से को पचा जाने से पूरे देश की कृषि का ही पूँजीवादी विकास हो गया का गाना गाया जा सकता है? सोचने की ज़रूरत है (पृष्ठ 19 पर सम्पादक)।"

वाकई सोचने की ज़रूरत है कि सम्पादक के उपरोक्त आँकड़ों का

क्या स्रोत है? पहली बात तो यह कि सम्पादक द्वारा बताया गया उपरोक्त क्षेत्र ही 5 प्रतिशत नहीं, बल्कि लगभग 15 प्रतिशत बनता है (देखें 2004 में विभिन्न राज्यों के क्षेत्र सम्बन्धी आँकड़े)। सम्पादक पता नहीं इन मनगढ़न्त आँकड़ों से किसे मूर्ख बनाना चाहता है। सम्पादक जी, ऐसे बेसिर-पैर के दावे करने से पहले इनके आधार की जाँच अवश्य कर लेनी चाहिए। बेशक भारतीय कृषि में मशीनीकरण सम्बन्धी काफ़ी हद तक असमानता देखने को मिलती है और असमान आर्थिक विकास पूँजीवाद का ही एक लक्षण है। परन्तु कृषि में मशीनीकरण के सन्दर्भ में समय गुजरने के साथ-साथ यह असमानता दूर होने का रुझान नज़र आता है। 16 जून, 2005 के 'इकॉनॉमिक टाइम्स' के अनुसार 2004-05 में ट्रैक्टरों की कुल ब्रिक्री में दक्षिण भारत का हिस्सा 20 प्रतिशत था, जबकि एक वर्ष पहले यह 10 प्रतिशत था। उत्तर भारत का हिस्सा 2002-03 में 23 प्रतिशत से बढ़कर 32 प्रतिशत हो गया। जबकि पश्चिमी भारत का हिस्सा 12-13 प्रतिशत पर स्थिर रहा। इससे स्पष्ट है कि कृषि के मशीनीकरण के सम्बन्ध में पिछड़े समझे जाने वाले क्षेत्रों में भी तेजी से कृषि का मशीनीकरण हो रहा है। तालिका-7 में ट्रैक्टरों की वार्षिक बिक्री से भी यही रुझान स्पष्ट होता है। इसलिए जब हम भारतीय अर्थव्यवस्था के उत्पादन सम्बन्धों की बात करेंगे तो समूची भारतीय अर्थव्यवस्था के अर्द्ध-सामन्ती या पूँजीवादी होने की बात करेंगे, न कि इस या उस क्षेत्र की। आगे चलकर हम सम्पादक के उपरोक्त दावों की और जाँच करेंगे।

जिस निबन्ध में सम्पादक ने भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास पर "सोचने की आवश्यकता" अनुभव की है, उसी निबन्ध के मुख्य लेखक ने भारतीय कृषि में अधिक उपज देने वाली किस्मों, सिंचाई सुविधाओं, खादों की खपत, मशीनीकरण आदि के आँकड़े दिये हैं और यह निष्कर्ष निकाला है, "ऊपर दिये गये आँकड़ों और तथ्यों से स्पष्ट है कि 1966-67 से लेकर कृषि लागत वस्तुओं में वास्तव में वृद्धि हुई है। यह भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में विकास कर रहे पूँजीवादी सम्बन्धों का संकेत है (पृष्ठ 19)।" यहाँ लेखक ने भारत के कुछ पॉकेटों की नहीं, बल्कि समूचे भारत के ग्रामीण क्षेत्र में ही पूँजीवादी सम्बन्धों के विकास की बात मानी है। क्या सम्पादक ने छापने से पहले यह पुस्तक स्वयं नहीं पढ़ी थी? सोचने की ज़रूरत है।

उपरोक्त निबन्ध के लेखक का कहना है, "आधुनिकीकरण के अतिरिक्त लकड़ी और लोहे के हलों की संख्या 1956 में 375 लाख थी, जो कि 1966 में बढ़कर 430 लाख हो गयी और फिर 1972 (अर्थात हरित क्रान्ति के मध्य) में बढ़कर 445 लाख हो गयी। इसी तरह बैल गाड़ियों की संख्या 1945 में 84 लाख थी जो 1972 में बढ़कर 130 लाख हो गयी अर्थात इनमें 54 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई। 1972 (हरित क्रान्ति) के समय के पश्चात भी इस रुझान में कोई कमी नहीं आयी, जिससे स्पष्ट पता चलता है कि आधुनिकीकरण के साथ-साथ ही पुराने सामन्ती समाज की वस्तुओं का प्रयोग जारी है। यही बात आधुनिक ऊर्जा साधनों (विद्युत आदि) के बारे में कही जा सकती है, जिनके साथ ही साथ परम्परागत बैल, गोबर और लकड़ी का प्रयोग भी जारी है। प्रत्येक 100 परिवारों पर बैलगाड़ियों की औसत संख्या 1961-62 में 19 थी जो कि 1971-72 में कम होकर 17 रह गयी। यहाँ यह कमी देखने को ज़रूर मिलती है (पृष्ठ 19)।"

परन्तु 1972 के समय से भारत में बहुत अधिक परिवर्तन हुआ है। बेशक इस सम्बन्ध में हमारे पास आँकड़े नहीं हैं, लेकिन आजादी के बाद जिस गति से भारत में कृषि का मशीनीकरण हुआ है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस दौरान 'सामन्ती समाज की वस्तुओं' का प्रयोग अवश्य ही कम हुआ है। इस कमी का रुझान उपरोक्त विवरण में बैलगाड़ियों की औसत संख्या कम होते जाने से भी स्पष्ट है। परन्तु बैलगाड़ियों, लकड़ी और लोहे के हलों को सामन्तवाद का समानार्थी समझना भी लेखक की भूल है। जिस समय लेनिन 'रूस में पूँजीवाद का विकास', नामक पुस्तक लिख रहे थे, उस समय रूस की कृषि में ट्रैक्टर जैसी वस्तु का नामोनिशान भी नहीं था और न ही विद्युत

तालिका-12

कृषि योग्य क्षेत्र में सिंचित क्षेत्र (हज़ार हेक्टेयर में)--सम्पूर्ण भारत

वर्ष	शुद्ध सिंचित क्षेत्र	कुल सिंचित क्षेत्र	शुद्ध जोत क्षेत्रफल में शुद्ध सिंचित क्षेत्र (% में)	फसलों के तहत कुल क्षेत्र में कुल सिंचित क्षेत्र (% में)
1970-71	31,103	38,195	22.17	23.04
1971-72	31,546	38,430	22.58	23.26
1972-73	31,834	39,055	23.21	24.09
1973-74	32,546	40,283	22.85	23.71
1974-75	33,709	41,741	24.46	25.42
1975-76	34,594	43,363	24.42	25.31
1976-77	35,149	43,552	25.20	26.03
1977-78	36,546	46,080	25.75	26.75
1978-79	38,059	48,307	26.62	27.64
1979-80	38,524	49,214	27.73	29.02
1980-81	38,720	49,775	27.66	28.83
1981-82	40,503	51,412	28.54	29.09
1982-83	40,691	51,830	29.02	30.00
1983-84	41,949	53,824	29.37	29.98
1984-85	42,145	54,529	29.91	30.92
1985-86	41,865	54,283	29.71	30.42
1986-87	42,569	55,759	30.54	31.66
1987-88	42,892	56,036	32.02	32.94
1988-89	46,248	61,125	32.59	33.53
1989-90	46,702	61,852	32.81	33.93
1990-91	48,023	63,204	33.61	34.03
1991-92	49,867	65,680	35.24	36.04
1992-93	50,296	66,761	35.29	35.99
1993-94	51,452	67,999	36.21	36.48
1994-95	53,001	70,639	37.07	37.56
1995-96	53,402	71,352	37.55	38.25
1996-97	55,143	73,275	38.61	38.66
1997-98	54,985	73,007	38.70	38.31
1998-99	57,077	75,954	40.03	39.43
1999-2000	57,238	76,336	40.53	40.23
2000-2001	54,680	75,140	38.75	40.18

स्रोत : एग्रीकल्चर सीएमआईई, मार्च 2005

तालिका-13 : कुल सिंचित क्षेत्र (फसलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्र का प्रतिशत)

राज्य	1995-96	1996-97	1997-98	1998-99	1999-2000	2000-01	2001-02	2002-03
आन्ध्र प्रदेश	40.67	43.12	42.51	44.71	44.12	43.68	43.50	39.24
अरुणाचल प्रदेश	14.75	15.00	14.24	14.40	13.64	16.35	-	-
असम	14.53	14.37	14.32	14.51	13.98	5.56	-	-
बिहार(झारखण्ड सहित)	45.72	45.99	45.72	47.82	48.18	47.79	-	-
छत्तीसगढ़	19.52	20.33	19.99	22.55	21.82	19.58	17.82	17.82
दिल्ली	95.52	98.51	77.19	80.00	80.33	79.25	-	-
गोवा	21.82	21.82	21.30	19.88	19.88	21.05	-	-
गुजरात	34.71	33.11	33.87	34.46	35.72	33.92	-	-
हरियाणा	78.22	78.78	78.61	79.78	84.99	85.41	-	-
हिमाचल	18.31	18.59	18.26	18.87	18.70	19.09	-	-
जम्मू-कश्मीर	41.01	41.27	41.18	41.35	40.63	40.27	-	-
कर्नाटक	23.74	23.36	24.90	25.35	26.14	26.62	26.47	26.47
केरल	15.20	15.43	14.05	14.43	15.69	15.16	-	-
मध्य प्रदेश	26.10	27.38	26.48	27.18	28.54	23.98	25.59	25.59
महाराष्ट्र	15.41	15.41	15.41	17.01	16.86	17.37	16.98	16.98
मणिपुर	41.12	36.95	36.23	34.72	37.69	35.89	-	-
मेघालय	18.12	18.44	21.51	20.68	20.68	-	-	-
मिज़ोरम	8.26	8.26	8.55	8.62	12.09	13.83	-	-
नगालैण्ड	31.58	29.67	26.92	25.52	24.75	24.34	-	-
उड़ीसा	27.19	27.54	26.81	27.99	29.47	26.99	-	-
पंजाब	95.16	94.07	95.58	96.74	90.86	101.41	96.59	98.01
राजस्थान	32.34	32.58	29.90	31.81	35.95	31.90	-	-
सिक्किम	11.27	11.27	11.43	12.60	13.22	14.29	-	-
तमिलनाडु	50.79	51.84	53.66	54.85	54.99	15.07	54.80	50.52
त्रिपुरा	14.08	13.10	12.37	12.30	12.50	13.09	-	-
उत्तरांचल	23.38	23.53	-	42.19	44.19	-	-	-
उत्तर-प्रदेश	69.19	66.81	-	72.92	-	-	71.60	-
पश्चिम बंगाल	27.25	27.58	26.98	26.81	26.10	36.95	34.45	-
भारत	38.25	38.66	38.31	39.43	40.23	40.18	-	-

स्रोत : एग्रीकल्चर सीएमआईई, मार्च 2005

तालिका-14 सिंचाई स्रोत -- सम्पूर्ण भारत

वर्ष	सरकारी नहरें	निजी नहरें	कुल नहरें	टैंक	ट्यूबवेल	अन्य कुएँ	कुल कुएँ	अन्य स्रोत
1970-71	38.49	2.78	41.28	13.22	14.34	38.88	38.22	7.24
1971-72	38.82	2.75	41.57	11.84	15.04	23.89	38.93	7.66
1972-73	38.12	2.71	48.82	11.37	16.94	23.78	40.72	7.08
1973-74	37.47	2.67	40.14	11.98	17.22	23.59	40.81	7.06
1974-75	37.55	2.54	40.09	10.51	19.53	22.68	42.21	7.19
1975-76	37.39	2.48	39.87	11.48	19.78	21.97	41.75	6.90
1976-77	37.03	2.40	39.43	11.10	21.14	21.78	42.92	6.54
1977-78	37.58	2.30	39.88	10.68	20.91	21.73	42.64	6.79
1978-79	37.58	2.22	39.80	10.34	21.44	21.73	43.17	6.68
1979-80	36.16	2.19	38.35	9.04	24.16	22.21	46.73	6.24
1980-81	38.16	2.17	39.49	8.22	24.62	21.08	45.70	6.59
1981-82	38.62	1.21	39.37	8.34	25.51	20.75	46.26	6.03
1982-83	38.84	1.15	39.78	7.22	26.47	21.08	47.55	5.46
1983-84	37.54	1.12	39.96	8.42	26.04	20.19	46.23	5.39

(अगले पृष्ठ पर जारी)

1984-85	37.68	1.12	38.62	7.17	27.44	20.95	48.39	5.83
1985-86	35.64	1.11	38.65	6.60	28.49	20.34	48.77	5.98
1986-87	35.98	1.07	38.75	6.29	28.89	20.02	48.91	6.05
1987-88	35.64	1.07	36.71	5.88	30.74	20.08	50.82	6.59
1988-89	35.98	1.00	36.98	6.48	29.66	20.54	50.19	6.35
1989-90	35.64	1.02	36.67	6.30	30.08	21.06	51.15	5.89
1990-91	35.34	1.00	36.34	6.13	29.69	21.73	51.42	6.11
1991-92	33.71	0.98	34.69	6.68	30.42	21.79	52.21	6.42
1992-93	32.81	0.96	33.77	6.32	31.44	22.08	53.52	6.38
1993-94	32.32	0.94	33.26	6.13	31.83	22.13	53.96	6.66
1994-95	31.70	0.91	32.60	6.18	32.43	22.12	54.55	6.67
1995-96	31.01	1.05	32.06	5.84	33.54	22.07	55.61	6.49
1996-97	30.60	0.87	31.47	6.06	33.43	22.47	55.90	6.57
1997-98	30.22	0.86	31.08	5.64	33.52	22.64	56.16	6.35
1998-99	30.14	0.88	31.02	5.15	33.75	22.35	58.09	5.73
1999-00	30.66	0.78	31.44	4.73	36.61	22.15	58.76	5.08
2000-01	28.88	0.36	29.24	4.62	-	60.86	60.86	5.29

(स्रोत : उपरोक्त)

तालिका-15 : सिंचाई स्रोत (2000-01), राज्यवार

राज्य	कुल नहरें	टैंक	कुल कुएँ	अन्य स्रोत
आन्ध्र प्रदेश	34.63	16.05	43.16	4.36
अरुणाचल प्रदेश	-	-	-	100.00
असम	87.06	-	12.94	-
बिहार(झारखण्ड सहित)	31.34	4.28	57.74	6.65
छत्तीसगढ़	68.90	5.59	17.28	8.23
दिल्ली	5.58	-	82.24	5.88
गोवा	17.39	-	82.61	-
गुजरात	16.52	0.60	82.31	0.06
हरियाणा	49.90	0.63	49.59	0.47
हिमाचल	2.38	-	11.11	84.92
जम्मू-कश्मीर	91.64	0.96	0.64	7.07
कर्नाटक	36.57	9.87	23.98	11.45
केरल	27.56	13.12	33.45	28.87
मध्य प्रदेश	19.54	2.06	64.11	14.29
महाराष्ट्र	35.38	-	64.62	-
मणिपुर	-	-	-	100.00
मेघालय	98.15	-	-	-
मिज़ोरम	100.00	-	-	-
नगालैण्ड	-	-	-	100.00
उड़ीसा	45.42	14.59	40.04	-
पंजाब	18.77	-	79.96	1.28
राजस्थान	28.20	0.78	70.77	0.86
सिक्किम	-	-	-	100.00
तमिलनाडु	28.85	20.38	50.20	0.57
त्रिपुरा	59.46	13.51	10.81	13.51
उत्तरप्रदेश, उत्तरांचल सहित	24.11	0.63	73.22	2.02
पश्चिम बंगाल	11.09	7.35	59.35	22.22
भारत	29.24	4.62	60.86	5.29

स्रोत : उपरोक्त

जैसी कोई चीज थी। खेती वहाँ पर घोड़ों से की जाती थी। इसके बावजूद लेनिन ने रूसी समाज को पूँजीवाद समाज ही कहा था। उस समय के रूस की यदि आज के भारत से तुलना की जाये तो आकाश-पाताल का अन्तर दिखायी देता है। लेकिन राजनीतिक मोतियाबिन्द के शिकार हमारे इन नरोदनिकों को यह अन्तर भी नहीं दिखायी देता है।

(ख) सिंचाई सुविधाओं के विस्तार सम्बन्धी आँकड़े :

उपरोक्त आँकड़ों से पता चलता है कि भारतीय कृषि में सिंचाई सुविधाओं का विस्तार तो हुआ है पर बहुत धीमी गति से। 1951-52 में भारत में शुद्ध सिंचित क्षेत्र 2 करोड़ 10 लाख हेक्टेयर ही था (सीएमआईई, अगस्त, 1984) जो कि 2000-01 में बढ़कर 5,46,80,000 हेक्टेयर हो गया। 1950-51 में फसलों के तहत कुल क्षेत्र में कुल सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत 18% ही था जो कि 2000-01 में बढ़कर 40. 18% हो गया। ऊपर दिये गये आँकड़ों में ऐसे भी राज्य हैं, जहाँ सिंचित क्षेत्रफल बेहद कम है। ऐसे राज्यों में जंगल, पहाड़ और पठारी भूमि की अधिकता है, जो कि कृषि योग्य ही नहीं है। इसलिए जब भारत में सिंचाई सुविधाओं के विस्तार पर चर्चा होगी तो यह बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए।

सिंचाई के स्रोतों पर दृष्टि डालें तो नहरों द्वारा सिंचाई के अनुपात में कमी का रुझान दिखता है। 1970-71 में कुल सिंचित क्षेत्र में 41.28 प्रतिशत क्षेत्र की सिंचाई नहरों द्वारा होती थी जो कि 2000-01 में कम होकर 29.24 प्रतिशत रह गया। यह कमी सापेक्षिक है, निरपेक्ष नहीं। क्योंकि नहरों द्वारा कुल सिंचित क्षेत्र बढ़ा है। 1970-71 में यह क्षेत्रफल 1,28,38,000 हेक्टेयर था जो कि 2000-01 में बढ़कर 1,49,88,000 हेक्टअर हो गया। ट्यूबवेलों के मामले में सबसे तीव्र विकास दिखायी देता है। 1970-71 में कुल सिंचित क्षेत्र

तालिका-16 : खादों का उत्पादन और आयात (हज़ार टन में)				
वर्ष	उत्पादन	आयात	फॉस्फेटिक खादों का उत्पादन	नाईट्रोजनी खादों का उत्पादन
1951-52	38.7	52.0	9.0	9.0
1961-62	219.7	383.5	52.0	98.0
1971-72	1,239.5	997.0	229.0	830.0
1979-80	3,019.5	2,005.6	842.0	2,164.0
	अप्रैल/ दिसम्बर	अप्रैल/ सितम्बर	अप्रैल/ दिसम्बर	अप्रैल/ दिसम्बर
2003-04	10,677.20	1,685.17	2,631.30	8,045.90
2004.05	11,635.70	1,577.20	3,032.40	8,603.30

स्रोत : भारत 1982, भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के शोध और सन्दर्भ विभाग द्वारा एकत्रित वार्षिक सन्दर्भ, स्टेटिसटिकल एब्स्ट्रेक्ट 19, 79, मंथली रिव्यू ऑफ इण्डियन इकॉनॉमी, सीएमआईई, फरवरी 2005।

में ट्यूबवेलों से 14.34 प्रतिशत क्षेत्र की सिंचाई होती थी, जो 2000-01 में बढ़कर 60.86 प्रतिशत हो गया। यदि कुल क्षेत्रफल की बात करें तो 1970-71 में कुल सिंचित क्षेत्र में से 44,61,000 हेक्टेयर क्षेत्र की सिंचाई ट्यूबवेलों द्वारा होती थी, जो कि 2000-01 में बढ़कर 3,32,77,000 हेक्टेयर हो गया। (सीएमआईई, एग्रीकल्चर; मार्च, 2005)।

(ग) भारतीय कृषि में खादों की खपत सम्बन्धी आँकड़े :

भारतीय कृषि में खाद की खपत 1951 में केवल 69 हज़ार टन थी (एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लांस एण्ड बेसिक स्टेटिसटिक्स, 1989), जो कि 2000-01 में बढ़कर 16,631 हज़ार टन हो गयी। इस तरह, इस दौरान खाद की खपत में 241 गुना वृद्धि हुई। प्रति हेक्टर खादों की खपत देखें तो 1951 में यह 0.5 किग्रा./हेक्टेयर थी, जो कि 2000-01 में बढ़कर 88.93 कि.ग्रा./हेक्टेयर हो गयी। (तालिका-15) इस तरह खाद की प्रति हेक्टेयर खपत में 177 गुना बढ़ोत्तरी हुई।

भारत में खाद के उत्पादन पर दृष्टि डालें तो 1951-52 में भारत में खाद उत्पादन 38.7 हज़ार टन था, जो कि 2004-05 में बढ़कर 11635.70 हज़ार टन हो गया। (तालिका-16) इस तरह, भारत में खाद के उत्पादन में 300 गुना बढ़ोत्तरी हुई। 1951-52 में भारत विदेशों से

तालिका-17 : खादों की खपत (सम्पूर्ण भारत में)
(हज़ार टन में)

वर्ष	खरीफ	रबी	नाईट्रोजन	फॉस्फेट	पोटैशियम (क्षार)	कुल खपत	कि.ग्रा./हेक्टेयर
1950-51	--	--	--	--	--	--	0.5
1960-61	--	--	--	--	--	--	1.6
1966-67	--	--	--	--	--	--	7.0
1968-69	--	--	--	--	--	--	11.0
1971-72	1,091	1,566	1,798	558	301	2,657	11.08
1972-73	1,086	1,681	1,839	581	348	2,768	17.07
1973-74	1,215	1,624	1,829	650	360	2,839	16.71
1974-75	1,138	1,435	1,766	472	336	2,573	15.67
1975-76	1,007	1,887	2,149	467	276	2,874	16.89
1976-77	1,186	2,225	2,457	635	319	3,411	20.38
1977-78	1,552	2,734	2,913	867	506	4,286	24.88
1978-79	1,931	3,186	3,420	1,106	591	5,117	29.27
1979-80	2,059	3,197	3,498	1,151	606	5,255	30.99
1980-81	2,138	3,378	3,678	1,214	624	5,516	31.95
1981-82	2,310	3,757	4,069	1,322	676	6,067	34.33
1982-83	2,806	3,596	4,242	1,433	726	6,401	37.06
1983-84	3,216	4,495	5,204	1,730	775	7,716	42.94
1984-85	3,784	4,427	5,486	1,886	838	8,211	46.57
1985-86	4,004	4,470	5,661	2,005	808	8,474	47.48
1986-87	3,957	4,688	5,716	2,079	850	8,645	49.01
1987-88	3,780	5,004	5,717	2,187	880	8,784	51.64
1988-89	5,203	5,837	7,251	2,721	1,068	11,040	60.57
1989-90	5,373	6,195	7,386	3,014	1,168	11,568	63.47
1990-91	5,741	6,805	7,997	3,221	1,328	12,456	67.55
1991-92	5,894	6,834	8,046	3,321	1,361	12,728	69.84

(अगले पृष्ठ पर जारी)

1992-93	5,848	6,307	8,427	2,844	884	12,155	65.53
1993-94	5,606	6,761	8,788	2,669	909	12,366	66.34
1994-95	6,424	7,139	9,507	2,932	1,125	13,563	72.13
1995-96	6,928	6,948	9,823	2,898	1,156	13,876	74.38
1996-97	6,920	7,788	10,302	2,977	1,030	14,308	75.49
1997-98	8,092	8,103	10,905	3,917	1,373	16,195	84.98
1998-99	7,820	8,952	11,466	4,001	1,305	16,773	87.08
1999-2000	8,861	9,208	11,593	4,798	1,679	18,070	95.23
2000-01	8,052	8,579	10,862	4,212	1,557	16,631	88.93

स्रोत : छठी पंचवर्षीय योजना, पृष्ठ 14 और एग्रीकल्चर सीएमआईई, मार्च 2005)

तालिका-18 : खादों की खपत, राज्यवार
(हज़ार टन में)

राज्य	1995-96	1996-97	1997-98	1998-99	1999-2000	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04
आन्ध्र प्रदेश	1,751	1,769	1,695	2,008	2,119	2,175	1,957	1,673	1,853
अरुणाचल प्रदेश	-	1	1	1	1	1	1	75	73
असम	49	56	71	75	110	141	153	175	189
बिहार	720	786	860	824	857	980	758	-	695
छत्तीसगढ़	-	-	-	241	254	246	267	250	247
दिल्ली	19	24	30	15	20	5	4	314	158
गोवा	7	6	6	7	7	6	5	553	610
गुजरात	753	814	1,028	1,020	966	751	915	789	1,016
हरियाणा	724	761	838	838	902	930	984	924	1,022
हिमाचल प्रदेश	30	33	35	39	37	36	40	40	47
जम्मू-कश्मीर	51	43	61	71	63	65	70	65	80
झारखण्ड	-	-	-	-	-	-	109	-	115
कर्नाटक	937	826	1,109	1,149	1,272	1,348	1,249	1,100	926
केरल	203	188	219	182	211	173	177	205	192
मध्य प्रदेश	826	973	1,224	986	944	698	772	705	984
महाराष्ट्र	1,374	1,329	1,605	1,661	1,930	1,647	1,689	1,649	1,438
मेघालय	3	3	3	5	4	4	5	5	-
मिज़ोरम	1	-	1	1	2	1	2	2	-
नगालैण्ड	1	1	1	1	1	-	1	55	68
उड़ीसा	238	251	291	299	360	319	345	291	326
पंजाब	1,263	1,208	1,314	1,375	1,496	1,323	1,350	1,442	1,543
राजस्थान	643	700	787	727	817	665	789	550	779
सिक्किम	1	1	1	1	1	1	1	125	44
तमिलनाडु	755	791	942	951	1,052	963	938	743	713
मणिपुर	12	13	13	17	19	22	23	27	27
त्रिपुरा	8	9	10	11	9	9	14	9	13
उत्तरांचल	63	118	133	132	123	109	119	126	133
उत्तर प्रदेश,	2,605	2,768	3,030	2,933	3,117	2,962	3,352	3,245	3,295
पश्चिम बंगाल	848	846	876	964	1,232	1,085	1,178	1,168	1,116
भारत	13,876	14,308	16,195	16,773	18,070	16,631	17,036	16,094	16,798

स्रोत : एग्रीकल्चर सीएमआईई, मार्च 2005

52 हज़ार टन खाद आयात करता था जो कि 1979-80 में अपने शीर्ष पर चला गया, जब आयात बढ़कर 2005.06 हज़ार टन हो गया। परन्तु बाद में इसमें कमी का रुझान देखा जा सकता है। 2003-04 में भारत ने 1685.17 हज़ार टन खाद विदेशों से आयात की। 2004-05 में यह कम होकर 1577.20 हज़ार टन रह गयी।

हमारे नरोदवादी अक्सर यह प्रचार करते रहते हैं कि हमारे यहाँ उद्योगों का विकास नहीं हो रहा है, जिसमें कृषि से बाहर हो गयी आबादी समाहित हो सके। परन्तु खाद के उत्पादन से सम्बन्धित उपरोक्त आँकड़ों से ही देखा जा सकता है कि भारत में किस तीव्रता से उद्योगों का विस्तार हुआ है। भारत में पूँजी निर्माण से सम्बन्धित आँकड़े भी ऐसी ही तस्वीर पेश करते हैं। 1990-91 में भारत में 42,170 करोड़ रुपये का अचल पूँजी निर्माण हुआ, जिसमें कृषि का हिस्सा 4,286 करोड़ रुपये था और बाकी 37,884 करोड़ रुपये का अचल पूँजी निर्माण ग़ैर-कृषि क्षेत्रों (उद्योग एवं सेवा क्षेत्र) में हुआ। वैसे, इस सम्बन्ध में हमारे नरोदवादियों के तर्क कितने हास्यास्पद हैं और कैसे, तथ्यों से कोसों दूर हैं, यह एक अलग चर्चा का विषय है।

'भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों' के सम्पादक ने दावा किया है कि खाद की खपत के 25 प्रतिशत हिस्से का प्रयोग केवल पंजाब में ही होता है। सम्पादक ने इस आँकड़े का स्रोत बताने का कष्ट ही नहीं किया। 2003-04 में पंजाब में खाद की कुल खपत 1,543 हज़ार टन थी, जो भारत में कुल खाद खपत (16,798 हज़ार टन) का केवल 9 प्रतिशत ही बनता है (देखें तालिका 18)। लगता है अरविन्द की ही तरह सम्पादक का सामना भी कान के कच्चे पाठकों से होता रहा है, जो उसके निराधार बेसिर-पैर के तर्कों पर आँखें मूँद कर विश्वास कर लेते होंगे।

कृषि में बिजली का प्रयोग

वर्ष	किलोवाट प्रति हेक्टेयर
1951	1.5
1961	5.5
1971	27.0
1981	83.8
1985	116.1
1988	196.7

स्रोत : एग्रीकल्चरल स्टेटिसटिक्स एट ए ग्लान्स एंड बेसिक स्टेटिसटिक्स, 1989

कृषि में बिजली की खपत (अरब किलोवाट घण्टे में)

1950-51	0.199
1960-61	1.014
1970-71	5.69
1980-81	21.26
1985-86	32.54
1990-91	69.78
1995-96	117.39
1996-97	118.77
1997-98	126.51
1998-99	140.83
1999-2000	140.36
2000-01	133.87
2001-02	130.97

स्रोत : विभिन्न वार्षिक आर्थिक सर्वेक्षण तथा हैंडबुक ऑफ स्टेटिस्टिक्स रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया।

(घ) भारतीय कृषि में बिजली की खपत :

भारतीय कृषि में बिजली की खपत में तीव्र गति से वृद्धि का रुझान दिखायी पड़ता है। 1951-1988 के बीच किलोवाट प्रति हेक्टेयर बिजली की खपत में 131 गुना की बढ़ोत्तरी हुई और 1951-2000 के बीच बिजली की कुल खपत में 657 गुना वृद्धि हुई है। क्या भारतीय नरोदवादियों की आँखें खोलने के लिए यह वृद्धि पर्याप्त नहीं?

तालिका-19 : अधिक उपज देने वाली किस्मों के तहत क्षेत्रफल राज्यवार 1988-90 में प्रतिशत

आन्ध्र प्रदेश	74	मध्य प्रदेश	49
असम	51	महाराष्ट्र	63
बिहार	75	उड़ीसा	51
गुजरात	68	पंजाब	91
हरियाणा	83	राजस्थान	36
हिमांचल प्रदेश	64	तमिलनाडु	98
जम्मू कश्मीर	71	उत्तर प्रदेश	73
कर्नाटक	48	पश्चिम बंगाल	50
केरल	77	कुल भारत	64

स्रोत : बेसिक स्टेटिसटिक्स रिलेटेड टू इण्डियन इकॉनॉमी, वॉल्यूम 2, स्टेट्स (सितम्बर 1991), सीएमआईई, बॉम्बे।

II. भारतीय कृषि में उजरती श्रम

पूँजीवाद के लिए घरेलू बाज़ार के जन्म और विस्तार की प्रक्रिया जब कृषि को अपनी लपेट में ले लेती है तो किसानों के विभेदीकरण के परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र में एक ओर कृषि बुर्जुआ वर्ग का जन्म होता है तो दूसरी ओर कृषि सर्वहारा वर्ग का। जैसा कि लेनिन ने कहा है कि किसान समुदाय के बुर्जुआकरण से ग्रामीण क्षेत्र में पूँजीगत वस्तुओं का

तालिका-20 : समस्त ग्रामीण मुख्य श्रमिकों (Main Workers) में खेत-मज़दूरों का राज्यवार हिस्सा

राज्य	1971 में	1981 में	1991 में
आन्ध्र प्रदेश	42.25	42.01	47.51
असम	10.43	-	13.35
बिहार	41.75	38.44	40.23
गुजरात	28.34	29.62	30.67
हरियाणा	18.87	19.67	23.38
कर्नाटक	31.41	32.37	35.94
केरल	34.37	32.46	30.56
मध्य प्रदेश	29.52	27.45	27.03
महाराष्ट्र	38.15	35.14	36.61
उड़ीसा	30.21	30.14	31.43
पंजाब	24.80	28.52	30.75
राजस्थान	10.35	8.34	11.54
तमिलनाडु	38.10	40.28	44.73
उत्तर प्रदेश	22.22	17.91	21.47
पश्चिम बंगाल	35.00	33.58	32.24
भारत	30.71	29.88	31.64

स्रोत : प्राइमरी सेंसस एब्स्ट्रैक्ट (1971, 1981, 1991)

तालिका-21 कृषि श्रमिकों की संख्या का रुझान
(मिलियन में, 1 मिलियन = 10 लाख)

वर्ष	मुख्य श्रमिक	काश्तकार	खेत-मज़दूर
1951	140	69.90	27.30
	(100)	(49.90)	(19.50)
1961	188.70	99.60	31.50
	(100)	(52.80)	(16.70)
1971	180.40	78.20	47.50
	(100)	(41.57)	(26.52)
1981	222.50	92.50	55.50
	(100)	(41.57)	(24.94)
1991	285.40	102.70	74.60
	(100)	(38.78)	(26.14)
2001	313.17	127.63	107.45

स्रोत : कृषि मंत्रालय की आधिकारिक वेबसाइटें और भारत की जनगणना, 2001।

तालिका-24
भू-स्वामित्व अनुसार कुल ग्रामीण श्रमिकों में उजरती मज़दूरों का हिस्सा

भू-स्वामित्व (हेक्टेयर में)	उजरती मज़दूर	स्वामित्व तहत औसत क्षेत्र
0.00	13.6	0.00
0.01-0.40	68.6	0.09
0.41-1.00	13.2	0.67
1.01-2.00	3.4	1.39
2.01-4.00	1.0	2.64
4.01 और इससे ऊपर	0.2	7.24

स्रोत : एनएसएस रिपोर्ट सं. 458

तालिका-22 : भू-स्वामित्व के आकारानुसार ग्रामीण परिवारों की स्थिति
स्वामित्व के अन्तर्गत भूमि का आकार (हेक्टेयर में)

वर्ष	0.00	0.01-0.40	0.41-1.00	1.01-2.00	2.01-4.00	4.01 व अधिक
1993-94	12.9	40.4	18.7	14.0	8.8	5.2
’99-2000	7.2	51.0	19.1	11.5	7.3	3.9

स्रोत : एम्प्लॉयमेण्ट एंड अनएम्प्लॉयमेण्ट सिचुएशन इन इंडिया, एनएसएसओ, गवर्नमेण्ट ऑफ इंडिया

तालिका-23 : कृषि अन्तर्गत भूमि के आकारानुसार ग्रामीण परिवारों की स्थिति
कृषि के अन्तर्गत भूमि का आकार (हेक्टेयर में)

वर्ष	0.00	0.01-0.40	0.41-1.00	1.01-2.00	2.01-4.00	4.01 व अधिक
1987-88	35.41	9.1	17.3	13.9	8.5	5.8
1993-94	38.71	8.8	17.1	13.4	7.6	4.3
’99-2000	40.92	2.3	16.8	11.2	5.9	3.0

स्रोत : उपरोक्त

तालिका-25 : कुल श्रमिकों में खेत-मज़दूरों का प्रतिशत

	2001	1991	1991 में रैंक
भारत	26.5	27.4	
बिहार	48.0	43.7	1
आन्ध्र प्रदेश	36.9	41.8	2
मध्य प्रदेश	28.7	25.3	10
उड़ीसा	35.0	32.9	4
छत्तीसगढ़	31.9	25.1	11
तमिलनाडु	28.7	25.3	3
झारखण्ड	28.2	24.1	15
कर्नाटक	26.5	29.9	6
पश्चिम बंगाल	25.0	25.0	12
महाराष्ट्र	26.3	28.1	7
उत्तर प्रदेश	24.8	27.1	8
पंजाब	16.3	24.6	13
केरल	15.8	26.8	9
हरियाणा	15.3	19.7	17
राजस्थान	10.6	12.9	19

स्रोत : भारत की जनगणना, 2001

तालिका-26 : भारत में श्रम-शक्ति विभाजन

व्यवसाय	1972-73	1977-78	1983	1987-88	1993-94	1999-2000
कृषि	73.9	71.0	68.6	65.0	63.9	69.8
खानें	0.4	0.4	0.6	0.7	0.7	0.6
उद्योग	8.8	10.2	10.7	11.1	10.7	11.1
विद्युत, गैस और ऊर्जा	0.2	0.3	0.3	0.3	0.4	0.3
निर्माण कार्य	1.9	1.7	2.2	3.8	3.2	4.4
व्यापार	5.1	6.1	6.2	7.2	7.6	10.4
परिवहन और भंडारण	1.8	2.1	2.5	2.6	2.9	3.7
सेवाएँ	7.9	8.1	8.9	9.3	10.7	9.7
कुल	100	100	100	100	100	100

स्रोत : आल्टरनेटिव इकॉनॉमिक सर्वे, 2002-03, पृष्ठ 28।

तालिका-27

भू-स्वामित्व अनुसार राज्यवार भू-स्वामी, भूमिहीन और खेतिहर मज़दूरों का प्रतिशत विभाजन

(1999-2000 के अन्तर्गत)

क्र.सं.	राज्य और केन्द्र शासित प्रदेश	सभी ग्रामीण परिवार			ग्रामीण श्रमिक परिवार			खेत श्रमिक परिवार		
		भू-स्वामी	भूमिहीन	कुल	भू-स्वामी	भूमिहीन	कुल	भू-स्वामी	भूमिहीन	कुल
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
	मुख्य राज्य									
1.	आन्ध्र प्रदेश	47.65	52.53	100	36.32	63.38	100	39.37	60.63	100
2.	असम	64.42	35.58	100	37.74	62.26	100	38.43	61.57	100
3.	बिहार	53.34	46.66	100	27.80	72.20	100	28.25	71.75	100
4.	गुजरात	56.18	43.82	100	40.45	59.55	100	43.64	56.36	100
5.	हरियाणा	50.74	49.26	100	18.12	81.88	100	17.16	82.84	100
6.	कर्नाटक	55.79	42.21	100	41.71	58.29	100	42.98	57.02	100
7.	केरल	63.86	36.14	100	49.52	50.48	100	44.84	55.16	100
8.	मध्य प्रदेश	69.30	30.70	100	49.52	50.48	100	49.25	50.57	100
9.	महाराष्ट्र	54.05	45.95	100	41.08	58.92	100	44.84	55.16	100
10.	उड़ीसा	61.64	38.36	100	55.65	44.35	100	57.39	42.61	100
11.	पंजाब	38.81	61.19	100	8.79	91.21	100	9.03	90.97	100
12.	राजस्थान	78.17	21.83	100	62.56	37.44	100	50.60	49.40	100
13.	तमिलनाडु	33.02	66.98	100	21.31	78.79	100	23.90	76.10	100
14.	उत्तर प्रदेश	73.78	26.22	100	56.50	43.50	100	61.86	38.14	100
15.	पश्चिम बंगाल	50.21	49.79	100	34.68	65.32	100	36.23	63.77	100
	अन्य राज्य और केन्द्र शासित प्रदेश									
16.	अरुणाचल प्रदेश	74.62	25.38	100	41.18	58.82	100	57.86	42.14	100
17.	छत्तीसगढ़	76.22	23.38	100	70.50	29.50	100	72.54	27.46	100
18.	गोवा	31.18	68.82	100	34.99	65.01	100	33.48	66.52	100
19.	हिमाचल प्रदेश	82.56	17.44	100	79.69	20.31	100	82.92	17.08	100
20.	जम्मू-कश्मीर	86.71	13.29	100	79.06	20.94	100	82.17	17.83	100
21.	झारखण्ड	76.02	23.98	100	65.03	34.97	100	72.21	27.71	100
22.	मणिपुर	83.82	16.18	100	48.39	51.61	100	50.11	49.89	100
23.	मेघालय	87.58	12.42	100	61.10	38.90	100	72.07	27.93	100
24.	मिज़ोरम	85.57	14.43	100	64.06	35.94	100	60.38	39.62	100
25.	नगालैण्ड	89.46	10.54	100	59.32	40.68	100	64.50	35.50	100
26.	सिक्किम	64.88	35.12	100	47.62	52.38	100	88.36	11.64	100
27.	त्रिपुरा	42.15	57.85	100	23.95	76.05	100	28.38	71.62	100
28.	उत्तरांचल	74.82	25.18	100	41.89	58.11	100	37.43	62.57	100
29.	अण्डमान निकोबार द्वीप समूह	30.42	69.58	100	16.39	83.61	100	25.34	74.61	100
30.	चण्डीगढ़	17.97	82.03	100	1.55	98.45	100	4.53	95.47	100
31.	दादरा व नगर हवेली	64.46	32.54	100	67.92	32.08	100	67.53	32.47	100
32.	दमन और दीव	41.00	59.00	100	32.20	65.80	100	27.78	72.22	100
33.	दिल्ली	8.48	91.52	100	3.65	96.35	100	1.05	98.95	100
34.	लक्षद्वीप	69.39	30.61	100	33.33	66.67	100	81.20	18.80	100
35.	पाण्डिचेरी	13.58	86.42	100	6.76	93.24	100	6.80	93.20	100
	कुल भारत	**59.15**	**40.85**	**100**	**41.12**	**58.88**	**100**	**43.67**	**56.33**	**100**

स्रोत : एनएसएसओ 55वाँ चक्र, 1999-200।

तालिका-28
कृषि अन्तर्गत भूमि के आकारानुसार परिवारों की स्थिति और राज्यवार जोतों का आकार

क्र.सं.	राज्य और केन्द्र शासित प्रदेश	कृषि अन्तर्गत भूमि का औसत आकार (प्रति हलवाहक परिवार)		ज़मीन के आकारानुसार परिवारों का प्रतिशत (**1999-2000**)								
		1993-94	1999-200	भूमिहीन	0.01 से 0.20 हेक्टेयर	0.21 से 0.40 हेक्टेयर	0.41 से 0.60 हेक्टेयर	0.61 से 0.80 हेक्टेयर	0.81 से 1.00 हेक्टेयर	1.01 से 2.00 हेक्टेयर	2.01 से अधिक हेक्टेयर	कुल
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
	मुख्य राज्य											
1	आन्ध्र प्रदेश	0.21	0.20	63.60	10.90	10.80	3.00	5.50	1.90	3.80	0.50	100
2	असम	0.13	0.90	62.30	22.40	9.50	3.40	1.60	0.20	0.60	-	100
3	बिहार	0.13	0.04	72.10	21.10	5.20	1.10	0.30	0.20	-	-	100
4	गुजरात	0.25	0.17	59.60	14.10	12.30	6.00	3.80	1.80	2.10	0.30	100
5	हरियाणा	0.14	0.06	81.90	7.90	6.90	2.10	1.40	0.40	-	-	100
6	कर्नाटक	0.34	0.28	58.30	8.00	11.20	4.60	7.60	2.60	2.80	0.90	100
7	केरल	0.04	0.07	46.10	44.80	5.80	1.30	1.20	0.40	0.30	0.10	100
8	मध्य प्रदेश	0.44	0.35	50.40	9.40	9.70	9.80	7.20	4.40	0.30	0.10	100
9	महाराष्ट्र	0.42	0.32	59.00	9.20	6.70	4.10	5.90	4.30	9.30	1.50	100
10	उड़ीसा	0.27	0.21	44.30	19.70	20.00	7.80	5.30	1.70	1.10	0.10	100
11	पंजाब	0.04	0.03	91.10	6.00	1.10	0.80	0.40	-	0.40	0.20	100
12	राजस्थान	0.72	0.42	37.40	15.30	18.10	10.70	5.80	4.20	5.50	3.00	100
13	तमिलनाडु	0.09	0.07	78.70	9.40	6.80	2.30	1.70	0.50	0.60	-	100
14	उत्तर प्रदेश	0.20	0.13	43.50	34.10	15.30	3.60	1.70	1.00	0.60	0.20	100
15	पश्चिम बंगाल	0.10	0.07	65.30	22.10	10.30	1.30	0.30	0.20	0.40	0.10	100
	अन्य राज्य एवं केन्द्र शासित प्रदेश											
16	अरुणाचल प्रदेश	0.09	0.62	58.90	8.30	0.70	5.30	3.70	8.30	7.40	7.40	100
17	छत्तीसगढ़	-	0.38	29.40	14.60	18.50	16.00	11.20	4.00	5.90	0.40	100
18	गोवा	0.15	0.07	65.10	29.50	-	2.50	-	2.90	-	-	100
19	हिमाचल प्रदेश	0.21	0.21	20.40	45.70	22.00	6.40	3.50	0.90	0.80	0.30	100
20	जम्मू-कश्मीर	0.34	0.21	20.90	36.40	35.40	6.30	0.30	0.20	0.50	-	100
21	झारखण्ड	-	0.17	35.00	36.60	18.80	3.60	3.70	1.00	1.30	-	100
22	मणिपुर	0.15	0.09	51.60	27.40	18.20	2.80	-	-	-	-	100
23	मेघालय	0.12	0.19	39.00	30.70	18.50	5.10	3.50	0.60	2.60	-	100
24	मिज़ोरम	1.78	0.37	36.00	8.60	16.10	16.30	19.20	3.20	0.60	-	100
25	नगालैण्ड	0.55	0.56	40.50	4.00	21.70	-	10.20	6.40	7.90	9.30	100
26	सिक्किम	0.24	0.12	52.40	24.80	19.10	2.10	1.60	-	-	-	100
27	त्रिपुरा	0.09	0.05	76.10	15.40	6.50	1.00	0.50	-	0.50	-	100
28	उत्तरांचल	-	0.09	58.10	26.30	11.80	1.30	-	-	2.50	-	100
29	अण्डमान निकोबार	0.11	0.13	83.60	3.40	1.80	4.20	2.70	0.50	2.70	1.10	100
30	चण्डीगढ़	-	0.01	98.50	-	1.10	-	0.30	-	-	1.10	100
31	दादरा व नगर हवेली	0.45	0.22	32.10	20.90	34.40	5.70	6.90	-	-	-	100
32	दमन और दीव	0.15	0.05	65.80	29.10	4.10	1.00	-	-	-	-	100
33	दिल्ली	-	0.01	96.40	2.70	-	-	-	-	0.90	-	100
34	लक्षद्वीप	-	0.01	66.70	33.30	-	-	-	-	-	-	100
35	पाण्डिचेरी	0.03	0.02	93.30	4.30	1.20	0.40	0.40	-	0.40	-	100
	भारत	0.23	0.16	58.90	19.60	10.60	4.10	3.60	1.70	3.00	0.50	100

(स्रोत : एनएसएसओ, 55वां चक्र 1999-2000)

बाज़ार उत्पन्न होता है और दूसरी ओर कृषि सर्वहारा की श्रम शक्ति स्वयं एक माल बन जाती है। ऊपर हमने कृषि बुर्जुआ वर्ग द्वारा कृषि में पूँजी निर्माण पर पर्याप्त चर्चा की है। आइये अब हम भारतीय कृषि में उजरती श्रम के प्रश्न पर आते हैं।

तालिका-29
भारत में कुल श्रमिकों में काश्तकारों का प्रतिशत

	वर्ष 2001	वर्ष 1991
भारत	31.7	39.7
नगालैण्ड	64.7	72.6
अरुणाचल प्रदेश	57.8	60.8
छत्तीसगढ़	44.5	56.6
मध्य प्रदेश	52.8	50.3
झारखण्ड	38.5	50.8
हरियाणा	36.0	41.0
उड़ीसा	29.8	42.4
बिहार	29.3	41.1
कर्नाटक	29.2	35.4
महाराष्ट्र	28.7	34.0
गुजरात	27.3	33.7
पंजाब	22.6	31.7
आन्ध्र प्रदेश	22.5	27.7
पश्चिम बंगाल	19.2	29.2
तमिलनाडु	18.4	25.2
केरल	7.0	13.2
उत्तर प्रदेश	41.7	53.4

स्रोत : भारत की जनगणना, 2001

तालिका-30
भारत के ग्रामीण क्षेत्र में व्यवसाय के अनुसार ग्रामीण परिवारों का विभाजन

व्यवसाय	1987-88	1993-94	1999-2000
कृषि में स्वरोज़गार	37.7	37.8	32.7
ग़ैर-कृषि व्यवसाय में स्वरोज़गार	12.3	12.7	13.4
खेत-मज़दूर	30.7	30.3	32.2
अन्य मज़दूर	9.0	8.0	80.0

स्रोत : एनएसएस एम्प्लॉयमेण्ट एण्ड अनएम्प्लॉयमेण्ट सर्वे, 1999-2000

(क) कृषि में उजरती श्रम से सम्बन्धित आँकड़े :

पिछले एक दशक से भारत के ग्रामीण क्षेत्र में भूमिहीनता का रुझान भी तेजी से बढ़ा है। पंजाब और आन्ध्र प्रदेश दो ऐसे राज्य हैं जो इस रुझान में सबसे आगे हैं। नीचे हम इसी रुझान सम्बन्धी आँकड़े दे रहे हैं।

23 मई, 2003 के 'फ्रण्टलाइन' में जयति घोष लिखती हैं, "सम्पूर्ण भारत में कुल ग्रामीण परिवारों में भूमिहीन परिवारों के प्रतिशत में बड़े पैमाने पर बढ़ोत्तरी हुई है--यह 1987-88 में 35 प्रतिशत से बढ़कर 41 प्रतिशत हो गया।"

2001 में भारत में कुल श्रमिकों में काश्तकार 31.7 प्रतिशत थे, जबकि खेत-मज़दूर 26.5 प्रतिशत थे। 1991 में काश्तकारों की संख्या खेत-मज़दूरों से 12.3 प्रतिशत अधिक थी, जबकि 2001 में दोनों का अन्तर कम होकर 5.2 प्रतिशत रह गया (तालिका 25 एवं 29)। इस तरह भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में खेत-मज़दूरों की संख्या, काश्तकारों के लगभग बराबर होने को है। 2001 में काश्तकारों की संख्या 127.63 मिलियन थी जबकि खेत-मज़दूर 107.45 मिलियन थे। (तालिका-21)

2001 में उजरती मज़दूरों की संख्या के सन्दर्भ में पूँजीवादी कृषि के सबसे अग्रणी राज्य पंजाब का स्थान तेरहवाँ था। जबकि 12 राज्य इससे आगे थे। बिहार, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, कर्नाटक, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, केरल, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल जैसे राज्य इस मामले में पंजाब से आगे थे। 1991 में खेत-मज़दूरों की संख्या के मामले में आन्ध्र प्रदेश पहले स्थान पर था जबकि बिहार दूसरे स्थान पर (तालिका-20)। 2001 में बिहार ने इसमें आन्ध्र प्रदेश को पीछे छोड़ दिया।

तालिका-22 और 23 में भूस्वामित्व तथा कृषि अन्तर्गत भूमि के आकार के अनुसार ग्रामीण मज़दूरों के विभाजन के आँकड़े दिये गये हैं। तालिका-22 के अनुसार 1993-94 में 12.9 प्रतिशत ग्रामीण मज़दूर परिवार भूमिहीन थे और 1999-2000 में 7.2 प्रतिशत थे। जबकि 0.40 हेक्टेयर तक के स्वामित्व वाले ग्रामीण मज़दूर परिवारों की संख्या 1993-94 में 44.4 प्रतिशत तथा 1999-2000 में 51.0 प्रतिशत थी।

तालिका-23 में कृषि जोतों के अनुसार 1993-94 में 38.7 प्रतिशत और 1999-2000 में 40.9 प्रतिशत भूमिहीन परिवार थे। इससे स्पष्ट है कि क़ानूनी रूप से तो खेत-मज़दूरों के पास नाम मात्र का स्वामित्व है, पर उनमें से अधिकांश उस ज़मीन पर खेती कर सकने की स्थिति में ही नहीं हैं। या तो ज़मीन ही कृषि योग्य नहीं है या फिर उनके पास इतनी पूँजी नहीं कि वे उस ज़मीन पर खेती कर सकें।

तालिका-24 से स्पष्ट है कि 0.00 से 0.40 हेक्टेयर तक के स्वामित्व वाले ग्रामीण परिवारों में से 82.2 प्रतिशत उजरती मज़दूरी करते थे, जिनके स्वामित्व के तहत आने वाला क्षेत्र केवल 0.09 हेक्टेयर था। 0. 41-2.00 हेक्टेयर तक के स्वामित्व वाले ग्रामीण परिवारों में से 16.6 प्रतिशत उजरती मज़दूरी करते थे, जिनके स्वामित्व के अन्तर्गत औसत क्षेत्र 1.39 हेक्टेयर था। तालिका-24 और 29 में वर्ष 2000 में यदि कुल श्रमिकों के प्रतिशत से काश्तकारों और खेत-मज़दूरों की तुलना करें तो दिखायी पड़ता है कि बिहार, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, केरल आदि ऐसे राज्य हैं जिनमें खेत-मज़दूरों की संख्या काश्तकारों से अधिक है। ये वे राज्य हैं, जिन्हें भारतीय नरोदनिक सामन्तवाद का गढ़ मानते हैं। इन 6 राज्यों में काश्तकारों की औसत संख्या 21 प्रतिशत बनती है जिनमें से केरल में केवल 7 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल में 19.2 प्रतिशत, तमिलनाडु में 18.4 प्रतिशत, बिहार में 29.3 प्रतिशत, उड़ीसा में 29.3 प्रतिशत और आन्ध्र प्रदेश में 22.5 प्रतिशत काश्तकार हैं। सम्पूर्ण भारत में काश्तकार काम करने वाली कुल आबादी का 31.7 प्रतिशत बनते हैं। क्या हमारे नरोदनिक आबादी के इसी प्रतिशत से भारत में कृषि क्रान्ति करेंगे?

तालिका-26 के अनुसार भारत में कृषि में लगी श्रम शक्ति 1972-73 में 73.9 प्रतिशत से कम होकर 1999-2000 में 59.8 प्रतिशत रह गयी। विभिन्न राज्यों के आँकड़ों को देखें तो 2001 में केरल में 22.8 प्रतिशत (सबसे कम), पंजाब में 38.9 प्रतिशत, तमिलनाडु में 47.1 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल में 44.2 प्रतिशत, कर्नाटक में 55.7 प्रतिशत, हरियाणा में 51.3 प्रतिशत, महाराष्ट्र में 55 प्रतिशत आदि ऐसे राज्य हैं, जिनमें काश्तकारों की संख्या राष्ट्रीय औसत से भी कम है। तालिका-27 का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि 1999-2000 के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत में कुल ग्रामीण परिवारों में से 40.85 प्रतिशत परिवार भूमिहीन थे। ग्रामीण मज़दूर परिवारों में से 58.88 प्रतिशत भूमिहीन और खेत-मज़दूर परिवरों में से 57.33 प्रतिशत भूमिहीन परिवार थे।

तालिका-28 में कृषि अन्तर्गत भूमि के आकार के अनुसार देखें तो भारत के ग्रामीण क्षेत्र में 58.90 प्रतिशत परिवार भूमिहीन थे।

तालिका-27 से स्पष्ट है कि 1999-2000 में आन्ध्र प्रदेश में 60.63 प्रतिशत, असम में 61.57 प्रतिशत, बिहार में 71.75 प्रतिशत, हरियाणा में 82 प्रतिशत, पंजाब में 90.97 प्रतिशत, तमिलनाडु में 76. 10 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल में 63.77 प्रतिशत, त्रिपुरा में 71 प्रतिशत, उत्तरांचल में 62 प्रतिशत खेत-मज़दूर भूमिहीन थे।

उजरती श्रम के प्रश्न पर भारतीय नरोदनिकों के कुतर्क

'भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों' पुस्तक में श्री अरविन्द लिखते हैं, "आखिरकार, यदि यहाँ पूँजीवादी कृषि है तो अनिवार्य रूप से यहाँ कोई पूँजीपति और इसका विरोधी स्वतंत्र उजरती मज़दूर भी होना चाहिए...

"पूँजीवाद के अस्तित्व के लिए अनिवार्यतः पूँजीपति और स्वतंत्र उजरती मज़दूर होने चाहिए। स्वतंत्र उजरती मज़दूरों का मतलब है कि ऐसा श्रम, जहाँ मज़दूर के पास अपनी श्रम शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ न हो और वह किसी भी रूप में उत्पादन साधनों के मालिकाने से बँधा हुआ न हो। पूँजीवाद का एक महत्वपूर्ण पहलू है कि श्रमशक्ति उत्पादन साधनों से अनिवार्यतः पृथक होनी चाहिए। उदारहणस्वरूप यदि कोई मज़दूर अपने औज़ार लेकर काम पर जाता है तो वह पूरी तरह स्वतंत्र मज़दूर नहीं है, क्योंकि वह उत्पादन का कोई न कोई साधन रखता है। स्वतंत्र उजरती मज़दूर का अर्थ है कि वह किसी भी रूप में बँधुआ नहीं है अर्थात यह पारिवारिक मज़दूरी नहीं होनी चाहिए। काम के घण्टे बेशक कितने ही हों, निश्चित होने चाहिए, वेतन की अदायगी निश्चित समय के आधार पर होनी चाहिए, अदायगी वस्तु के रूप में नहीं, बल्कि नकद होनी चाहिए इत्यादि। सामाजिक पड़ताल (करने वाले) को उत्पादन में लगे श्रम के चरित्र को समझने की आवश्यकता है। यदि यह पूरी तरह स्वतंत्र है तो इसका अर्थ है कि यह पूँजीवादी है। यदि यहाँ निर्भरता की झलक दिखायी पड़ती है तो यह अतिरिक्त मूल्य उगाही के पूर्ववर्ती पूँजीवादी/अर्द्ध-सामन्ती प्रणाली की विभिन्न मात्रा को ही दर्शाती है।

"इसलिए बेशक हरित क्रान्ति से कृषकों की बड़ी संख्या उत्पादन साधनों और ज़मीन से विहीन हो गयी है, बेशक उजरती मज़दूरों में वृद्धि हो गयी है, फिर भी यह देखना चाहिए कि मज़दूरों का बड़ा हिस्सा लगातार स्वतंत्र उजरती मज़दूरों का स्वरूप धारण करता है या नहीं। इसलिए हर क्षेत्र में यह अनिवार्य ही देखा जाना चाहिए कि क्या ग्रामीण सर्वहारा और ग्रामीण बुर्जुआ में स्पष्ट अन्तर/वर्ग-विभाजन हो गया है या नहीं? भारत में उद्योगों में महत्वपूर्ण विकास न होने के कारण मज़दूरों का निरन्तर उजड़ना किसान समुदाय की बढ़ रही दरिद्रता से जुड़कर श्रम शक्ति की अधिक मात्रा को माल में परिवर्तित कर देगा। तब भी श्रम शक्ति की यह बिक्री पूँजीवादी उत्पादन को छोड़कर साधारण माल उत्पादन का स्वरूप ही धारण करेगी। उदाहरणस्वरूप एक मध्यवर्ती किसान अपनी पारिवारिक मेहनत से अपने कृषि कार्य को पूरा करने में असमर्थ है और इस तरह वह सीज़न में तीन या चार मज़दूर काम पर लगाता है। यदि उसके उत्पादन का बड़ा हिस्सा उसके परिवार द्वारा उपभोग कर लिया जाता है, उसके द्वारा उजरती मज़दूरों की लूट से भी उसे अतिरिक्त मूल्य प्राप्त नहीं होता है तो यह साधारण माल उत्पादन का ही रूप है, भले ही उसका माल कोई वाणिज्यिक फसल जैसे कपास ही हो। यह देखना चाहिए कि भारत के ग्रामीण क्षेत्र में बेची जाने वाली श्रम शक्ति की कितनी मात्रा यह रूप धारण करती है, और बेशक इससे माल उत्पादन का प्रसार होता है, घरेलू बाज़ार फैलता है और वर्ग सम्बन्धों में भी कुछ परिवर्तन आता है। परन्तु मूल रूप से यह पूँजीवाद या ग्रामीण पूँजीपति वर्ग पैदा किये बिना ही छोटे पैमाने की कृषि के विकास से साधारण माल उत्पादन का रूप ही धारण करता है। इसके साथ ही यह जाँचा जाना चाहिए कि किस सीमा तक बटाईदार के रूप में लेबर सर्विस और पारिवारिक सहयोग का सहअस्तित्व है और कैसे यह भारतीय कृषि में उजरती मज़दूरी की व्यवस्था के उभार से जुड़कर जारी रहता है (पृष्ठ 6-7, ज़ोर मूल में)।"

तालिका-28 में दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है कि 58.90 प्रतिशत ग्रामीण मज़दूर भूमिहीन हैं। जबकि 35.9 प्रतिशत ग्रामीण मज़दूरों के पास 0.80 हेक्टेयर तक का भू-स्वामित्व है। इन तथ्यों के आधार पर ही देखा जा सकता है कि भारत में श्रम शक्ति किस सीमा तक उत्पादन के साधनों से पृथक्कृत हो चुकी है। पर क्या यह अनिवार्य है जैसा कि श्री अरविन्द लिखते हैं, "श्रम शक्ति उत्पादन के साधनों से अनिवार्यतः ही पृथक्कृत होनी चाहिए।" आइये देखें कि लेनिन के इस बारे में क्या विचार हैं :

"अगर मज़दूर के पास ज़मीन नहीं है तो पूँजीवाद है; अगर उनके पास ज़मीन है तो पूँजीवाद नहीं है। और वे इस राहत देने वाले दर्शन में सिमटे रहते हैं, तथा अर्थव्यवस्था के पूरे सामाजिक संगठन को नहीं देख पाते और इस आम तौर पर ज्ञात तथ्य को भूल जाते हैं कि ज़मीन का मालिकाना ज़मीन के इन मालिकों की भयंकर दरिद्रता को कतई दूर नहीं करता जो दूसरे ऐसे "किसान" भूस्वामियों द्वारा बेशर्मी से लूटे जाते हैं।

"ऐसा लगता है कि वे नहीं जानते कि पूँजीवाद अपने विकास की अपेक्षाकृत निम्न अवस्था में, कहीं भी मज़दूर को पूरी तरह ज़मीन से अलग नहीं कर सका था। पश्चिमी यूरोप के लिए, मार्क्स ने यह नियम स्थापित किया था कि केवल बड़े पैमाने का मशीन उद्योग ही मज़दूर का हमेशा के लिए स्वत्वहरण करता है। इसलिए ज़ाहिर है कि इस घिसे-पिटे तर्क का कोई मतलब नहीं कि चूँकि "लोग ज़मीन के मालिक हैं" इसलिए हमारे देश में पूँजीवाद नहीं है, क्योंकि सरल सहकारिता और मैन्युफैक्चर का पूँजीवाद कहीं भी ज़मीन से मज़दूरों के पूर्ण पृथक्करण से जुड़ा नहीं रहा है, और कहने की ज़रूरत नहीं कि इस कारण से यह नहीं हुआ कि वह पूँजीवाद न रह गया हो (लेनिन, "जनता के मित्र" क्या हैं और वे सामाजिक-जनवादियों से कैसे लड़ते हैं?, पृष्ठ 92, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

अरविन्द के निबन्ध के उद्धृत अंश से यह स्पष्ट है कि उजरती मज़दूरी का प्रश्न उनके लिए एक खुला प्रश्न है, उनके लिए यह सारा मामला जाँचने-परखने का है। उनका कहना है, "भारत, जहाँ उद्योगों का महत्वपूर्ण विकास नहीं हुआ है, मज़दूरों का निरन्तर उजड़ना, किसानों समुदाय की लगातार बढ़ रही दरिद्रता के साथ जुड़कर श्रम शक्ति की अधिक मात्रा को माल में परिवर्तित कर देगा तब भी श्रम शक्ति की यह बिक्री पूँजीवादी उत्पादन की जगह साधारण जिंस (माल) उत्पादन का रूप ही धारण करेगी। ...मूल रूप से यह पूँजीवाद या ग्रामीण पूँजीवाद को पैदा किये बिना ही छोटे पैमाने की खेती के विकास से साधारण माल उत्पादन का रूप ही धारण करती है।"

नरोदवादी लोकरंजकतावादी होते हैं और लोकरंजकतावादी रूपवादी, रूपवादी रोमांसवादी होते हैं, जो सिद्धान्त के क्षेत्र में कल्पनावादी उड़ानें भरते हैं और व्यवहार में बेहद प्रतिक्रियावादी भूमिका निभाते हैं। ये तथ्यों से सच निकालने का कष्ट किये बिना काल्पनिक निष्कर्षों से ही काम चला लेते हैं। श्री अरविन्द ने न तो यह बताया है कि मज़दूरों के निरन्तर उजड़ने की वजह क्या है और न ही इस बात पर प्रकाश डाला है कि यदि भारत में उद्योगों का महत्वपूर्ण विकास नहीं हुआ और न ही हो रहा है और यह विकास कृषि में पूँजीवादी विकास को बढ़ावा नहीं दे रहा है तो किसान समुदाय के दारिद्रय की वजह क्या है? और यह मनगढ़न्त निष्कर्ष निकाला है कि यहाँ श्रमशक्ति की बिक्री पूँजीवाद या ग्रामीण पूँजीवाद पैदा किये बिना ही छोटे पैमाने की कृषि के विकास से साधारण जिंस (माल) उत्पादन का रूप धारण करती है। भारतीय कृषि में पूँजी निर्माण और उजरती मज़दूरी सम्बन्धी दिये गये आँकड़ों से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द का यह निष्कर्ष भारत की ज़मीनी हकीकतों से पूरी तरह बेमेल है।

तालिका-31 अनाज और दालों की शुद्ध उपलब्धता

वर्ष	आबादी (लाखों में)	प्रति व्यक्ति प्रति दिन शुद्ध उपलब्धता (ग्राम में)		
		अनाज	दालें	कुल
1951	3,632	334.2	66.7	394.9
1961	4,424	399.7	69.0	468.7
1971	5,513	417.6	51.2	468.8
1981	6,685	417.3	37.5	454.8
1991	8,477	470.7	40.3	511.0

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 1992-93

तालिका-32
तीन अग्रणी राज्यों में प्रति व्यक्ति मासिक खर्च (रुपयों में)

राज्य	ग्रामीण	शहरी
केरल	981	1,300
पंजाब	886	1,250
हरियाणा	781	1,141

स्रोत : इकॉनॉमिक टाइम्स, 4 अप्रैल, 2005

अरविन्द लिखते हैं कि, "यह भी देखा जाना चाहिए कि किस सीमा तक बटाईदार के रूप में लेबर सर्विस और पारिवारिक सहयोग का सहअस्तित्व है और कैसे यह भारतीय कृषि में उजरती मज़दूरी के प्रबन्ध से जुड़कर जारी रहते हैं।" भारतीय कृषि में उत्पादन सम्बन्धों की जाँच के लिए अरविन्द द्वारा गिनाये गये अन्य सारे कारकों की ही तरह यह उजरती मज़दूरी का प्रश्न भी उस जाँच-पड़ताल के लिए अभी खुला हुआ सवाल है। परन्तु हमारा यह कहना है कि यदि लेबर सर्विस जैसे क्रियाकलापों का उजरती मज़दूरी के प्रबन्ध से सहअस्तित्व बना रहता है तो भी कृषि में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध हो सकते हैं। इस विषय में लेनिन ने कहा है :

"अन्त में, पूँजीवादी कृषि की सीमाएँ तय करने वाली स्थितियों में, काउत्सकी इस तथ्य की ओर भी इशारा करते हैं कि ग्रामीण आबादी के प्रवजन के कारण होने वाली मज़दूरों की कमी बड़े भूस्वामियों को मजबूर करती है कि वे मज़दूरों को पट्टे पर ज़मीन दें, ताकि भूस्वामी को श्रमशक्ति मुहैया करने के लिए एक छोटी किसान आबादी सृजित की जा सके। पूर्णतः सम्पत्तिविहीन खेतिहर मज़दूर दुर्लभ है क्योंकि कृषि में ग्रामीण अर्थव्यवस्था, कठोर अर्थों में, घरेलू अर्थव्यवस्था से जुड़ी होती है। खेतिहर उजरती मज़दूरों की पूरी की पूरी श्रेणियों के पास ज़मीन का मालिकाना या उसके उपयोग का अधिकार होता है। जब छोटे पैमाने के उत्पादन का ख़ात्मा बहुत अधिक हो जाता है, तो **बड़े भूस्वामी ज़मीन की बिक्री या लीज़ के द्वारा इसे मजबूत बनाने या इसमें फिर जान फूँकने की कोशिश करते हैं** (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 4, पृ. 136, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा, ज़ोर मूल में)।"

इस तरह लेबर सर्विस या दस्तकारी जैसी पुरानी परिघटनाएँ जब पूँजीवाद द्वारा अपने अधीन कर ली जाती हैं तो उनका रूप भले ही बना रहे परन्तु उनकी अन्तर्वस्तु बदल जाती है। इसलिए हमने ऊपर लिखा है कि नरोदवादी रूपवादी होते हैं। वह रूप से ही निष्कर्ष निकाल लेते हैं। वे परिघटना की अन्तर्वस्तु तक नहीं पहुँचते हैं। वह परिघटनात्मक यथार्थ को ही सब कुछ समझ लेते हैं और सतह को भेदकर संरचनात्मक यथार्थ तक पहुँचने की पद्धति को नहीं अपनाते। इस तरह नरोदवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्वदृष्टिकोण से नहीं, बल्कि आधिभौतिक प्रत्ययवादी विश्वदृष्टिकोण के चश्मे से संसार को देखते हैं। इस दृष्टि-दोष के कारण उन्हें यह विश्व वैसा नहीं दिखायी देता जैसा कि यह है।

II. घरेलू बाज़ार के विस्तार सम्बन्धी कुछ और आँकड़े

1951 से 1991 तक भारत की आबादी में दो गुने से भी अधिक की वृद्धि हुई। इसके बाद भी प्रति व्यक्ति प्रति दिन अनाज और दालों की खपत 1951 के मुकाबले 394.9 से बढ़कर 1991 में 511 ग्राम हो गयी।

2. उत्पादकता का रुझान

भारत में अनाज उत्पादन 1950-51 में 50.8 मिलियन टन से बढ़कर 1999-2000 में 208.87 मिलियन टन हो गया और इस दौरान उत्पादकता 522 किग्रा. प्रति हेक्टेयर से बढ़कर 1,697 किग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गयी। (दि हिन्दू सर्वे ऑफ इण्डियन एग्रीकल्चर, 2002)

तालिका-33 : उपभोग व्यय

कुल भारत

क्रमांक	मद	1963-65	1974-75	1977-78	1983	1987-88	1993-94	1999-2000
		विभिन्न वस्तुओं पर परिवार का वार्षिक खर्च (रुपये में एवं प्रतिशत में)						
1	2	3	4	5	6	7	8	9
(क) ग्रामीण मज़दूर परिवार								
1	भोजन	771	1,71	2,048	3,425	4,674	8,135	14,218
		(73.3)	(78.4)	(67.7)	(68.2)	(66.2)	(65.3)	(61.4)
2	कपड़े, बिस्तर एवं जूते	72	105	241	365	439	622	1,751
		(6.8)	(4.2)	(8.0)	(7.3)	(6.2)	(5.0)	(7.6)
3	ईंधन तथा रोशनी	79	168	217	403	604	1,006	1,868
		(7.5)	(6.7)	(7.2)	(8.0)	(8.6)	(8.1)	(8.1)
4	नशे	42	78	112	191	293		
		(4.1)	(3.1)	(3.7)	(3.8)	(4.2)		
5	घर का किराया	-	2	-	-	45	33	79
			(0.1)			(0.2)	(0.3)	(0.3)
6	सेवाएँ तथा फुटकल खर्च	87	190	405	640	1,030	2,158	4,398
		(8.3)	(7.5)	(13.4)	(12.7)	(14.6)	(17.3)	(19.0)
7	कुल उपभोग व्यय	1,051	2,514	3,023	5,024	7,055	12,448	23,152
		(100)	(100)	(100)	(100)	(100)	(100)	(100)
(ख) कृषि मज़दूर परिवार								
1	भोजन	760	1,926	1,944	3,295	4,483	7,788	13,668
		(73.9)	(78.8)	(68.6)	(68.7)	(67.1)	(66.3)	(62.4)
2	कपड़े, बिस्तर एवं जूते	69	99	215	347	402	578	1,667
		(6.7)	(4.1)	(7.6)	(7.2)	(6.4)	(4.9)	(7.6)
3	ईंधन तथा रोशनी	78	164	206	392	590	976	1,783
		(7.6)	(6.7)	(7.3)	(8.2)	(8.8)	(8.3)	(8.1)
4	नशे	41	74	105	179	274	461	780
		(4.0)	(3.1)	(3.7)	(3.7)	(4.1)	(3.9)	(3.6)
5	घर का किराया	-	1	-	-	7	15	34
						(0.1)	(0.1)	(0.1)
6	सेवाएँ तथा फुटकल खर्च	80	179	363	587	925	1,941	3,986
		(7.8)	(7.3)	(12.8)	(12.2)	(13.9)	(16.5)	(18.2)
7	कुल उपभोग व्यय	1,028	2,443	2,833	4,800	6,681	11,759	21,918
		(100)	(100)	(100)	(100)	(100)	(100)	(100)

स्रोत : एनएसएसओ 55वाँ चक्र, 1999-2000

कृषि में उत्पादकता के रुझान सम्बन्धी भारतीय नरोदवादियों के निराले सिद्धान्त

'भारत का चरित्र अर्द्ध-सामन्ती क्यों' नामक पुस्तक में श्री अरविन्द लिखते हैं, "पूँजीवाद का यह आम नियम है कि प्रतियोगिता के बाज़ार में जीवित रहने के लिए उत्पादकता अनिवार्यतः लगातार विकसित होती रहनी चाहिए। हरित क्रान्ति के प्रारम्भिक दौर में, कृषि उत्पादकता में निश्चित रूप से वृद्धि हुई थी। लेकिन उसके बाद 1980 के दशक के मध्य में ही यह वृद्धि दर बुरी तरह गिर गयी। पर्यावरण की तबाही और सरकारी निवेश में गिरावट, विशेषकर 1990 और उसके बाद के दौर में, उत्पादकता में महत्वपूर्ण गिरावट का कारण बनी। किस सीमा तक यह उत्पादकता कम हुई है इसका विश्लेषण करना होगा और पूँजी संचय पर इसके प्रभाव को जाँचना होगा। भारत जैसी कृषि अर्थव्यवस्थाओं में यह कमी मुख्यतः साम्राज्यवाद के प्रभाव के कारण हुई है।

"इसी प्रकार, लागतों और उत्पादन की कीमतों के बीच इतना अन्तर क्यों है? इसके दो कारण हैं : पहला, कृषि लागतों की कीमतें ऊँची रखी जाती हैं ताकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और बड़े दलाल पूँजीपतियों को बड़े मुनाफ़े प्राप्त हों, जो कि खाद, कीटनाशक, दवाइयाँ, ट्रैक्टर, पम्पसेट्स आदि बनाते हैं। जबकि कृषि उत्पाद की कीमतें कम रखी जाती हैं ताकि उद्योगों और साम्राज्यवादियों के लिए सस्ता कच्चा माल

तालिका-34 : उत्पादकता में वृद्धि--मुख्य फसलें
(हज़ार टन और प्रतिशत)

फसल	1950-51	1960-61	1950-51 और 1960-61 के बीच प्रतिशत वृद्धि	1973-74	1960-61 और 1973-74 के बीच प्रतिशत वृद्धि	1978-79	1973-74 और 1978-79 के बीच प्रतिशत वृद्धि	1950-51 और 1978-79 के बीच प्रतिशत वृद्धि
कुल अनाज[1]	50,825	82,018	61.4	1,04,665	27.6	1,31,370	25.5	158.5
पाँच प्रमुख तिलहन[2]	5,158	6,982	35.3	8,554	26.8	9,553	7.9	85.2
कपास (लिंट)[3]	3,044	5,604	84.1	6,309	12.06	7,927	25.6	160.4
जूट[4]	3,309	4,134	24.9	6,220	50.4	6,454	30.8	95.0
चाय5	275	321	16.7	472	47.0	571	21.0	107.6
कॉफी	25	43	72.0	86	100.0	110	28.0	340.0
रबड़	14	25	78.6	125	400.0	135	8.0	864.3
गन्ना	57,051	1,10,001	92.8	1,40,805	28.0	1,56,450	11.1	174.2
तम्बाकू	261	307	17.6	462	50.5	451	(--) 2.4	72.8
आलू	1,660	2,719	63.8	4,861	78.8	10,125	108.3	509.9
अफीम	0.6	0.9	50.0	1.1	22.2	1.8	63.6	200.6
नारियल (मिलियन में)	3,582	4,629	29.5	5,851	26.1	5,471	(--) 6.5	52.2

1. कुल अनाज : चावल, ज्वार, बाजरा, मकई, गेहूँ, चना, मोटा अनाज, जौ, अरहर और अन्य दालें। **2.** पाँच प्रमुख तिलहन : मूँगफली, तिल, सरसों, अलसी और अरण्डी। **3.** कपास प्रति गाँठ 170 किलोग्राम के हिसाब से 1000 गाँठों में। **4.** जूट प्रति गाँठ 180 किलोग्राम के हिसाब से 1000 गाँठों में। **5.** कैलेण्डर वर्ष से सम्बन्धित।

स्रोत : बेसिक स्टेटिसटिक्स रिलेटिंग टू इण्डियन इकॉनॉमी, 1950-51 से 1978-79, पृष्ठ 29-30

तालिका-35 उत्पादकता--मुख्य फसलों की उपज के अनुसार

(किलोग्राम प्रति हेक्टेयर)

जिंस समूह/जिंस (माल)	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1999-2000
कुल अनाज	522	710	872	1,023	1,380	1,697
चावल	668	1,013	1,123	1,336	1,740	--
गेहूँ	663	851	1,307	1,630	2,281	--
दालें	441	539	524	473	578	--
ज्वार	353	533	466	660	814	--
बाजरा	288	286	622	458	658	--
मकई	547	926	1,279	1,159	1,518	--
तिलहन	481	507	579	532	771	--
मूँगफली	775	745	834	736	904	--
तोरिया एवं सरसों	368	467	594	560	904	--
गन्ना (टन प्रति हेक्टेयर)	33	46	48	58	65	--
चाय	971	1,182	1,182	1,491	1,707	--
कॉफी	298	448	--	624	--	--
रबड़	342	354	653	788	1,076	--
आलू (टन प्रति हेक्टेयर)	7	7	10	13	16	--
कपास	88	125	106	152	225	--
पटसन	1,043	1,183	1,186	1,245	1,833	--

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 1992-93, हिन्दू सर्वे ऑफ इण्डियन एग्रीकल्चर 2002

तालिका-36

क्षेत्रवार सकल घरेलू उत्पादन की मिश्रित वृद्धि दर (उपादान लागत पर)

(1993-94 की कीमतों पर)

अवधि	प्राथमिक क्षेत्र	द्वितीयक क्षेत्र	सेवा क्षेत्र	कुल (सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था)
1981-82 से 1991-92	3.37	6.95	6.99	5.58
1991-92 से 2003-04	2.85	6.35	8.05	6.09

स्रोत : अल्टरनेटिव इकॉनॉमिक सर्वे, 2003-04

तालिका-37 वृद्धि दर (प्रतिशत में)

वर्ष	कृषि	उद्योग	सेवाएँ	कुल घरेलू उत्पादन
1987-88	(--) 1.0	7.0	-	3.8
1988-89	15.4	8.6	-	10.5
1990-91	4.6	7.4	-	5.6
1995-96	(--) 0.3	12.3	-	7.3
1996-97	9.6	7.1	7.2	7.8
1997-98	(--) 2.4	4.3	9.8	4.8
1998-99	6.2	3.7	8.4	6.5
1999-2000	0.3	4.8	10.1	6.1
2000-01	(--) 0.1	6.5	5.5	4.4
2001-02	6.5	3.4	6.8	5.8
2002-03	(--) 5.2	6.4	7.1	4.0
2003-04	9.1	6.5	8.4	8.1

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 2003-04

तालिका-38

वर्ष 2003 में चुनिन्दा देशों में मुख्य फसलों की तुलनात्मक उपज

(किलोग्राम प्रति हेक्टेयर)

देश	धान	गेहूँ	मक्का	मूँगफली	गन्ना
भारत	3,000.3	2,617.1	2,114.3	937.5	62,859.2
चीन	6,074.1	3,906.5	4,854.4	2,623.7	69,555.7
आस्ट्रेलिया	10,289.5	1,999.0	5,266.7	1,681.8	85,134.8
कनाडा	-	2,250.0	7,819.3	-	-
अमेरिका	7,448.2	2,973.8	8,923.6	3,540.4	75,515.1
इण्डोनेशिया	4,537.5	-	3,252.2	2,616.3	73,142.9
थाईलैण्ड	2,454.5	615.4	3,913.0	1,517.2	66,399.3
पाकिस्तान	3,054.8	2,380.2	1,457.1	1,060.0	47,933.5
ब्राजील	3,238.1	2,371.2	-	2,082.0	72,289.5
दक्षिण अफ्रीका	2,285.7	4,030.2	-	2,308.5	60,869.6
विश्व औसत	3,837.0	2,665.0	4,471.7	1,347.5	65,292.6

स्रोत : एफएओ डेटाबेस 'एफएओस्टैट' (जुलाई 2004)

तालिका-39 मुख्य फसलों का उत्पादन (मिलियन टन में)

समूह/जिंस	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1999-2000	2000-01	2001-02	2002-03
कुल अनाज	50.8	82.0	108.4	129.6	176.4	209.8	196.8	212.9	174.2
चावल	20.6	34.6	42.2	53.6	74.3	89.7	85.0	93.3	72.7
गेहूँ	6.5	11.0	23.8	36.3	55.1	76.4	69.7	72.8	65.1
ज्वार	5.5	9.8	8.1	10.4	11.7	--	--	--	--
बाजरा	2.6	3.3	8.0	5.3	6.9	--	--	--	--
मक्का	1.7	4.1	7.5	7.0	9.0	--	--	--	--
तिलहन	5.2	7.0	9.6	9.4	18.6	--	--	--	--
मूँगफली	3.5	4.8	6.1	5.0	7.5	--	--	--	--
तोरिया व सरसों	0.8	1.4	2.0	2.3	5.2	--	--	--	--
गन्ना	57.1	110.0	126.0	154.2	241.0	--	--	--	--
चाय	0.3	0.3	0.4	0.6	0.7	--	--	--	--
कॉफी	-	-	0.1	0.1	0.3	--	--	--	--
रबड़	-	-	0.1	0.2	0.2	--	--	--	--
आलू	1.7	2.7	4.8	9.7	15.2	--	--	--	--
कपास	3.0	5.6	4.8	7.0	9.8	--	--	--	--
पटसन	3.3	4.1	4.9	6.5	7.9	--	--	--	--

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 1992-93, 2004-05

उपलब्ध करवाया जाये। दूसरा, बेशक उत्पादन की आधुनिक तकनीकें अपनायी जा रही हैं, परन्तु आवश्यक आधारभूत ढाँचे का विकास नहीं हो रहा है, जिसके कारण कृषि उत्पाद मौसम पर निर्भर बने हुए हैं। इसी तरह, किसान समुदाय का कमज़ोर पूँजी आधार, कृषि लागतों के अवैज्ञानिक प्रयोग में वृद्धि करता है जिससे उपज में और अधिक गिरावट आ जाती है। इन सभी कारकों के परिणामस्वरूप उपज उतनी नहीं मिलती, जितनी कि अधिक उपज वाली किस्मों की क्षमता है। सरकार की ओर से बाज़ार में जिंस (माल) की कीमत कम रखी जाती है क्योंकि सरकार साम्राज्यवाद और दलाल पूँजीपतियों का पक्ष लेती है, इन्हीं कारणों की वजह से फसलों के उत्पादन में लगातार उतार-चढ़ाव बने रहते हैं, बेशक कि आम रुझान चढ़ाव का है (उपरोक्त, पृष्ठ 7-8)।"

अरविन्द की तरह ही भारत के विभिन्न बानगियों के नरोदवादी यह मानते हैं कि हरित क्रान्ति के दौरान ही भारतीय कृषि में कुछ परिवर्तन हुए, यानी यहीं से कृषि में पूँजीवाद का विकास शुरू हुआ (हालाँकि इसे वह तरह-तरह के शब्दों का प्रयोग कर अस्वीकार करने की कोशिश करते हैं। पंजाब में 'सुर्ख रेखा' जैसे ऐसे भी रुझान हैं जो भारत के किसी भी क्षेत्र में पिछले 58 वर्षों से कोई भी बदलाव मानने से इन्कार करते हैं)।

आइये, तथ्यों की रोशनी में अरविन्द के उपरोक्त दावों की जाँच-पड़ताल करें। श्री अरविन्द को केवल हरित क्रान्ति के प्रारम्भिक दौर में ही कृषि उत्पादकता में वृद्धि दिखायी देती है, न उससे पहले और न बाद में। तालिका-34 में देखा जा सकता है कि भारत में कृषि उत्पादकता में सबसे तीव्र गति से वृद्धि 1950-51 से 1960-61 के दौरान हुई, यानी हरित क्रान्ति से पहले के समय में, जब कुल अनाज उत्पादन में 61.4 प्रतिशत वृद्धि हुई; जबकि 1960-61 से 1973-74 के दौरान, यानी हरित क्रान्ति के प्रारम्भिक समय में यह वृद्धि 25 प्रतिशत ही थी। इससे स्पष्ट है कि हरित क्रान्ति से पहले ही भारतीय कृषि का पूँजीवादी पथ पर तीव्र विकास शुरू हो चुका था। वैसे यह एक अलग विस्तारित चर्चा का विषय है कि किस प्रकार उपनिवेशवाद के दौर में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों का विकास शुरू हो गया था। श्री अरविन्द का कहना है कि 1980 के

तालिका-40
फसलों के पैटर्न में खाद्यान्न और ग़ैर-खाद्यान्न फसलों का हिस्सा

क्षेत्र	फसली विविधता का सिम्पसन सूचक		1981-82				1998-99			
			खाद्यान्न फसलें		ग़ैर-खाद्यान्न फसलें		खाद्यान्न फसलें		ग़ैर-खाद्यान्न फसलें	
	1981-82	1998-99	क्षेत्र	मान	क्षेत्र	मान	क्षेत्र	मान	क्षेत्र	मान
पूर्वी	0.50	0.53	81.63	51.73	18.37	48.27	73.83	43.04	26.17	56.69
उत्तर-पूर्वी	0.43	0.46	70.11	44.43	29.89	55.77	65.06	35.80	34.94	64.20
उत्तरी	0.53	0.51	77.42	54.90	22.58	45.08	76.86	53.74	23.14	46.26
दक्षिणी	0.68	0.75	62.85	41.82	37.14	58.18	53.08	28.20	46.92	71.86
पश्चिमी	0.66	0.72	71.92	44.44	28.08	55.56	61.86	36.10	38.15	63.91
कुल भारत	0.63	0.66	70.39	48.05	29.66	51.95	65.44	39.85	39.56	60.15

स्रोत : आल्टरनेटिव इकॉनॉमिक सर्वे, 2004-05

तालिका-41 वाणिज्यिक फसलों का उत्पादन

(दस लाख टन में)

फसल	1999-2000	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04[3]	2004-05[4]
मूँगफली	5.3	6.4	7.0	4.4	8.3	6.5
सरसों	5.8	4.2	5.1	3.9	5.8	7.6
सोयाबीन	7.1	5.3	6.0	4.6	7.9	7.8
अन्य तिलहन	2.5	2.5	2.6	2.2	3.1	3.0
कुल नौ तिलहन	20.7	18.4	20.7	15.1	21.5	24.8
कपास[1]	11.5	9.5	10.0	8.7	13.8	17.1
पटसन[2]	10.6	10.6	11.7	11.4	11.2	9.7

1. दस लाख गाँठें, प्रत्येक का भार 170 किलोग्राम **2.** दस लाख गाँठें, प्रत्येक का भार 180 किलोग्राम **3.** चतुर्थ अग्रिम अनुमान **4.** द्वितीय अग्रिम अनुमान

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 2004-05

तालिका-42
चाय का उत्पादन

(दस लाख किग्रा. में)

वर्ष	उत्पादन
1950-51	9.00
1960-61	9.00
1970-71	12.00
1980-81	18.00
1997-98	835.6
1998-99	855.2
1999-2000	836.8
2000-01	848.4

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 2004-05 और 1992-93

तालिका-43
कॉफी का उत्पादन
(लाख टन में)

वर्ष	उत्पादन
1950-51	-
1960-61	-
1970-71	1.00
1980-81	1.00
1990-91	3.00
1997-98	2.28
1998-99	2.65
1999-2000	2.92
2001-02	3.01

स्रोत : उपरोक्त

तालिका-44
प्राकृतिक रबड़ खपत, उत्पादन और उपज

वर्ष	खपत (हज़ार टन)	उत्पादन (हज़ार टन)	उपज (किग्रा./हेक्टेयर)
1950-51	-	-	-
1960-61	-	-	-
1970-71	-	100	-
1980-81	-	200	-
1990-91	-	200	-
1997-98	572	573	1,549
1998-99	592	605	1,563
1999-2000	628	622	1,576
2000-01	631	630	1,576
2001-02	638	631	1,576
2002-03	659	649	1,592

स्रोत : उपरोक्त

तालिका-45
मुख्य बागवानी फसलों का क्षेत्रफल और उत्पादन
(क्षेत्रफल दस लाख हेक्टेयर में, उत्पादन दस लाख टन में)

जिंस	1991-92		2001-02	
	क्षेत्र	उत्पादन	क्षेत्र	उत्पादन
फल	2.9	28.6	4.0	43.1
सब्जियाँ	5.6	58.5	6.2	88.6
मसाले	2.0	1.9	2.6	3.2
नारियल	1.5	6.9	1.9	8.8
काजू	0.5	0.3	0.7	0.5
सुपारी	0.2	0.2	0.3	0.4
अन्य	0.2	0.2	1.5	1.8
कुल	12.3	96.5	17.2	146.5

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 2004-05

तालिका-46
दूध उत्पादन और प्रति व्यक्ति उपलब्धता

वर्ष	दूध का उत्पादन (दस लाख टन में)	प्रति व्यक्ति उपलब्धता (ग्राम प्रति दिन)
1950-51	17.0	124.0
1960-61	20.6	124.0
1970-71	22.0	112.0
1980-81	31.6	128.0
1990-91	53.9	171.0
2000-01	80.6	220.0
2003-04	88.1	231.0

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 2004-05

दशक के मध्य में उत्पादकता की विकास दर बुरी तरह गिर गयी और 1990 के दशक और उसके बाद के समय में उत्पादकता में महत्वपूर्ण कमी आयी। तालिका-35 से देखा जा सकता है कि अरविन्द के यह दावे कितने हवाई हैं। 1980-81 में भारतीय कृषि में मुख्य फसलों की उपज के अनुसार उत्पादकता 1023 किग्रा. प्रति हेक्टेयर थी जो कि 1990-91 में बढ़कर 1380 किग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गयी और फिर बढ़कर 1999-2000 में 1697 किग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गयी।

तालिका-37 में 1987-88 से लेकर 2003-04 तक कृषि की विकास दर के आँकड़े दिये गये हैं। कृषि की विकास दर में कई उतार-चढ़ाव देखे जा सकते हैं, जो कि पूँजीवादी उत्पादन का स्वभाव है; यह उद्योग में भी और कृषि में भी कभी सीधी रेखा में आगे नहीं बढ़ता (जैसा कि हमारे नरोदनिक पूँजीवादी उत्पादन से माँग करते हैं)। यह विकास इन उतार-चढ़ावों से होकर ही आगे की ओर अग्रसर होता है।

श्री अरविन्द का मानना है कि फसलों के उत्पादन में लगातार उतार-चढ़ाव बने हुए हैं, बेशक कि आम रुझान चढ़ाव का है। लेकिन यह बात हज़म कर पाना अरविन्द के लिए मुश्किल था क्योंकि यदि यहाँ फसलों के उत्पादन में वृद्धि का साधारण रुझान बना हुआ है तो इससे भारतीय अर्थव्यवस्था को अर्द्ध-सामन्ती सिद्ध करने की उनकी मनोकामना पूरी नहीं होती। इसीलिए, अपने इस निबन्ध में आगे चलकर उन्होंने अपने ही बयान को घुमा-फिरा दिया। उनका कहना है, "फसलों के उत्पादन में लगातार उतार-चढ़ाव बना हुआ है, **बेशक आम रुझान चढ़ाव का हो सकता है** (पृष्ठ 11, ज़ोर हमारा)।" अरविन्द लिखते हैं, "1980 के दशक के मध्य में यह विकास दर (भारतीय कृषि की विकास दर--लेखक) बुरी तरह कम हुई है... सरकारी निवेश में गिरावट के कारण 1990 के दशक और उसके बाद में उत्पादकता में महत्वपूर्ण कमी आयी है। ...भारत जैसी कृषि अर्थव्यवस्थाओं में यह कमी मुख्यतः

साम्राज्यवाद के प्रभाव के कारण हुई है (पृष्ठ 7)।"

इस किताब के पृष्ठ 26 पर 'पीपुल्स वार' के निबन्ध में लिखा गया है, "जहाँ तक कृषि में सम्पूर्ण उत्पादन का प्रश्न है तो न सिर्फ़ खाद्यान्न में, बल्कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन में गणनीय वृद्धि हुई है। 1966-67 से 1983-84 तक दूध का उत्पादन 190 लाख टन से बढ़कर 300 लाख टन, अण्डे 254 करोड़ से बढ़कर 1220 करोड़ और मछली का उत्पादन 18 लाख टन से बढ़कर 28 लाख टन हो गया। **इन सभी क्षेत्रों की वृद्धि साम्राज्यवाद की सीधी घुसपैठ का ही परिणाम है** (ज़ोर मूल में)।"

लगता है कि यदि किसी नरोदवादी की भैंस दूध देना बन्द कर दे तो उसके पीछे भी वह साम्राज्यवाद की साज़िश सिद्ध करने की कोशिश करेगा। जिस तरह कभी भारतीय जनता पार्टी को भारत में हर छोटी-बड़ी घटना में पाकिस्तान की खुफिया एजेंसी आईएसआई का हाथ ही दिखायी देता था, उसी तरह हमारे नरोदवादियों को भारत में घटने वाली हर घटना के पीछे साम्राज्यवाद का हाथ दिखायी देता है। यदि यहाँ फसलों का उत्पादन बढ़ता है तो भी इन्हें इसके पीछे साम्राज्यवाद का हाथ दिखायी देता है और यदि कम होता है तब भी।

भारत के विभिन्न श्रेणियों के नरोदवादियों में से कुछ को भारत में किसी न किसी सीमा तक (बेशक कुछ क्षेत्रों में ही) पूँजीवादी विकास मानना पड़ रहा है, परन्तु इन सबका श्रेय ये साम्राज्यवाद को देते हैं। इनका कहना है कि यहाँ जो भी पूँजीवादी विकास हुआ है उसे बाहर से थोपा गया है। उपरोक्त पुस्तक में भी इसकी बार-बार चर्चा देखी जा सकती है। भारतीय नरोदवादियों की तरह रूसी नरोदवादी भी रूस की कृषि में पूँजीवादी विकास के प्रति ऐसे ही विचार रखते थे। जैसा कि लेनिन ने लिखा है, "

"दूसरी नयी किस्म है ग्रामीण सर्वहारा, पट्टाधारक उजरती मज़दूरों का वर्ग। इसमें गरीब किसान भी आते हैं, उनके सहित जो पूर्णतः भूमिहीन हैं, लेकिन रूसी ग्रामीण सर्वहारा का सबसे खाँटी प्रतिनिधि है पट्टाधारक खेतिहर मज़दूर, दैनिक मज़दूर, अकुशल मज़दूर, निर्माण मज़दूर या अन्य पट्टाधारक मज़दूर। ज़मीन के एक टुकड़े पर मामूली खेती जिसकी हालत बेहद खराब होती है (यह ख़ास तौर पर ज़मीन को लीज़ पर दे देने के रूप में दिखायी देता है), श्रमशक्ति बेचे बिना अस्तित्व बचा पाने में असमर्थता (= अंकिचन किसानों के "उद्योग"), अत्यन्त निम्न जीवन स्तर (सम्भवतः बिना पट्टे वाले मज़दूर से भी निम्न) -- ये इस किस्म की अभिलाक्षणिक विशिष्टताएँ हैं। हमें कुल किसान परिवारों (जो आबादी के लगभग 4/10 हैं) के कम से कम आधे को ग्रामीण सर्वहारा वर्ग का सदस्य मानना चाहिए, यानी सभी बिना घोड़े वाले किसान और एक घोड़े वाले किसानों का बड़ा भाग (बेशक, यह एक मोटा, लगभग हिसाब है, जिसमें स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग इलाकों में कम या ज़्यादा फेरबदल किये जा सकते हैं)।

"जिन आधारों पर हम यह मानते हैं कि किसानों का इतना बड़ा हिस्सा ग्रामीण सर्वहारा में शामिल हो चुका है, उन्हें ऊपर बताया गया है। इसमें यह जोड़ दिया जाना चाहिए कि हमारे साहित्य में प्रायः इस सैद्धान्तिक प्रस्थापना की बेहद स्टीरियोटाइप समझ दिखायी देती है कि पूँजीवाद को मुक्त, भूमिहीन मज़दूरों की दरकार होती है। यह प्रस्थापना मुख्य प्रवृत्ति को दर्शाने के लिए बिल्कुल सही है, लेकिन पूँजीवाद कृषि में ख़ास तौर पर धीमी गति से और बेहद विविध रूपों में प्रवेश करता है। ग्रामीण मज़दूर को ज़मीन का पट्टा देना प्रायः खुद ग्रामीण नियोक्ताओं के हित में होता है, और इसीलिए पट्टाधारक ग्रामीण मज़दूर एक ऐसी किस्म है जो सभी अलग-अलग देशों में पायी जाती है। एंगेल्स का कुटियावासी वही नहीं है जो फ्रांस या राइन प्रान्तों का छोटा किसान है और बाद वाला भी वही नहीं है जो प्रशा का क्नेख्ट है। इनमें से हरेक एक विशिष्ट कृषि प्रणाली की, कृषि सम्बन्धों के एक विशिष्ट इतिहास की निशानियाँ लिये हुए है -- लेकिन यह अर्थशास्त्री द्वारा उन सबको कृषि सर्वहारा की एक किस्म के रूप में वर्गीकृत करने से नहीं रोकता। ज़मीन के अपने टुकड़े पर उसके अधिकार से इस वर्गीकरण पर कोई भी फर्क नहीं पड़ता।... अकिंचन किसानों को ग्रामीण सर्वहारा में शामिल करते हुए हम कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं। इस शब्द का प्रयोग अनेक लेखकों द्वारा पहले ही किया जा चुका है, और केवल नरोदवादी अर्थशास्त्री ही सामान्य रूप में किसान समुदाय की चर्चा करते हैं, किसी पूँजीवाद-विरोधी चीज के रूप में, और इस तथ्य की ओर से आँखें मूँद लेते हैं कि "किसानों" की भारी आबादी पूँजीवादी उत्पादन की आम प्रणाली में पहले ही एक सुनिश्चित स्थान ग्रहण कर चुकी है, यानी कृषि और औद्योगिक सर्वहारा के रूप में।... फ्रांस में, 1881 की जनगणना के अनुसार, 1.8 करोड़ लोग, यानी आबादी के लगभग आधे से कम, कृषि से जीवन-निर्वाह करते थे : करीब 90 लाख ज़मीन के मालिक थे, 50 लाख काश्तकार किसान और बटाईदार थे, 40 लाख दैनिक मज़दूर तथा ज़मीन के टुकड़ों के मालिक या ऐसे काश्तकार थे जो मुख्यतः उजरती श्रम द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे।... माना जाता है कि फ्रांस के 75 प्रतिशत खेतिहर मज़दूरों के पास अपनी ज़मीन है (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ठ 177-79, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

...

"दूसरे निष्कर्ष की व्याख्या के लिए हमें भूस्वामी और किसानों द्वारा खेती की अलग-अलग पड़ताल करनी चाहिए। जब कोई भूस्वामी किसी नयी मशीन या सुधरे हुए औज़ार का इस्तेमाल शुरू कराता है, तो वह किसान (जो उसके लिए काम करता था) के औज़ारों को हटाकर अपने औज़ार लगाता है। नतीजतन, वह लेबर सर्विस से पूँजीवादी खेती की व्यवस्था के मातहत आ जाता है। कृषि मशीनों के फैलाव का मतलब होता है पूँजीवाद द्वारा लेबर सर्विस का ख़ात्मा।... बेशक, हो सकता है कि, उदाहरण के लिए, ज़मीन पट्टे पर देने की एक शर्त यह हो कि कटाई मशीन पर दिन में काम के रूप में लेबर सर्विस करनी होगी, लेकिन यह दूसरे प्रकार की लेबर सर्विस होगी, जो किसान को एक दैनिक मज़दूर में बदल देती है। ऐसे "अपवाद" महज़ इस सामान्य नियम को ही सिद्ध करते हैं कि किसी निजी भूस्वामी के खेत पर सुधरे हुए औज़ारों के प्रयोग का अर्थ होता है बँधुआ... का उजरती मज़दूर में रूपान्तरण -- ठीक उसी तरह, जिस तरह बँधुआ "दस्तकार" के उत्पादन के साधनों का उस ख़रीदार द्वारा अधिग्रहण, जो घर पर करने के लिए काम बाँटता है, उस "दस्तकार" को उजरती मज़दूर में रूपान्तरित कर देता है (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ठ 220-30, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

अरविन्द लिखते हैं, "भारत में बेशक फसलों की उपज में वृद्धि हुई है तो भी हमें यह उपज विश्व के बहुत-से पिछड़े देशों के बराबर दिखायी नहीं पड़ती।" (पृष्ठ 11) हालाँकि इस सम्बन्ध में अरविन्द ने कोई तथ्य नहीं दिये हैं। तालिका 38 में देखा जा सकता है कि भारत में गेहूँ की उपज आस्ट्रेलिया, कनाडा जैसे पूँजीवादी देशों से भी अधिक है। आँकड़े सिद्ध करते हैं कि अरविन्द के दावों में कोई दम नहीं है।

3. फसलीय विविधता

भारतीय कृषि में पूँजीवादी सम्बन्धों के विकास के कारण फसलीय विविधता भी तेजी से बढ़ी है। नीचे हम इस प्रक्रिया से सम्बन्धित आँकड़े दे रहे हैं।

इसके अतिरिक्त भारत में अण्डों का उत्पादन 1966-67 में 254 करोड़ से बढ़कर 1983-84 में 1220 करोड़ हो गया (सीएमआईई, अगस्त 1984), जो कि 2002-03 में बढ़कर 4040 करोड़ हो गया। इस दौरान ऊन का उत्पादन 48.5 मिलियन किग्रा. और मांस का उत्पादन 6 मिलियन टन, मछली का उत्पादन 1950-51 में 0.7 मिलियन टन से बढ़कर 2003-04 में 6.4 मिलियन टन हो गया। (आर्थिक सर्वेक्षण, 2004-05)

तालिका-40 में 1981-82 से 1998-99 तक फसलीय विविधता के सिम्पसन सूचक से पता चलता है कि फसलीय विविधता में सबसे अधिक वृद्धि दक्षिण और पश्चिम भारत में हुई है, जबकि उत्तर भारत में फसलीय विविधता में कमी दिखायी देती है। पूर्वी और उत्तर-पूर्वी भारत में भी फसलीय विविधता में वृद्धि दिखायी देती है। इन क्षेत्रों में खाद्यान्न फसलों के क्षेत्रफल में कमी आयी है। पूर्वी भारत में खाद्यान्न फसलों का क्षेत्रफल 81.63 से कम होकर 73.83 रह गया, अर्थात लगभग 8 प्रतिशत की कमी। पूर्वोत्तर भारत में यह कमी 5 प्रतिशत रही। उत्तर भारत अभी भी खाद्यान्न फसलें पैदा करने वाला क्षेत्र ही बना हुआ है। भारतीय नरोदवादी आम तौर पर हरित क्रान्ति के क्षेत्रों में ही बड़ी मुश्किल से जरा-सा पूँजीवादी विकास स्वीकार करते हैं। उत्तर भारत में हरित क्रान्ति के तीन क्षेत्र आते हैं--पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश। लेकिन फसलीय विविधता की उपरोक्त तालिका पर दृष्टि डालें तो उत्तर भारत के अलावा बाकी सम्पूर्ण भारत में, विशेषकर दक्षिण और पश्चिमी भारत में, यह सबसे अधिक दिखायी देती है। दक्षिण भारत में 1998-99 में 46.92 प्रतिशत और पश्चिम भारत में 38. 15 प्रतिशत क्षेत्र में ग़ैर-खाद्यान्न फसलें बोयी जाती थीं। इससे स्पष्ट है कि बाज़ार ने सम्पूर्ण भारत को ही अपने भँवर में खींच लिया है।

तालिका-42 दिखाती है कि भारत में 1950-51 में चाय उत्पादन केवल 90 लाख टन था जो कि 2000-01 में बढ़कर 8484 लाख टन हो गया। इस तरह इस अवधि में चाय उत्पादन में 94 गुना की वृद्धि हुई। भारत में कॉफी का उत्पादन 1960-61 तक नगण्य था, 2001-02 में इसका उत्पादन 3.01 लाख टन होने लगा (तालिका-43)। प्राकृतिक रबड़ के सम्बन्ध में भी ऐसा ही रुझान देखा जा सकता है (तालिका-44)। भारत में बागवानी के तहत कुल क्षेत्रफल 1991-92 में 12.3 मिलियन हेक्टेयर था, जो कि 2001-02 में बढ़कर 17.2 मिलियन हेक्टेयर हो गया और बागवानी फसलों का उत्पादन इस अवधि में 96.5 मिलियन टन से बढ़कर 146.5 मिलियन टन हो गया (तालिका-45)। इसी तरह भारत में दूध उत्पादन 1950-51 के 17 मिलियन टन के मुकाबले 2003-04 में बढ़कर 88.1 मिलियन टन हो गया।

(शेष अगले अंक में)

मज़दूरों का इंक़लाबी अखबार
नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल
सम्पादकीय कार्यालय :
69, बाबा का पुरवा, पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ
एक प्रति : तीन रुपये, वार्षिक : 40 रुपये (डाक व्यय सहित)

दायित्वबोध का आगामी अंक

प्रमुख आकर्षण

●

दर्शन-विषयक प्रश्नों पर वार्ता : माओ त्से-तुङ

माओ ने द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की समझ को आगे विकसित करते हुए मार्क्सवादी दर्शन को किस प्रकार नयी ऊँचाइयों तक विकसित किया, इसे गहराई से समझने के लिए और कुछ गम्भीर दार्शनिक यक्षप्रश्नों के रूबरू खड़े होने के लिए माओ त्से-तुङ की इस अनौपचारिक शैली वाली, लेकिन गम्भीर एवं विचारोत्तेजक वार्त्ता का अध्ययन ज़रूरी है। इसे हिन्दी में पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। अंग्रेज़ी में भी यह एक दुर्लभ सामग्री ही है।

●

1857 और दलित जातियाँ : इतिहास की भोंड़ी भौतिकवादी और कुत्सित समाजशास्त्रीय व्याख्या के विरुद्ध कुछ बातें

-- दीपायन बोस

क्या औपनिवेशिक सत्ता-विरोधी प्रथम संगठित देशव्यापी प्रतिरोध संघर्ष के रूप में 1857 के महासंग्राम का चरित्र ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील था? या फिर, चूँकि उसका नेतृत्व मध्यकालीन व्यवस्था की वापसी के लक्ष्य से प्रेरित, ऐसे सामन्ती अभिजातों के हाथों में था जो दलित-विरोधी थे इसलिए इसका चरित्र प्रतिगामी माना जाये? 1857 के प्रति दलितों का क्या दृष्टिकोण था? 1857 का समकालीन दलितवादी भाष्य कितना इतिहाससम्मत है? इन प्रश्नों से जूझता हुए एक विचारोत्तेजक लेख।

●

क्या मार्क्सवादी प्रवर्ग जाति-प्रश्न के विश्लेषण के लिए अपर्याप्त हैं? -- रंगनायकम्मा का महत्वपूर्ण लेख

●

समाजवादी संक्रमण और सर्वहारा अधिनायकत्व के बारे में लेनिन के विचार : कुछ चुने हुए उद्धरण

●

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास पर केन्द्रित दीर्घ निबन्ध का दूसरा भाग

●

समसामयिक राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं पर टिप्पणियाँ और अन्य महत्वपूर्ण सामग्री....

छोटे किसानों का उजरती मज़दूरों में रूपान्तरण

पूँजीवादी खेती की तार्किक परिणति

● सुखविन्दर

भारत में छोटे माल उत्पादकों (किसानों, दस्तकारों तथा मध्य वर्ग के अन्य हिस्सों) के तबाह होकर उजरती मज़दूरों में रूपान्तरण की प्रक्रिया धीमी गति से विगत कई दशकों से जारी थी। लेकिन नयी आर्थिक नीतियों द्वारा विगत शताब्दी के आख़िरी दशक में यह प्रक्रिया बहुत तेज़ हो गयी। छोटे माल उत्पादकों, ख़ासकर छोटे किसानों की बर्बादी की बुर्जुआ अख़बारों से लेकर "वामपंथी" अख़बारों-पत्रिकाओं में काफ़ी चर्चा है। छोटे मालिक किसानों की तबाही की प्रक्रिया के तेज होने से भारतीय हुक़्मरान भी चिन्तित हैं और यहाँ के "वामपंथी" भी। छोटे किसानों की तबाही को लेकर इनकी चिन्ता भले ही साझी है, लेकिन कारण अल्ग-अलग है। हुक़्मरान इसलिए चिन्तित हैं क्योंकि इससे भारतीय समाज में वर्गीय ध्रुवीकरण तेज हो रहा है, समाज दिन-ब-दिन दो ध्रुवों (उजरती मज़दूरों और पूँजीपतियों) में विभजित हो रहा है। सम्भावित जन-उभारों की आशंकाओं से शासक वर्ग परेशान हैं। लेकिन इन सभी परेशानियों के बावजूद वे इस प्रक्रिया को रोक नहीं पा रहे, चाहकर भी वे ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि पूँजी के भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में पूँजीवादी राज्यों की, अर्थव्यवस्था में दखलन्दाज़ी की क्षमता निरन्तर कम होती गयी है और भविष्य में यह और भी कम होती जायेगी। यही कारण है कि कृषि सहित अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों से सरकारें पीछे हट रही हैं। अर्थव्यवस्था को पूँजीपतियों के लिए बेरोकटोक खेलने के मैदान में तब्दील किया जा रहा है, जहाँ जीत या हार पूँजी की ताक़त के अनुसार तय होगी। यह घटनाक्रम कहीं अधिक, कहीं कम, पूरी दुनिया में नज़र आ रहा है।

"वामपंथी" शिविर (संसद-मार्गियों से लेकर माले ग्रुपों तक) की चिन्ताओं का कारण ज़रा अलग है। इनकी चिन्ता का मुख्य कारण यह है कि विगत आधी शताब्दी से इनके सामाजिक आधार का एक बड़ा हिस्सा छोटे मालिकों, मुख्यतः मालिक किसानों में रहा है। अब जबकि छोटे मालिक तबाह हो रहे हैं तो इनको अपना सामाजिक आधार भी तबाह होता नज़र आ रहा है, इसीलिए ये छोटे पैमाने के माल उत्पादन को बचाने के लिए इतने उतावले हो रहे हैं। इनका सम्पूर्ण साहित्य छोटे किसानों की दुर्दशा पर आँसू बहा रहा है। ये दावा भले ही वैज्ञानिक विचारधारा (मार्क्सवाद) के झण्डाबरदार होने का करते हैं, लेकिन जब छोटे मालिक किसानों की बात चलती है तो इनका प्रस्थान बिन्दु विज्ञान नहीं भावुकता होता है। ये पूँजीवादी व्यवस्था में छोटे मालिकों की अपरिहार्य तबाही के वैज्ञानिक तर्क को समझने के बजाय छोटे मालिकों के दुख में दुखी होते हुए, विज्ञान का दामन छोड़ नैतिकता के क्षेत्र में कूद जाते हैं। ये छोटे पैमाने के माल उत्पादन को बचाये रखने, समाज में दिनोदिन बढ़ रहे वर्गीय ध्रुवीकरण को रोकने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार सचेतन या अचेतन रूप में ये शासक वर्ग के भय-चिन्ताओं के भागीदार बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में भारत में क्रान्ति के लिए प्रयत्नशील, मानवता का बेहतर भविष्य चाहने वालों के लिए छोटे मालिकाने की तबाही के प्रति एक वैज्ञानिक पहुँच अपनाना बहुत ज़रूरी हो जाता है।

भारत में छोटे किसानों का अस्तित्व में आना

ब्रिटिश उपनिवेश बनने से पहले भारत की कृषि अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदायों पर आधारित एक स्थिर कृषि अर्थव्यवस्था थी जो यूरोप में विकसित हुए सामन्तवाद से कई रूपों में भिन्न थी। कृषि उत्पादन सम्बन्ध, भूस्वामी, बटाईदार और ग़ैर-मौरूसी* काश्तकार आदि से मुक्त थे। ज़मीन का निजी स्वामित्व अभी अस्तित्व में नहीं आया था और किसानों को ज़मीन से अलग नहीं किया जा सकता था, लेकिन ज़मीन ख़रीदी और बेची नहीं जा सकती थी। निर्वाही कृषि ही प्रभावी थी। मुख्यतः आत्मनिर्भर स्थानीय किसान अर्थव्यवस्था थी। ज़मीन का लगान राजा द्वारा लिया जाता था, लगान उगाहने वाले बिचौलियों का एक परजीवी वर्ग था। राजा और उसके बिचौलियों द्वारा किसानों को बुरी तरह लूटा जाता था। ऐसी थी भारत की कृषि अर्थव्यवस्था, जब भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी आयी। 1840 के दशक में पूरे भारत पर कब्ज़ा करने के बाद अंग्रेज़ों ने अपना भूमि बन्दोबस्त लागू किया। इस प्रणाली के लागू होने से भारत की कृषि अर्थव्यवस्था में कई महत्वपूर्ण बदलाव आये।

ब्रिटिशकालीन भारत में ज़मीनी बन्दोबस्त के तीन रूप थे -- ज़मीन्दारी, महालवाड़ी और रैयतवाड़ी। औपनिवेशिक भारत में कृषि अधीन भूमि का 57 प्रतिशत ज़मीन्दारी व्यवस्था के अधीन, 38 प्रतिशत रैयतवाड़ी के अधीन और 5 प्रतिशत महालवाड़ी व्यवस्था के अधीन था। रैयतवाड़ी व्यवस्था के तहत सरकार सीधा रैयत (किसान) से लगान वसूलती थी तथा महालवाड़ी के तहत पूरे महाल (गाँव) से, जिसमें किसान अपनी ज़मीन की मिल्कियत के मुताबिक हिस्सा देते थे। लगान इतना अधिक होता था कि किसान इससे बेहाल रहते थे। इनमें सबसे अधिक शोषणकारी थी ज़मीन्दारी व्यवस्था। यहाँ किसान और अंग्रेज़ सरकार के बीच किसानों का खून चूसने वाली दो अन्य श्रेणियाँ भी थीं -- ज़मीन्दार और उनके कारिन्दे। औपनिवेशिक भारत में किसान अर्द्ध-सामन्ती व्यवस्था की चक्की में पिसते रहे।

आज़ादी के बाद भारतीय बुर्जुआ वर्ग राज्य सत्ता पर काबिज हुआ। इसने देश की कृषि अर्थव्यवस्था को अपने हितों के अनुकूल ढालने की प्रक्रिया शुरू की। भारतीय कृषि के सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में रूपान्तरण की प्रक्रिया शुरू हुई। यह सब क्रान्तिकारी ढंग से नहीं बल्कि धीमे सुधारों के

---

* ऐसे काश्तकार जिनकी मौत के बाद ज़मीन जोतने के लिए उनकी सन्तान को ही मिले यह ज़रूरी नहीं होता था।

ज़रिए किया गया, जिसको लेनिन प्रशियन या युंकर किस्म के रास्ते का नाम देते हैं। भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने भी कृषि अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के विकास के लिए युंकर किस्म का रास्ता अपनाया। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि 1949 से लेकर 1965 तक का काल भारतीय अर्थव्यवस्था में एक संक्रमण का काल था जिसमें सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों के पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों में रूपान्तरण की प्रक्रिया पूरी होती है। 1965 में भारतीय अर्थव्यवस्था को मुख्यतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कहा जा सकता था। 1947 के सत्ता हस्तान्तरण से पहले और इसके बाद कुछ स्थानों पर किसान विद्रोहों और कुछ आज़ादी के बाद लागू हुए आधे-अधूरे भूमि सुधारों के नतीजे के तौर पर भारत के ग्रामीण क्षेत्र में मालिक किसानों का एक बड़ा वर्ग अस्तित्व में आया। 1953-54 में उप-सीमान्त, सीमान्त और छोटे किसान परिवार कुल मालिक किसान-परिवारों का 70 प्रतिशत बनते थे। लेकिन हमारे नरोदनिक (माले ग्रुप) भारत के कृषि क्षेत्र की इस हकीकत को देखने से ही इनकार करते हैं। भले ही वे रात-दिन मालिक किसानों के संघर्षों में लगे रहते हैं और मालिक किसानों की तबाही के ग़म में सूखते जा रहे हैं, फिर भी वे मालिक किसानों के अस्तित्व से ही इनकार करते हैं। उनका कहना है कि अभी तो उनको "ज़मीन जोतने वाली की" के नारे पर जनवादी क्रान्ति सम्पन्न करनी है, इसलिए किसानों की क्या मजाल है कि वे ज़मीन के मालिक बन जायें।

भारतीय कृषि में पूँजीवादी विकास का एक पड़ाव 1965 तक पूरा होता है जिसमें भारत के ग्रामीण क्षेत्र में मालिक किसानों का एक बड़ा वर्ग अस्तित्व में आया। भारत निम्न बुर्जुआ वर्ग का महासागर नज़र आने लगता है। इसी प्रक्रिया के लाज़िमी नतीजे के तौर पर ग्रामीण क्षेत्र में उजरती मज़दूरों का एक वर्ग भी अस्तित्व में आता है। भारत में मालिक किसानों का वर्ग मुख्यतः मध्यम जातियों से उभरा है और खेत-मज़दूर वर्ग मुख्यतः दलित जातियों से। पुराने सवर्ण ज़मीन्दारों में से कुछ ने अपने आप को नयी परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लिया। इस प्रकार, वे या तो पूँजीवादी फार्मर बन गये या अपनी पूँजी कृषि से निकालकर शहरों में अन्य कारोबार करने लगे। जिन्होंने ख़ुद को नयी परिस्थितियों के अनुरूप नहीं ढाला वे तबाह हो गये। भारत में नये पूँजीवादी भूस्वामियों का वर्ग मुख्यतः पुराने ज़मीन्दारों, जो आम तौर पर सवर्ण जातियों से थे, के साथ-साथ पुराने काश्तकारों (आम तौर पर मध्य जातियों के) के बीच से उभरा है। भारत में ग्रामीण क्षेत्र में मालिक किसानों के बड़े वर्ग के अस्तित्व में आने से वर्गीय अन्तरविरोध कुन्द हुए।

सामन्ती उत्पादन ढाँचे के टूटने और पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के अस्तित्व में आने से एक बार उत्पादन के साधन बिखर जाते हैं, अर्थात छोटे माल उत्पादक बड़े पैमाने पर अस्तित्व में आते हैं। पूँजीवाद जिस प्रकार छोटे माल उत्पादकों को अस्तित्व में लाता है, बाद में अपने ही तर्क के अनुसार छोटे उत्पादकों को तबाह भी कर देता है और उत्पादन के साधनों का फिर केन्द्रीकरण होता है। इस प्रकार छोटे पैमाने का माल उत्पादन अपनी तबाही का सामान भी खुद ही साथ लाता है।

पूँजीवादी व्यवस्था में छोटे मालिकों की तबाही अपरिहार्य है

भारत के कृषि क्षेत्र में छोटे किसानों के अस्तित्व में आने के साथ ही दूसरी प्रक्रिया भी शुरू होती है। यह प्रक्रिया है छोटे और मध्यम किसानों के टूट कर उजरती मज़दूरों (ख़ासकर औद्योगिक मज़दूरों) में बदलने की प्रक्रिया। 1990 तक यह प्रक्रिया बहुत धीमी रही। इसका एक कारण राज्य द्वारा कृषि क्षेत्र की दी जाने वाली सब्सिडी थी ताकि छोटे किसानों को उनकी ज़मीन के साथ ही जोड़कर रखा जाये और उनको उजड़कर शहरों की तरफ आने से रोका जा सके। नहीं तो ग्रामीण आबादी की तबाही और शहरों में श्रमिकों की बाढ़ भारतीय शासकों के लिए बड़ी सरदर्दी खड़ी कर सकती थी।

भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था में जैसे-जैसे पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों की घुसपैठ बढ़ती गयी, वैसे-वैसे छोटे और मध्यम किसानों के लिए खेती जारी रख सकना मुश्किल होता गया, इस प्रकार यह किसान खेती से बाहर धकेले जाते रहे और उजरती मज़दूरों की फौज में बढ़ोत्तरी करते रहे। कृषि में जैसे-जैसे माल-उत्पादन बढ़ा, किसानों की मण्डी के ऊपर निर्भरता (लागत हासिल करने और मालों की बिक्री के लिए) बढ़ती गयी। खेती पूँजीवादी मण्डी के भँवर में खिंची चली गयी। "बड़ी मछली छोटी को खा जाती है" यही पूँजीवादी मण्डी का नियम है। पूँजीवादी मण्डी में उत्पादक को इस बात का पता नहीं होता कि उसका माल बिकेगा या नहीं। पूँजीवादी मण्डी उत्पादकों के बीच मुकाबले का मैदान है। इस मुकाबले में बड़ी पूँजी के मालिक ही जीत पाते हैं। बड़ी पूँजी के सामने छोटी पूँजी हार जाती है। इस मुकाबले में हार जाने वाले अपने उत्पादन के साधनों से हाथ धो बैठते हैं। उनके उत्पादन के साधन बड़े पूँजीपतियों की स्थिर पूँजी में बदल जाते हैं और वे खुद श्रम-शक्ति बेचने वाले उजरती मज़दूरों की कतारों में शामिल हो जाते हैं। लेनिन इस प्रक्रिया की व्याख्या इस तरह करते हैं, "फसलों के उत्पादन में माल उत्पादन की बढ़ती घुसपैठ के नतीजे के तौर पर, ज़मीन और आर्थिक आज़ादी के लिए संघर्ष और किसानों के बीच प्रतिस्पधर्ा तीखी होती है, तो यह नियम अनिवार्यतः ज़्यादा ज़ोरदार ढंग से प्रकट होता है, वो नियम जो किसान पूँजीपति द्वारा मध्यम और गरीब किसानों को बाहर धकेलने के लिए रास्ता खोलता है (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

भले ही छोटे मालिकों का अस्तित्व पूँजीवादी व्यवस्थाओं में भी रहा है और इनका अस्तित्व ख़त्म भी होता रहा है, लेकिन यह परिघटना पूँजीवादी व्यवस्था में ज़्यादा तीखे रूप में प्रकट होती है। पूँजी के संकेन्द्रण और केन्द्रीकरण अर्थात पूँजी संचय की प्रवृत्ति पूँजीवाद का एक अन्तर्निहित नियम है। पूँजी संचय की इस ऐतिहासिक प्रवृत्ति की मार्क्स इस प्रकार व्याख्या करते हैं : "बेशक, उत्पादन की यह क्षुद्र प्रणाली दासप्रथा, भूदासप्रथा और पराधीनता की अन्य अवस्थाओं में पायी जाती है। लेकिन यह केवल उसी जगह फलती-फूलती है, अपनी समस्त शक्ति का प्रदर्शन करती है और पर्याप्त एवं प्रामाणिक रूप प्राप्त करती है, जहाँ मज़दूर अपने श्रम के साधनों का खुद मालिक होता है और उनसे खुद काम लेता है, जहाँ किसान उस धरती का खुद मालिक होता है, जिसे वह जोतता है, और दस्तकार उस औज़ार का स्वामी होता है, जिसका वह सिद्धहस्त ढंग से प्रयोग करता है। उत्पादन की इस प्रणाली के होने के लिए यह आवश्यक है कि ज़मीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी हुई हो और उत्पादन के अन्य साधन बिखरे हुए हों। जिस प्रकार इस प्रणाली के रहते हुए उत्पादन के इन साधनों का संकेद्रण नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि उसके अन्तर्गत सहकारिता, उत्पादन की हर अलग-अलग क्रिया के भीतर श्रम-विभाजन, प्रकृति की शक्तियों के लिए ऊपर समाज का नियंत्रण तथा उनका समाज द्वारा उत्पादक ढंग से उपयोग और सामाजिक उत्पादक शक्तियों

का स्वतंत्र विकास हो सके। यह प्रणाली तो केवल एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था और केवल एक़ ऐसे समाज से ही मेल खाती है, जो संकुचित तथा न्यूनाधिक रूप में आदिम सीमाओं के भीतर ही गतिमान रहते हैं। जैसा कि पेक्वेयर ने ठीक ही कहा है, उस प्रणाली को चिरस्थायी बना देना 'हर चीज को सर्वत्र अल्पविकसित बने रहने का आदेश दे देना है।' अपने विकास की एक ख़ास अवस्था में पहुँचने पर यह प्रणाली स्वयं अपने विघटन के भौतिक साधन पैदा कर देती है। बस उसी क्षण से समाज के गर्भ में नयी शक्तियाँ और नयी भावनाएँ जन्म लेती हैं। परन्तु पुराना सामाजिक संगठन उनको शृंखलाओं में जकड़े रहता है और विकसित नहीं होने देता। इस सामाजिक संगठन को नष्ट करना आवश्यक हो जाता है। वह नष्ट कर दिया जाता है। उसका विनाश, उत्पादन के बिखरे हुए व्यक्तिगत साधनों का सामाजिक दृष्टि से संकेन्द्रित साधनों में रूपान्तरित हो जाना, अर्थात बहुत से लोगों की क्षुद्र-सम्पत्ति का थोड़े से लोगों की अति-विशाल सम्पत्ति में बदल जाना, अधिकतर जनता की भूमि, जीवन निर्वाह के साधनों तथा श्रम के साधनों का अपहरण --साधारण जनता का भयानक तथा अत्यन्त कष्टदायक स्वत्वहरण पूँजी के इतिहास की भूमिका मात्र होता है।

"रूपान्तरण की यह क्रिया जैसे ही पुराने समाज को ऊपर से नीचे तक काफ़ी छिन्न-भिन्न कर देती है, मज़दूर जैसे ही सर्वहारा बन जाते हैं और उनके श्रम के साधन पूँजी में रूपान्तरित हो जाते हैं, पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली खुद जैसे ही अपने पैरों पर खड़ी हो जाती है, वैसे ही श्रम का और अधिक समाजीकरण करने का प्रश्न, भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों को सामाजिक ढंग से व्यवहृत साधनों में और इसलिए सामूहिक साधनों में और भी अधिक रूपान्तरित कर देने का प्रश्न और साथ ही निजी सम्पत्ति के मालिकों की सम्पत्ति का अधिक अपहरण करने का प्रश्न एक नया रूप धारण कर लेते हैं। अब जिसका सम्पत्ति-अपहरण करना आवश्यक हो जाता है, वह खुद अपने लिए काम करने वाला मज़दूर नहीं है, बल्कि वह है बहुत से मज़दूरों का शोषण करने वाला पूँजीपति।

"यह स्वत्वहरण स्वयं पूँजीवाद उत्पादन के अन्तर्भूत नियमों के अमल में आने के फलस्वरूप पूँजी केन्द्रीकरण के द्वारा सम्पन्न होता है। एक पूँजीपति हमेशा बहुत से पूँजीपतियों का ख़ात्मा करता है। इस केन्द्रीकरण के साथ-साथ, या यूँ कहिए कि कुछ पूँजीपतियों द्वारा बहुत-से पूँजीपतियों के इस स्वत्वहरण के साथ-साथ अधिकाधिक बढ़ते हुए पैमाने पर श्रम-क्रिया का स्वरूप विकसित होता जाता है, प्राविधिक विकास के लिए, सचेतन ढंग से विज्ञान का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है, भूमि को उत्तरोत्तर सुनियोजित ढंग से जोता-बोया जाता है, औज़ार ऐसे औज़ारों में बदलते जाते हैं, जिनका केवल सामूहिक ढंग से ही उपयोग किया जा सकता है, उत्पादन के साधनों का संयुक्त, समाजीकृत श्रम के साधनों के रूप में उपयोग करके हर प्रकार के उत्पादन के साधनों का मितव्ययिता के साथ इस्तेमाल किया जाता है।. ..गरीबी, अत्याचार, गुलामी, पतन और शोषण में लगातार वृद्धि होती जाती है। लेकिन इसके साथ-साथ मज़दूर वर्ग का विद्रोह भी अधिकाधिक तीव्र होता जाता है। यह वर्ग संख्या में बराबर बढ़ता जाता है और स्वयं पूँजीवादी क्रिया का यन्त्र ही उसे अधिकाधिक अनुशासनबद्ध, एकजुट और संगठित करता जाता है। पूँजी का एकाधिकार उत्पादन की उस प्रणाली के लिए एक बन्धन बन जाता है, जो इस एकाधिकार के साथ-साथ और उसके अन्तर्गत जन्मी है और फूली-फली है। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रम का समाजीकरण अन्त में एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाते हैं, जहाँ वे अपने पूँजीवादी खोल में नहीं रह सकते। खोल फाड़ दिया जाता है (पूँजी, खण्ड 1, पंजाबी संस्करण, पृष्ठ 821-22-23, अनुवाद हमारा)।"

कृषि क्षेत्र में ज़्यादा से ज़्यादा उत्पादन हासिल करने के लिए, श्रम की उत्पादकता बढ़ाने के लिए पूँजीवादी फार्मर लगातार नयी से नयी तकनीक अपनाते हैं। सापेक्षिक अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करने के लिए कृषि में लगी कुल पूँजी में अस्थिर पूँजी के मुकाबले स्थिर पूँजी के अनुपात में बढ़ोत्तरी होती है। पूँजी का अव्यवी संघटन ऊँचा हो जाता है। नतीजतन मुनाफ़े की दर लगातार गिरते जाने का रुझान जन्म लेता है। इस रुझान को मार्क्स "मुनाफ़े की दर गिरने के रुझान का नियम" कहते हैं। मार्क्स के शब्दों में, "मुनाफ़े की दर में गिरावट और संचय में तेज़ी एक ही प्रक्रिया की अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ हैं, सिर्फ़ वहाँ तक कि दोनों ही उत्पादकता के विकास को दर्शाते हैं। संचय अपनी बारी में मुनाफ़े की दर में गिरावट को तेज कर देता है, जिस हद तक कि इसने श्रम को बड़े पैमाने पर संकेन्द्रित कर दिया होता है और इस प्रकार पूँजी का ऊँचा संघटन अस्तित्व में आता है, दूसरी तरफ मुनाफ़े की दर में गिरावट दोबारा पूँजी के संकेन्द्रण को, छोटे पूँजीपतियों और मुट्ठी-भर प्रत्यक्ष उत्पादकों, जिनके पास अभी भी गँवाने के लिए कुछ बचा होता है, की लूट के ज़रिये तेज़ कर देती है (पूँजी, खण्ड 3, पृष्ठ 241, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

छोटे मालिकाने को बचाये रखने के प्रतिगामी प्रयास

पूँजीवादी व्यवस्था में छोटे मालिकाने की तबाही अपरिहार्य है। यह मानवीय इच्छा से स्वतंत्र एक वस्तुगत नियम है। पूँजीवादी व्यवस्था की उम्र लम्बी करने के लिए इस प्रक्रिया को धीमा तो किया जा सकता है लेकिन पूरी तरह से रोका नहीं जा सकता। विकसित पूँजीवादी देशों का उदाहरण हमारे सामने है। पिछले दिनों अमेरिका में किसानों की कुल संख्या शून्य बतायी गयी है। यही हाल अन्य पूँजीवादी देशों का है। यही प्रक्रिया लातिनी अमेरिका, पूर्वी यूरोप के देशों और कुछ हद तक एशिया के देशों में भी चली है। ये सभी बड़े पैमाने पर ध्रुवीकृत हो चुके हैं। छोटे किसानों, दस्तकारों और मध्य-वर्ग के अन्य हिस्सों का बड़ा हिस्सा शहरी सर्वहारा में जा मिला है। यही प्रक्रिया भारत में भी जारी है जो दिन-ब-दिन तेज हो रही है।

छोटे मालिकाने ख़ासकर छोटे किसानों के उजड़कर सर्वहारा बनने के कई कारण हैं, कुछ आन्तरिक और कुछ बाहरी।

कृषि में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के विकास के कारण कृषि का दिनों-दिन पूँजी प्रधान होते जाना, लागतों (यानी अस्थिर पूँजी) का लगातार बढ़ते जाना, कृषि के लिए ज़रूरी पूँजी जुटाने के लिए किसानों द्वारा कर्ज़ा लेना और यह कर्ज़ा वापिस न कर सकने की सूरत में अपनी ज़मीन के छोटे टुकड़े से भी हाथ धो बैठना। यह भारतीय अर्थव्यवस्था की आन्तरिक गति है। दूसरा कारण है विदेशों से सस्ते कृषि उत्पादों का आयात। इस कारण भी भारतीय किसानों की अच्छी-ख़ासी आबादी कृषि क्षेत्र से बाहर हो रही है।

पर यह सब हमारे देश के तथाकथित कम्युनिस्टों की सहन-शक्ति से बाहर की बात है। ये हर हाल में छोटे मालिकों को उनकी थोड़ी सी पूँजी के साथ बाँधे रखना चाहते हैं। मार्क्स से माओ तक की कसमें खाने वाली पत्रिकाएँ 'लाल तारा', 'लाल परचम', 'समकाली दिशा'

से लेकर सीपीआई, सीपीएम के अलग-अलग गुट, सीपीआई (एमएल) न्यू डेमोक्रेसी आदि सब इन्हीं प्रतिगामी कार्य-योजनाओं में मसरूफ़ हैं। 'सुर्ख रेखा' का कहना है, "कर्ज़ के नीचे बुरी तरह दबी हुई और डूब रही किसानी को बचाने के लिए सरकार द्वारा थोपी जा रही निजीकरण की आँधी को रोकना ज़रूरी है (सितम्बर-दिसम्बर 2003, पृष्ठ 49)।" लाल परचम भी पीछे नहीं है। यह लिखता है, "विदेशी वस्तुओं की बाढ़ के आगे भारतीय अर्थव्यवस्था का संकट गहरा हो जाएगा। एक रिपोर्ट के अनुसार ऐसी स्थिति में छोटे किसान तबाह हो जायेंगे और वे अपनी ज़मीनें बेचकर शहरों की तरफ दौड़ जायेंगे।...जिस प्रकार सरकार की नयी आर्थिक नीतियाँ रंग लायेंगी तो इन छोटे उत्पादकों को सड़कों पर आना पड़ेगा।...सरकार का यह फ़र्ज़ बनता है...कि वह विदेशी मालों के भारतीय मण्डी में दाखिले के फलस्वरूप छोटे उत्पादकों की बर्बादी-तबाही को रोकने का इन्तजाम करे (जुलाई-अगस्त 2000, पृष्ठ 10-11)।"

'समकाली दिशा' का प्रवचन भी सुनिये, "खुली मण्डी समर्थन मूल्य के ख़ात्मे के ज़रिये किसानों की तबाही का कारण बनेगी।...उन्होंने भारत के करोड़ों गरीब किसानों को बर्बाद हो जाने के लिए, विदेशी भेड़ियों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मुकाबले के लिए खुली मण्डी में फेंक देने का फैसला कर लिया है। कुल मिलाकर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह कृषि नीति अपने फरेबी और धोखे भरे दावों के बावजूद पहले ही संकट में फँसी भारतीय खेती और किसानों को और अधिक तेजी से तबाही की तरफ ले जाएगी।...इसका लाज़िमी ही विरोध किया जाना चाहिए (नवम्बर-दिसम्बर 2000, पृष्ठ 9-10)।"

छोटे मालिकाने के प्रति उक्त पत्रिकाओं, पत्रों और पार्टियों के साहित्य में भावुकता की भरमार है, अगर किसी चीज की कमी है तो बस वैज्ञानिक समझ की। विश्व सर्वहारा वर्ग के महान नेताओं व शिक्षकों ख़ासकर मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की छोटे मालिकाने की तबाही के प्रति एक अलग ही पहुँच नज़र आती है। पिछड़े हुए, छोटे किसानों की बड़ी आबादी वाले पूँजीवादी देशों में छोटे मालिकाने के प्रति पहुँच एक बड़ी समस्या रही है। जब पूँजी के अपने ही तर्क से छोटा स्वामित्व तबाह होता है तो वह अपनी तबाही पर छटपटाता है। छोटे मालिकाने की इस छटपटहाट से उसके विचार, उसके सिद्धान्तकार भी जन्म लेते हैं। छोटे मालिकाने के ये विचार लगातार मज़दूर वर्ग की कतारों में घुसपैठ करके प्रदूषण फैलाते रहते हैं। मार्क्स, एंगेल्स को भी छोटे मालिकाने के सिद्धान्तकारों ख़ासकर प्रूदों और सिसमोन्दी के साथ ज़ोरदार संघर्ष करना पड़ा था। रूस में जहाँ, 1861 के भूमि सुधारों के बाद पूँजीवादी विकास शुरू हुआ था, छोटे स्वामित्व के विचार नरोदवाद के रूप में सामने आए। पहले प्लेखानोव और फिर लेनिन को नरोदवाद से तीखी टक्कर लेनी पड़ी। हमारे देश में छोटे मालिकाने के विचारों का प्रतिनिधित्व मुख्यतः एम.एल. ग्रुप करते हैं। इसलिए इन छोटे मालिकाने के विचारों की हार भारत में मज़दूर आन्दोलन के आगे के विकास की पूर्व-शर्त है।

हमारे नरोदनिक (एम.एल. ग्रुप) छोटे मालिकाने को बचाने की कोशिशें में फौरी तौर पर वर्गीय ध्रुवीकरण को रोकते हैं। इस प्रकार वर्गीय संघर्ष की धार कुन्द करते हैं, बड़ी संख्या में भारतीय क्रान्ति के प्रति ईमानदार, वफादार कम्युनिस्ट काडरों को गुमराह करते हैं। इस सच की तार्किक परिणति मौजूदा जनद्रोही व्यवस्था की उम्र लम्बी करने के रूप में ही सामने आती है।

छोटे मालिकाने का अस्तित्व जहाँ मज़दूरों के लिए नुकसान दायक है, वहीं खुद छोटे मालिकाने के लिए भी नुकसादायक है। अगर इसका किसी को लाभ है तो वह है औद्योगिक और कृषि बुर्जुआ वर्ग। क्योंकि ज़मीन के छोटे से टुकड़े से बँधे किसान जिनकी ज़मीन इतनी कम होती है कि उसकी और उसके परिवार की ज़रूरतें पूरा करने के लिए उसे श्रम-मण्डी में अपनी श्रम-शक्ति भी बेचनी पड़ती है। इस प्रकार के मज़दूरों (अर्द्ध-मज़दूरों) की जीविका का एक हिस्सा क्योंकि उनकी ज़मीन आदि से प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार छोटी सम्पत्ति के मालिक ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में उजरतें कम रखे जाने का कारण बनते हैं। दूसरी तरफ अपनी ज़मीन के छोटे से टुकड़े से बँधे ऐसे अर्द्ध-सर्वहारा बेहतर उजरतों वाले क्षेत्रों में प्रवास करने से भी हिचकिचाते हैं। अगर वे प्रवास कर भी जाते हैं तो उनका बाकी परिवार अपनी आजीविका का एक हिस्सा अपनी ज़मीन से प्राप्त कर लेने के कारण वो वहाँ भी कम उजरतों पे काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में सम्पत्ति से पूरी तरह मुक्त मज़दूर सब से ज़्यादा नुकसान उठाते हैं। लेनिन लिखते हैं, "पश्चिमी यूरोप में जो कृषि विशेषज्ञ, ग्रामीण भाईचारे के विकास और इसको पक्का करने की मांग करते हैं, वे किसी भी तरह समाजवादी नहीं हैं, बल्कि बड़े भूमिपतियों का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग हैं, जो मज़दूरों को ज़मीन के छोटे टुकड़े मुहैया करवाकर बाँधकर रखना चाहते हैं (सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ठ 28, अनुवाद हमारा)।"

एंगेल्स का कहना है, "छोटे किसान को उसकी सम्पत्ति से बाँधे रखने की आपकी कोशिश, उसकी आज़ादी की नहीं बल्कि उसकी गुलामी की ही एक ख़ास किस्म की रक्षा करती है। यह ऐसी स्थिति को और लम्बा कर देती है, जिसमें वह न तो ज़िन्दा रह सकता है और न ही मर सकता है (फ्रांस और जर्मनी में किसान प्रश्न, अंग्रेज़ी से अनुवाद हमारा)।"

भारत में छोटे मालिकों, ख़ासकर किसानों के अपनी छोटी सी सम्पत्ति से मुक्त होकर शहरों में औद्योगिक मज़दूर बनने या और छोटे-मोटे धन्धों में लगने का रुझान विगत लम्बे समय से जारी है। 1991 (नयी आर्थिक नीतियों की आमद) से यह प्रक्रिया तेजी से आगे बढ़ रही है। 1991 के मुकाबले 2001 में भारत की कुल आबादी में शहरी आबादी का हिस्सा लगभग 4 प्रतिशत बढ़ गया है। दूरगामी तौर पर देखा जाये तो लोगों की शहरों में बड़े पैमाने पर आमद, औद्योगिक मज़दूरों और कुल मज़दूरों की बढ़ रही संख्या, नए (समाजवादी) समाज की तैयारी के लिए ज़रखेज़ भूमि तैयार कर रही है। लेकिन हमारी मोटी बुद्धि वाले नरोदनिक इस पूरी प्रक्रिया को उल्टा घुमाने के प्रयासों में लगे हुए हैं। लेनिन लिखते हैं, "नरोदनिक सिद्धान्त के मुकाबले हम ज़ोर देकर कहते हैं कि मज़दूरों का प्रवास न सिर्फ़ खुद मज़दूरों को शुद्ध आर्थिक लाभ पहुँचाता है, परन्तु आमतौर पर इसे प्रगतिशील कहा जाना चाहिए। लोगों का ध्यान बाहरी रोज़गार की बजाय स्थानीय नज़दीकी कामों की तरफ नहीं मोड़ना चाहिए, बल्कि इसके विपरीत, प्रवास की राह में सभी रुकावटें हटाने, इसको हर प्रकार से आसान बनाने, मज़दूरों के सफर आदि की परिस्थितियाँ सुधारने और कीमत घटाने की तरफ ध्यान दिलवाना चाहिए। हमारे इस ज़ोर का आधार यह हैः-

"--'प्रवास' से मज़दूरों को होने वाले शुद्ध आर्थिक लाभ यह है कि वे उन स्थानों की तरफ जाते हैं जहाँ उजरतें ज़्यादा होती हैं, जहाँ रोज़गार माँगने वालों के रूप में उनकी स्थिति ज़्यादा फायदेमन्द होती है।

"--'प्रवास' लेबर सर्विस और ख़रीद की बँधुआ किस्मों को तबाह कर देता है।

"--'प्रवास' का मतलब है आबादी की

गतिशीलता का पैदा होना। प्रवास किसानों को काई जमने से बचाने के सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में एक है, जो कि इतिहास द्वारा पहले ही उनके ऊपर बहुत थोपी जा चुकी है, जब तक आबादी गतिशील नहीं बनती, यह विकसित नहीं हो सकती और यह कल्पना करना बचकानापन होगा कि वे जो कुछ राजधानी और दूर-दराज़ इलाकों, कृषि और उद्योगों में, दक्षिण और उत्तर में, चीजों की अलग व्यवस्था और अलग सम्बन्धों, स्वतंत्र अनुभवों से सीखेंगे, वो उनको गाँव का स्कूल सिखा सकता है (सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ठ 249-50-51, अनुवाद हमारा)।"

छोटे स्वामित्व की सुन्दर तस्वीर

हमारे नरोदनिक न सिर्फ़ मालिक किसानों के स्वामित्व को बचाये रखने के लिए प्रयासरत हैं बल्कि खेत-मज़दूरों और औद्योगिक मज़दूरों, जो निजी सम्पत्ति के कोढ़ से मुक्त हैं, को भी ज़मीनों के मालिक बनाने की बुरी इच्छाएँ पालते हैं। लगभग सभी मा.ले. ग्रुपों का मानना है कि भारत एक अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक देश है, जो नयी जनवादी क्रान्ति की मंजिल में है। 'ज़मीन जोतने वाले की' इस क्रान्ति का केन्द्रीय नारा होगा। अगर इनसे पूछा जाये कि वे कौन से हलवाहक हैं जिनको वे उक्त नारे पर संगठित करेंगे तो बात घूम-घुमाकर हलवाहकों से खेत मज़दूरों पर आ जाती है। विगत आधी शताब्दी में भारत के कृषि क्षेत्र में कई बदलाव आये हैं, जिनको देखने से ही व इन्कार करते हैं। इनके कार्यक्रम और नारे आधी शताब्दी से भी ज़्यादा पुराने हैं। देश की बदली हुई परिस्थितियों में इनके कार्यक्रम और नारे बेहद प्रतिगामी चरित्र धारण कर चुके हैं। ये सारे ही ग्रुप न सिर्फ़ भारतीय शासकों द्वारा लैण्ड सीलिंग हटाये जाने का विरोध कर रहे हैं, बल्कि लैण्ड सीलिंग की हद घटाये जाने की बात भी करते हैं और लैण्ड सीलिंग से ऊपर की ज़मीन भूमिहीनों में बाँटने की वकालत भी करते हैं। कई ग्रुप तो बड़े भूमिपतियों और बंजर सरकारी ज़मीन की भूमिहीनों में बांट के आँकड़े पेश करके, इन्हें अपनी बड़ी उपलब्धियों के तौर पर पेश करते हैं। उदाहरण के तौर पर शहीद कामरेड दया सिंह यादगारी प्रकाशन की तरफ से पंजाबी में प्रकाशित पुस्तक 'संग्राम जारी है' देखी जा सकती है जिसमें पीपुल्स वार और पार्टी यूनिटी ग्रुपों द्वारा भूमिहीनों में बाँटी गयी ज़मीनों का लम्बा-चौड़ा विवरण है। ऊपर उल्लिखित पत्रिकाएँ भी ऐसी ही सोच रखती हैं।

'सुर्ख रेखा', सी.पी.आई. के एक वर्कर के सपनों के सुर में सुर मिलाते हुए ऐसे लिखता है, "अगर ज़मीन्दारों की ज़मीन, अतिरिक्त और खाली पड़ी सरकारी ज़मीन ही बाँट दी जाए, तो प्रत्येक खेत-मज़दूर और गरीब किसान के पास दो एकड़ ज़मीन का स्वामित्व हो सकता है। भारत में अभी भी हदबन्दी के ऊपर लगभग 60 लाख हेक्टेयर (डेढ़ करोड़ एकड़) ज़मीन ज़मीन्दारों के कब्ज़े में है। अगर यह अतिरिक्त ज़मीन हासिल करके भूमिहीन परिवारों में प्रत्येक परिवार को दो एकड़ के हिसाब से बाँटी जाये तो 75 लाख भूमिहीन किसान और खेत-मज़दूर मालिक किसान बन सकते हैं... (मई-जून, 1997, पृष्ठ 29)।"

एक और अंक में 'सुर्ख रेखा' का कहना है, "तीसरी किस्म उन माँगों की थी जिनके लागू होने से खेत-मज़दूरों की जिन्दगी में काफ़ी बड़े और आंशिक बदलाव आते हैं। जैसे साढ़े सत्रह एकड़ तक की मालिकी छोड़ कर बाकी की ज़मीन को खेत-मज़दूरों (असल में भूमिहीन किसानों) और कम ज़मीनों वाले किसानों में बाँट देने से, खेत-मज़दूर, आबादी के ग़ैर-मालिक हिस्सों से छोटे स्वामित्व वाले हिस्सों में तब्दील हो जाते हैं और पक्के रोज़गार की प्राप्ति हो जाने से, खेत-मज़दूरों की ज़मीन्दारों और ग्रामीण साहूकारों के ऊपर निर्भरता काफ़ी कम हो जाती है (सितम्बर-दिसम्बर 2003, पृष्ठ 48)।"

उक्त पैरा पढ़कर तो यूँ लगता है कि जैसे 'सुर्ख रेखा' की सम्पादकीय टीम में सिसमोन्दी की आत्मा प्रकट हो गयी हो। यही कुछ तो सिसमोन्दी कहता है, "मैं चाहता हूँ कि फैक्टरियों का स्वामित्व बहुत सारे मध्यम पूँजीपतियों में बाँट दिया जाये और वह एक आदमी के हाथों में संकेन्द्रित न हो जो दसियों-लाखों का मालिक है...श्रमिक वर्ग ख़त्म कर दिए जाने चाहिए, इनको दोबारा सम्पत्तिवान वर्ग बना दिया जाना चाहिए ('कैरेक्टराइज़ेशन ऑफ इकॉनॉमिक रोमैण्टिसिज़्म' में लेनिन द्वारा दिया गया उद्धरण, पृष्ठ 130, अंग्रेज़ी से अनुवाद हमारा)। क्या 'सुर्ख रेखा' और सिसमोन्दी की अवस्थिति में कोई फर्क है?

आज जब पहले ही भारतीय खेती में पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के विकास के कारण छोटी किसानी कृषि क्षेत्र में टिक नहीं पा रही तो ये निजी सम्पत्ति के कोढ़ से मुक्त हुए सर्वहाराओंके आगे छोटे स्वामित्व की सुन्दर तस्वीर पेश करके उनको स्वप्नलोक की सैर करवाते हैं। भूमिहीनों में ज़मीन का बँटवारा इस व्यवस्था की ही उम्र बढ़ाएगा और छोटे किसानों सहित सभी मेहनतकशों की मुसीबतों को और बढ़ाएगा। अब जब पूँजी अपने ही तर्क से ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को सम्पत्तिहीन बना रही है तो लोगों में निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के ख़ात्मे के प्रचार की ग्राह्यता का वस्तुगत आधार तैयार हो रहा है और कम्युनिस्टों को इन अनुकूल परिस्थितियों का फायदा लोगों में निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे की चेतना का प्रसार करने के लिए उठाना चाहिए। लेकिन यह पत्रिकाएँ उल्टे पाँव चलती हैं। ये सम्पत्तिहीनों को सम्पत्ति का लालच देकर उनकी चेतना में ज़हर घोलने का काम कर रही हैं।

फ्रेडरिक एंगेल्स अपने प्रसिद्ध लेख 'आवास प्रश्न' में एक स्पैनिश क्रान्तिकारी अखबार La Emacipacion का हवाला देते हुए लिखते हैं, "सत्ताधारी वर्ग के सबसे चतुर नेताओं की कोशिशों का हमेशा यह लक्ष्य रहा है कि छोटे-छोटे सम्पत्ति स्वामियों की संख्या बढ़ती रहे ताकि सर्वहारा के विरुद्ध अपने लिए एक सेना तैयार की जा सके। गत शताब्दी की पूँजीवादी क्रान्तियों ने सामन्तों तथा चर्च की बड़ी-बड़ी जागीरों को छोटे-छोटे भू-खण्डों में बाँटा -- ठीक उसी तरह जिस तरह स्पेनी गणतंत्रवादी अपने यहाँ अब भी मौजूद बड़ी जागीरों को बाँटना चाहते हैं -- और इस तरह उन्होंने छोटे भूस्वामियों का एक वर्ग पैदा कर दिया जो तब से समाज में सबसे बड़ा प्रतिक्रियावादी तत्व तथा शहरी सर्वहारा के क्रान्तिकारी आन्दोलन की राह में स्थायी बाधक बना हुआ है (मार्क्स-एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खण्ड 2, पृष्ठ 312, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

क्या उपरोक्त पत्रिकाओं, पार्टियों, ग्रुपों के विचार और प्रयत्न भी "सत्ताधारी वर्ग के सबसे चालाक नेताओं" से मिलते-जुलते नहीं हैं?

कार्ल मार्क्स लिखते हैं, "फ्रांस अपने किसान स्वामित्व से, इंगलैण्ड जहाँ लैण्डलार्डिज़्म है, भूमि के राष्ट्रीकरण से बहुत दूर है। फ्रांस में यह सच है कि भूमि, जो भी इसको ख़रीद सकते हों, उन सभी को हासिल हो सकती है, परन्तु यही सुविधा भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटवारे को जन्म देती है जो कि आदमियों द्वारा मामूली साधनों से मुक्त अपने और अपने परिवार के श्रम पर निर्भर रहते बोई जाती है। भूमि स्वामित्व की यह किस्म और टुकड़ों में की जाने वाली जोत, आधुनिक कृषि सुधारों को खारिज कर देती है, खुद किसान को सामाजिक विकास और

सबसे बढ़कर भूमि के राष्ट्रीकरण का सबसे मजबूत दुश्मन बना देती है...किसान औद्योगिक मज़दूर वर्ग के सबसे तीखे विरोध में आ खड़ा होता है (मार्क्स-एंगेल्स, संकलित रचनाएँ, खण्ड 2, पृष्ठ 289, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

क्या 'ज़मीन जोतने वाले की' का नारा देने वाले, लैण्ड-सीलिंग से ऊपर ज़मीन भूमिहीनों में बाँटे जाने की वकालत करने वाले, उक्त पत्रिकाएँ, पार्टियाँ, ग्रुप भी सामाजिक विकास, भूमि के राष्ट्रीकरण के सबसे मज़बूत विरोधियों को पैदा करने का काम नहीं कर रहे हैं?

छोटे मालिकों का सम्पत्तिहीन मज़दूरों में रूपान्तरण ऐतिहासिक-सामाजिक दृष्टि से एक प्रगतिशील कदम है

"दरअसल जिन घटनाओं ने छोटे किसानों को उजरती मज़दूरों और उनके जीवन-निर्वाह तथा श्रम करने के साधनों को पूँजी के भौतिक तत्वों में बदल दिया था, उन्हीं घटनाओं ने पूँजी के लिए एक घरेलू मण्डी भी तैयार कर दी थी। पहले किसान का परिवार जीवन-निर्वाह के साधन और कच्चा माल पैदा करता था, और इन चीजों के अधिकतर भाग का उपभोग भी प्रायः किसान और उसके परिवार के लोग ही करते थे। पर अब यह कच्चा माल और जीवन-निर्वाह के ये साधन माल बन गये हैं। बड़ा किसान इन चीजों को बेचता है, उसका बाज़ार है मैन्युफैक्चर। सूत, लिनेन, ऊन का मोटा सामान -- वे तमाम चीज़ें, जिनका कच्चा माल पहले हर किसान-परिवार की पहुँच के भीतर था और जिनको प्रत्येक किसान-परिवार अपने निजी इस्तेमाल के लिए कात-बुनकर तैयार कर लिया करता था, अब मैन्युफैक्चर की चीजों में रूपान्तरित हो गयीं, और देहाती इलाके इनके लिए मण्डियों का काम करने लगे।... इस प्रकार जहाँ एक ओर, आत्मनिर्भर किसानों का सम्पत्तिहरण किया जाता है और उनको उत्पादन के साधनों से अलग कर दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर, इसके साथ-साथ देहात के घरेलू उद्योग को भी नष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार मैन्युफैक्चर और खेती का सम्बन्ध-विच्छेद करने की क्रिया सम्पन्न की जाती है। और केवल देहात के घरेलू उद्योग के विनाश से ही किसी देश की आन्तरिक मण्डी को वह विस्तार तथा वह स्थिरता प्राप्त हो सकती है, जिसकी पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को आवश्यकता होती है (कार्ल मार्क्स, पूँजी, खण्ड एक, पृ. 786-787, हिन्दी संस्करण)।"

"नतीजतन किसानों का ग्रामीण सर्वहारा में रूपान्तरण, मुख्यतः उपभोग की वस्तुओं की मण्डी पैदा करता है, जबकि ग्रामीण बुर्जआ वर्गमें रूपान्तरण मुख्यतः उत्पादन के साधनों की मण्डी पैदा करता है। दूसरे शब्दों में, "किसानी" के निचले समूहों में हम श्रम-शक्ति को माल में बदलते देखते हैं और ऊपर वाले समूह में हम उत्पादन के साधनोंको पूँजी में बदलते देखते हैं। दोनों रूपान्तरणों का नतीजा घरेलू-मण्डी के पैदा होने की प्रक्रिया में निकलता है, जिसको सिद्धान्त ने सारे पूँजीवादी देशों के लिए आम रूप में स्थापित किया (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ठ 166)।"

इस प्रकार छोटे मालिकों के उजरती मज़दूरों में बदलने से पूँजीवाद के लिए घरेलू मण्डी का जन्म होता है। लेकिन हमारे नरोदनिक इसके ठीक विपरीत राय रखते हैं। प्रूदों, सिसमोन्दी और रूसी नरोदनिकों के सुर में सुर मिलाते हुए, वे इस बात का ज़ोर-शोर से प्रचार करते हैं कि छोटे किसानों के मज़दूरों में बदलने से लोगों की ख़रीद-शक्ति घटेगी, किसानों के खेती से बाहर होने से कृषि-क्षेत्र में औद्योगिक माल की माँग घटेगी, जिस से उद्योग भी तबाह हो जाएगा, अर्थात छोटे स्वामित्व की तबाही का मतलब है--मुकम्मल अर्थव्यवस्था की तबाही।

छोटे किसानों के कृषि क्षेत्र से बाहर होने से ज़मीन का केन्द्रीकरण बढ़ता है, जिस कारण कृषि में नयी आधुनिक तकनीक का अपनाया जाना सम्भव हो जाता है। जिससे कृषि क्षेत्र में विकास का रास्ता साफ होता है। कृषि क्षेत्र में औद्योगिक माल की माँग और खपत में बढ़ोतरी होती है। कृषि क्षेत्र में लगी पूँजी का अवयवी संघटन ऊँचा होता है, अर्थात कृषि में स्थिर पूँजी में बढ़ोतरी होती है, जिससे श्रम की उत्पादकता तेजी से बढ़ती है। "पूँजीवाद के विकास और इसकी समाजवाद में तब्दीली के अमल के लिए (कुल पूँजी के) स्थिर पूँजी वाले हिस्से की अस्थिर पूँजी वाले हिस्से के मुकाबले में अधिक बढ़ोतरी बहुत महत्व रखती है (लेनिन, कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा, पृष्ठ 26, पंजाबी संस्करण, अनुवाद हमारा)।" "किसानों की तबाही कृषि विकास का रास्ता खोलती है (लेनिन, सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 3, पृष्ठ 26, अंग्रेज़ी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

छोटे किसानों के खेत-मज़दूरों में रूपान्तरण का तीसरा नतीजा श्रम के बढ़ते हुए समाजीकरण के रूप में सामने आता है। किसानों के आपसी सहयोग-सहकार में रुकावट बनी ज़मीनों के खो जाने से, श्रम के समाजीकरण और श्रम का रास्ता साफ होता है। लेनिन लिखते हैं, "श्रम का समाजीकरण जो हज़ारों रूपों में दिनोंदिन बढ़ती तेजी के साथ हो रहा था...बड़े पैमाने का पूँजीवादी उत्पादन...समाजवाद की अपरिहार्य आमद के लिए मुख्य भौतिक आधार मुहैया करता है (कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा, पृष्ठ 35)।"

"हम मार्क्स का यह सिद्धान्त जानते हैं, जो यह मानता है कि धन की अधिक तेजी से बढ़ोतरी, श्रम की उत्पादक शक्तियों का विकास और इसका समाजीकरण जितना अधिक होगा, मज़दूर की स्थिति उतनी ही बेहतर होगी (लेनिन, 'ए कैरेक्टराइज़ेशन ऑफ इकॉनॉमिक रोमैण्टिसिज़्म', पृष्ठ 24, अनुवाद हमारा)।"

"सिसमोन्दी कहता है कि अगर पूँजी का संचय धीमी गति से होता है तो यह सहनीय है और अगर यह संचय तेज़ गति से होता है तो यह असहनीय हो जाता है -- दूसरी ओर अगर हम संकट की व्याख्या उत्पादन के सामाजिक स्वरूप और विनियोजन के व्यक्तिगत स्वरूप के बीच अन्तरविरोध के रूप में करते हैं, तो इसलिए हम मानते हैं कि पूँजीवादी रास्ता ही असली और प्रगतिशील है और "अलग रास्तों" की खोज को मूर्खतापूर्ण, रोमांसवाद के तौर पर रद्द करते हैं। इसलिए हम मानते हैं, जितना यह अन्तरविरोध विकसित होता है और यह कि इस व्यवस्था का विकास ही, इससे मुक्ति का रास्ता मुहैया करवाता है (लेनिन, उपरोक्त, पृष्ठ 50-51, अनुवाद हमारा)।"

छोटे किसानों के उजरती मज़दूरों में बदलने का चौथा नतीजा समाज के तीखे ध्रुवीकरण के रूप में सामने आता है। समाज दिनोंदिन दो ध्रुवों -- पूँजीपतियों और मज़दूरों के बीच अधिकाधिक बँटता जाता है जिससे गाँवों और शहरों में हर स्थान पर वर्ग संघर्ष के तीखे होने का रास्ता साफ होता है। मार्क्स लिखते हैं, "कृषि के क्षेत्र में आधुनिक उद्योग ने और किसी भी स्थान से अधिक क्रान्तिकारी असर डाला है। इसका कारण यह है कि यह पुराने समाज के परकोटे, किसान को ख़त्म कर देता है और उसका स्थान सर्वहारा को दे देता है। इस प्रकार सामाजिक बदलाव की इच्छा और वर्ग शत्रुता देहात में भी उसी पैमाने पर आ जाते हैं, जिस तरह शहर में (पूँजी, खण्ड 1, पृष्ठ 544, पंजाबी संस्करण, अनुवाद हमारा)।"

(जनवरी 2004 में लिखित)

"अस्मितावादी" राजनीति और उत्तरआधुनिकतावाद का राजनीतिक एजेण्डा

सन्दर्भ : विश्व सामाजिक मंच और विश्व पर्वतीय जन संघ

● अभिनव

विश्व सामाजिक मंच का छठा वार्षिक सत्र अभी हाल ही में केन्या में सम्पन्न हुआ। इसके पूर्व विगत 9-13 नवम्बर, 2006 के दौरान, दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू स्टेडियम में विश्व सामाजिक मंच के भारतीय अध्याय -- भारतीय सामाजिक मंच का पाँच दिवसीय जलसा हुआ। विश्व सामाजिक मंच का चौथा वार्षिक सत्र भी 16-21 जनवरी, 2004 के दौरान मुम्बई में हुआ था।

प्रसंगवश, यहाँ यह स्मरण ज़रूरी है कि विश्व सामाजिक मंच का गठन पोर्तो अलेग्रे (ब्राज़ील) में 2000 में हुआ था और इसका पहला वार्षिक आयोजन जनवरी, 2001 में हुआ था। इस मंच के गठन के पीछे ब्राज़ील की सत्तारूढ़ वर्कर्स पार्टी, फ्रांसीसी एन.जी.ओ. के प्लेटफार्म ए.टी.टी.ए.सी. (अटैक) और ब्राज़ीलियाई एन.जी.ओ. के एसोसिएशन की पहलक़दमी थी। आज विश्व सामाजिक मंच में दुनिया के विभिन्न देशों के एन.जी.ओ., "नये सामाजिक आन्दोलन" और "नागरिक समाज" का शोशा उछालने तथा अस्मिता की राजनीति या पहचान की राजनीति (आइडेण्टिटी पॉलिटिक्स) की जुमलेबाज़ी करने वाले संगठनों-बुद्धिजीवियों के साथ ही भाँति-भाँति के सामाजिक जनवादी, त्रात्स्कीपंथी और संशोधनवादी पार्टियाँ भी शामिल हैं। इस सम्पूर्ण राजनीतिक उद्यम की अन्तर्वस्तु को स्पष्ट कर देने के लिए मात्र यही एक तथ्य काफ़ी है कि विश्व सामाजिक मंच के आधे से अधिक घटक संगठन साम्राज्यवादी पैसे से संचालित एन.जी.ओ. हैं और इसके वित्तपोषकों में फ़ोर्ड फ़ाउण्डेशन, ऑक्सफ़ेम, हाइनरिख़ बोल फाउण्डेशन और ऐक्शन एड जैसी दुनिया की सबसे बड़ी फ़ण्डिंग एजेंसियाँ शामिल हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न चैनलों से विश्व बैंक, फ्रांस, ब्राज़ील और अन्य देशों की सरकारों और दर्ज़नों फ़ण्डिंग एजेंसियों का पैसा मंच को मिल रहा है। न केवल वित्तपोषण के चरित्र के ज़रिये, बल्कि विश्व सामाजिक मंच की संरचना और राजनीतिक क्रियाकलापों के विश्लेषण से भी जागरूक पाठकों के सामने यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ हो जाती है कि इस मंच का उद्देश्य आज के पूँजीवादी विश्व से भिन्न किसी विश्व के निर्माण के लिए दुनिया की शोषित-उत्पीड़ित आबादी को संगठित करना नहीं, बल्कि उसे दिग्भ्रमित और विखण्डित करना है तथा उसके संघर्षों को आगे बढ़ने से रोकना है। यह राजनीतिक उद्यम वस्तुतः विश्व पूँजीवाद की आन्तरिक कार्य-प्रणाली का ही अंग है जो भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया की अनिवार्य विस्फोटक सामाजिक परिणतियों को नियंत्रण में रखने के उद्देश्य से, एक प्रतिसन्तुलनकारी शक्ति के रूप में विश्व पूँजीवाद के सिद्धान्तकारों और नीति-निर्मात्री संस्थाओं द्वारा संघटित किया गया है। पूँजी का स्वतंत्र तर्क यदि निर्बाध गति से विकसित हो तो सामाजिक वर्गीय ध्रुवीकरण और उग्र सामाजिक अन्तरविरोधों का विस्फोट जल्दी ही पूँजीवादी व्यवस्था को धूल में मिला देगा। इसे ही रोकने के लिए पूरी दुनिया के पूँजीवादी सिद्धान्तकार, राज्यसत्ताएँ अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ और पार्टियाँ तरह-तरह के 'स्पीड ब्रेकर्स' और 'सेफ़्टी वॉल्व्स' बनाती रहती हैं, व्यवस्था की हिफ़ाज़त के लिए दूसरी-तीसरी सुरक्षा पंक्तियाँ खड़ी करती रही हैं तथा जनसंघर्षों के बीच तरहतरह के 'ट्रोज़न हॉर्स' घुसाती रहती हैं। पहले सामाजिक जनवादी और संशोधनवादी पार्टियाँ पूँजीवादी व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति, 'ट्रोजन हॉर्स' और 'सेफ़्टी वॉल्व' की भूमिका प्रभावी ढंग से निभा रही थीं। आज यही काम तथाकथित 'न्यू सोशल मूवमेण्ट्स' तथा अस्मितावादी राजनीति और नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) का नारा बुलन्द करने वाले एन.जी.ओ. तथा उनके द्वारा प्रायोजित संगठन एवं आन्दोलन कर रहे हैं। "नये सामाजिक आन्दोलन" और नागरिक समाज के इस कोरस में तमाम तथाकथित मार्क्सवादी अकादमीशियन और संशोधनवादी पार्टियों के नुमाइन्दे भी ख़ूब सुर मिला रहे हैं।

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य विश्व सामाजिक मंच के "चाल-चेहरा" का विश्लेषण नहीं है *(जागरूक और उत्सुक पाठक इसके सांगोपांग विश्लेषण के लिए देखें, 'डब्ल्यू.एस.एफ. : साम्राज्यवाद का नया ट्रोजन हॉर्स', जनवरी, 2004, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ। एन.जी.ओ. विषयक ज़रूरी सामग्री के लिए देखें, 'एन.जी.ओ. : एक ख़तरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र', जनवरी 2002, राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ)*। हमारा मूल मन्तव्य यहाँ उन केन्द्रीय सैद्धान्तिक-वैचारिक सूत्रों एवं नारों की पड़ताल करना है और उनके अन्तर्य को उजागर करना है, जिन्हें विश्व सामाजिक मंच, एन.जी.ओ. राजनीति और तथाकथित नये सामाजिक आन्दोलनों के प्रणेता और सूत्रधार अपने सैद्धान्तिक आधार के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इनमें सर्वप्रमुख हैं : अस्मिता की राजनीति (आइडेण्टिटी पॉलिटिक्स) या "अस्मितावादी" राजनीति और नागरिक समाज का नारा। नागरिक समाज की बात करते हुए नवमार्क्सवादी बुद्धिजीवी प्रायः मार्क्स और ग्राम्शी के भी हवाले देते हैं और काफ़ी विभ्रम पैदा करते हैं। इसलिए भी इस प्रश्न पर चर्चा ज़रूरी है। विश्व सामाजिक मंच अपने जलसों और अपने साहित्य में हाशिये पर धकेल दी गयी अस्मिताओं या पहचानों (मार्जिनल आइडेण्टिटीज़) की बात करता है। भूमण्डलीकरण और पश्चिमी साम्राज्यवादी आक्रामकता के विरोध के नाम पर वह तमाम 'आदिम' प्राच्य अस्मिताओं का महिमामण्डन करता है। इसके लिए 'पारम्परिक ज्ञान', 'प्राच्य मासूमियत', 'देशी समुदाय' आदि शब्दों का उपयोग किया जाता है। इसके जलसों में अलग-अलग अस्मिताओं की नुमाइन्दगी (?) करने वाले संगठन बड़ी संख्या में आते हैं, जैसे दलित संगठन, पहाड़ी

लोगों के संगठन, आदिवासी संगठन, किन्नर संगठन आदि। नवम्बर 2006 में दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू स्टेडियम में हुए भारतीय सामाजिक मंच के जलसे में भी पाँच दिनों तक गाना-बजाना चलता रहा और देशी (इंडीजीनस) संस्कृति का जश्न मनाया जाता रहा। 'नागरिक समाज' बनाने के लिए नागरिक समाज संगठनों का आह्वान किया गया। इस कोरस में तमाम तथाकथित मार्क्सवादी भी सुर मिला रहे थे।

एक और संगठन विश्व पर्वतीय जन संघ (डब्ल्यू.एम.पी.ए.) है जो लगभग इसी भाषा में अस्मितावादी राजनीति की बातें करता है। पिछले वर्ष 9 से 14 अक्टूबर तक कुल्लू-मनाली से लगभग 40 किमी आगे नागनी नामक जगह पर डब्ल्यू.एम.पी.ए. का पाँच दिनों का सम्मेलन हुआ जिसमें दुनिया भर के पहाड़ी लोगों के बीच काम करने वाले स्वयंसेवी संगठनों के लोग इकट्ठा हुए। ये भी आश्चर्यजनक रूप से उसी भाषा में बात कर रहे थे जिस भाषा में विश्व सामाजिक मंच बात करता है--'देशी अधिकार' (इंडीजीनस राइट्स), 'देशी ज्ञान' (इंडीजीनस नॉलेज), 'देशी समुदाय' (इंडीजीनस कम्युनिटी) आदि...। बस इसका फोकस और अधिक केन्द्रित था। यह सिर्फ़ पहाड़ी अस्मिता की बात करता है। यह कहता है कि दुनिया भर के पर्वतवासियों के मुद्दे और समस्याएँ एक हैं। इसमें भारत के पर्वतीय क्षेत्रों के लगभग सभी तथाकथित वामपंथी बुद्धिजीवी, सुधारवादी संगठन, "वामपंथी" संगठन और "जनपक्षधर" साहित्यकार पधारे थे। इसमें पाँच दिनों तक ऐसी रणनीतियाँ बनाने पर चर्चा होती रही कि किस तरह से लोगों को किसी परिवर्तनकारी राजनीति या आन्दोलन की ओर मुड़ने से रोका जा सके जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की घुसपैठ से होने वाले पहाड़ी लोगों के विस्थापन पर असन्तुष्ट और रुष्ट हैं। इस बात पर भी विचार हुआ कि सरकार को किस तरह से इस बात पर सहमत किया जाय कि वह उदारीकरण-निजीकरण और विभिन्न कारपोरेशनों को पहाड़ में संसाधन और ज़मीन सौंपने की प्रक्रिया को थोड़ा धीरे-धीरे चलाये ताकि ऐसे किसी एकमुश्त प्रतिरोध का सामना न करना पड़े जिसे सँभालना ही मुश्किल हो जाय। यह मंच कुछ फ्रांसीसी फ़ण्डिंग एजेंसियों और राजनीतिज्ञों द्वारा चलाया जा रहा है।

ये दोनों ही मंच देशी पहचान, संस्कृति, भाषा, ज्ञान, परम्परा, समुदाय आदि को महिमा-मण्डित करते हैं और उनका सकारात्मक निरपेक्षीकरण (पॉज़िटिव एब्सोल्यूटाइज़ेशन) करते हैं। ऊपर से तो ये भूमण्डलीकरण-विरोध की बात करते हैं लेकिन एक ऐसी ज़मीन से जिस पर खड़े होकर भूमण्डलीकरण को कभी चुनौती नहीं दी जा सकती। यह ज़मीन अतीत की है। प्राचीन सामुदायिक ज्ञान की श्रेष्ठता की बात अनालोचनात्मक शैली में की जाती है और बताया जाता है कि विकसित पश्चिमी दुनिया से आने वाली वस्तुएँ, तकनोलॉजी और यहाँ तक कि विचार भी हमारे लिए अनुपयोगी हैं। हमारे लिए जो उपयोगी है वह है "हमारा" ज्ञान, और "पश्चिमी" ज्ञान "उनका" ज्ञान है, "दूसरों" का ज्ञान (नॉलेज ऑफ दि अदर) है, जो तबाही लाता है, उजाड़ता और खदेड़ता है। इसलिए हमें वह सबकुछ बचाना होगा जो देशी है, 'इंडीजीनस' है, क्योंकि वही हमारा सत्य है। एक सापेक्षवादी अवस्थिति अपनाकर हमें बताया जाता है कि पश्चिम का सांस्कृतिक दम्भ तोड़ने के लिए हमें अपने "देशी" को बचाना होगा। ये आदिम समुदायों और आदिवासियों की प्राचीन उत्पादन पद्धतियों के उजड़ने पर काफ़ी आँसू बहाते हैं और कहते हैं कि उनको बचाओ! ये कहते हैं कि अगर दूर-दराज़ के किसी इलाके में कोई समुदाय आज भी छाल लपेटकर रहता है तो उसको उसी रूप में संरक्षित किया जाना चाहिए। डब्ल्यू.एम.पी.ए. कहता है कि पहाड़ी लोगों को पहाड़ कभी नहीं छोड़ना चाहिए। पहाड़ से मैदानों में प्रवास नहीं होना चाहिए। और मैदानों से भी लोग बस घूमने के लिए ही पहाड़ जाएँ तो अच्छा है क्योंकि ये 'आउटसाइडर' उनकी सिंग्युलर पहचान को नष्ट कर देते हैं। इसलिए हर प्राच्य समुदाय को संरक्षित किया जाना चाहिए। यानी ये एक किस्म के सांस्कृतिक संरक्षणवाद का उपदेश देते हैं। इनका कहना है कि पश्चिम में पैदा हुई चीज़ें ही साम्राज्यवाद को लाती हैं। यह साम्राज्यवाद की सांस्कृतिक आलोचना है जो साम्राज्यवाद द्वारा ही वित्तपोषित है। ये दोनों ही मंच ऐसे तमाम संगठन बनाते और बनवाते हैं जो देशी तकनोलॉजी, ज्ञान के विकास, अलग-अलग समुदायों के ज्ञान और परम्परा के संरक्षण की बात करते हैं। ये समुदाय को महिमा-मण्डित करते हैं और उसका गुणगान करते हैं। इसीलिए इनके जलसों में आदिवासियों के नृत्य, सांस्कृतिक कार्यक्रम, आदिम समुदायों के नृत्य आदि का कार्यक्रम होता है और उस पर तमाम महानगरीय "वामपंथी" बुद्धिजीवी काफ़ी उल्लसित होकर, उन्माद में आकर नाचते हैं। समुदाय ज़िन्दाबाद! कबीला ज़िन्दाबाद! आदिमता ज़िन्दाबाद! इनको ऐसे ही बनाये रखो--इनको ऐसे ही बनाये रखो!!

इसके पीछे की पूरी सोच और दर्शन क्या है? तमाम अस्मिताओं की बात करते हुए ये मंच आख़िर करना क्या चाहते हैं? पूरी जनता को ऐसी खण्डित अस्मिताओं में बाँट देने के पीछे का असली मकसद क्या है? इसके लिए हमें थोड़ा गहराई में जाना पड़ेगा और इनके नारों से इनके दर्शन को निकालना पड़ेगा। अस्मिताओं पर ज़ोर देना इनके बारे में काफ़ी कुछ बता देता है। एक वर्ग समाज में किसी भी मनुष्य की बहुआयामी अस्मिताएँ होती हैं। हर मनुष्य की कोई भाषा होती है, कोई जाति होती है, कोई क्षेत्र होता है, कोई राष्ट्रीयता होती है, आदि-आदि। लेकिन एक अस्मिता जो इन सभी पहचानों को काटते हुए अस्तित्वमान है वह है वर्ग पहचान। इस बात को हम किसी नारे के रूप में इस्तेमाल नहीं कर रहे। आगे हम इस बात को तर्कों से पुष्ट भी करेंगे कि वर्ग-अस्मिता ही 'ओवर-राइडिंग' अस्मिता क्यों है। फिलहाल कुछ फौरी तर्क देकर हम अस्मितावादी राजनीति के पीछे के दर्शन के विवेचन की ओर बढ़ेंगे और उस विवेचन के ही किसी हिस्से में हम वर्ग-अस्मिता के बारे में अपनी बात सकारात्मक तौर पर रखेंगे। हर भाषाई, जातीय, क्षेत्रीय पहचान वर्ग विभाजित है। भाषाई, जातिगत या राष्ट्रगत अस्मिता के आधार पर कोई वास्तविक बुनियादी मुद्दा नहीं उठाया जा सकता। चाहे कोई भी राष्ट्र हो, कोई भी जाति हो, कोई भी भाषा हो, कोई भी क्षेत्र हो, इसके लोग वर्गों में विभाजित हैं और उनके बीच एक तीख़ा ध्रुवीकरण हो चुका है। वर्ग-अस्मिता को उभारने का अर्थ अन्य अस्मिताओं की विशिष्टताओं को कुचल देना या नष्ट कर देना नहीं है। वर्ग-अस्मिता को सुदृढ़ीकृत करने का अर्थ है वर्ग चेतना को उन्नत करना। और इसका मक़सद वर्ग-अस्मिता के इर्द-गिर्द व्यापक ग़रीब आबादी को गोलबन्द करना है, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा, राष्ट्रीयता आदि के हों। व्यावहारिक तौर पर ही सोचा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसीलिए वर्ग-अस्मिता ही वह अस्मिता है जो व्यापकतम सम्भव जनगोलबन्दी कर सकती है। लेकिन विडम्बना की बात है कि यही वह अस्मिता है जिस पर बड़े गर्म-गर्म नारे देने वाले विश्व सामाजिक मंच और डब्ल्यू.एम.पी.ए. चुप्पी साधे रहते हैं। वर्ग की बात ही करना उनके लिए वर्ग अपचयनवाद (क्लास रिडक्शनिज़्म) है या फिर वे बड़ी मासूमियत के साथ पूछते हैं कि वर्ग-अस्मिता ही क्यों? हम समुदायगत अस्मिता को उभारेंगे। समुदायगत अस्मिता को अतिरेखांकित करने के पीछे इनकी

सोच क्या है? हम उनके पूरे दर्शन का विवेचन कुछ उपशीर्षकों के अन्तर्गत करें तो अधिक स्पष्टता के साथ उनका असली एजेण्डा समझा जा सकता है। सबसे पहले इस अस्मितावादी राजनीति के उदय की वैश्विक भौतिक पृष्ठभूमि को समझना ज़रूरी है। इसके बाद हम उन तमाम नारों और जुमलों के पीछे की असलियत को समझने की कोशिश करेंगे जो ऐसे मंच उठाते हैं, मसलन, 'सिविल सोसायटी', समुदाय का महिमामण्डन, वर्ग अपचयनवाद, 'स्माल इज़ ब्यूटिफुल', 'फ्रैग्मेण्ट्स', आदि। सबसे पहले विश्व सामाजिक मंच, डब्ल्यू.एम.पी.ए. जैसे मंचों और उनकी अस्मितावादी राजनीति को भूमण्डलीकरण और समाजवादी खेमे के विघटन के बाद की दुनिया में सन्दर्भित करना होगा।

भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया की शुरुआत के बाद दुनिया के उन देशों में जहाँ नवउदारवादी आर्थिक नीतियाँ लागू की गयीं, वहाँ बड़े पैमाने पर लोग उजड़े, बेरोज़गारी तेज़ रफ्तार से बढ़ी और जनता में असन्तोष काफ़ी तेज़ी से बढ़ा। समाज में वर्ग-विभाजन बेहद तीखा होता गया और ध्रुवीकरण तीव्र गति से बढ़ा। ऐसे में जनता के बीच भूमण्डलीकरण की प्रक्रियाओं के प्रभावों पर पनप रहे भयंकर गुस्से पर थोड़ा ठण्डे पानी का छिड़काव करने के लिए एन.जी.ओ. सेक्टर को बड़े पैमाने पर आगे बढ़ाया गया। लेकिन कुछ ही समय में सिर्फ़ सुधारवाद के नारे इस काम को अंजाम देने में नाकाफ़ी साबित होने लगे। ऐसे में इस प्रकार के मंचों की ज़रूरत पैदा हुई जो प्रत्यक्ष तौर पर क्रान्तिकारियों जैसी रैडिकल बातें करते हों लेकिन सामाजिक-आर्थिक रूपान्तरण का कोई व्यापक और व्यावहारिक कार्यक्रम न देते हों। तो विश्व सामाजिक मंच युद्ध, लूट, शोषण, जातिगत उत्पीड़न, पर्यावरण की तबाही, स्त्री उत्पीड़न आदि की कड़ी निन्दा करता है, लेकिन यह कहीं नहीं बताता कि इसके लिए ज़िम्मेदार कौन है और लड़ना किसके ख़िलाफ़ है। उल्टे यह मंच कहता है कि यह कोई साझा कार्रवाई नहीं करेगा। यह तो सिविल सोसायटी संगठनों के लिए एक खुला मिलन-स्थल है जिस पर वे विचार-विमर्श किया करेंगे। यह सशस्त्र कार्रवाई करने वाले क्रान्तिकारी संगठनों को अन्दर आने से वर्जित करता है। यानी आज अगर वियतनाम युद्ध चल रहा होता तो वियतनाम के मुक्तियोद्धाओं और आज दुनिया के तमाम हिस्सों में साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ अपनी आत्मरक्षा और अधिकारों के लिए हथियार उठाकर लड़ने वाले लोगों के लिए इस मंच पर कोई जगह नहीं है। अगर आज स्पेनी गृहयुद्ध चल रहा होता तो इसमें क्रिस्टोफर कॉडवेल और राल्फ फॉक्स जैसे योद्धा बुद्धिजीवियों के लिए कोई स्थान नहीं है। जूलियस न्यरेरे, बेन बेला, अमिल्कर कबराल जैसे राष्ट्रवादी मुक्तियुद्धों के नायकों को भी विश्व सामाजिक मंच के जलसों के दरवाज़े पर ही रोक दिया जाता। यह सशस्त्र क्रान्ति को अवांछित घोषित करता है और कहता है कि इससे दुनिया भर में जारी अमानवीकरण की प्रक्रिया को ही बढ़ावा मिलता है। लेकिन, बंगाल में तमाम मज़दूरों के हितों को ताक़ पर रखकर देशी और विदेशी पूँजी को आमन्त्रित करने वाली सरकार के प्रतिनिधियों का स्वागत है! उन तमाम संशोधनवादी पार्टियों के नुमाइन्दों का यहाँ स्वागत है जिन्होंने जनता के संघर्षों के दमन में कोई कसर नहीं छोड़ी है बल्कि कई बार तो खुली पूँजीवादी पार्टियों को भी मात दे दी है। दुनिया भर में सबसे घृणित हिंसा और अमानवीकरण के लिए ज़िम्मेदार चुनावी राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधियों को यह सादर आमन्त्रित करता है। ज़ाहिर है कि इस सामाजिक (??!!) मंच की सामाजिकता किसके लिए है!

यह मंच दरअसल तमाम परिधिगत या गौण अस्मिताओं को उभारकर वर्ग-अस्मिता को दृष्टिओझल चाहता है। इसका मकसद है भूमण्डलीकरण के वजह से तीव्र हुए वर्ग-विभाजन और ध्रुवीकरण के परिणामस्वरूप किसी वर्ग आधारित एकता को बनने से रोकना। सिविल सोसायटी की बात करके यह परिवर्तन की सारी बात को पूँजीवादी व्यवस्था के डिस्कोर्स की सीमा में बाँध देता है। वर्ल्ड बैंक भी इस शब्द का खूब इस्तेमाल करता है। अपने 2000-2001 की रिपोर्ट में विश्व बैंक कहता है कि वह सिविल सोसायटी के संगठनों (यानी जो इसी समाज के दायरे में ही रहें और उसी में पैबन्द लगा-लगाकर इस व्यवस्था को बचाये रखने का काम करें) से बातचीत करेगा, उनके बीच विचार-विमर्श को बढ़ावा देगा और साथ ही उन्हें वित्तीय सहायता भी देगा। इसीके साथ वह "भागीदारी जनतन्त्र", "भागीदारी विकास", "भागीदारी बजट" आदि जैसे लुभावने शब्दों का इस्तेमाल करता है। यह जनतंत्र और विकास दरअसल पूँजीवादी जनतन्त्र और विकास ही होगा, "मानवीय चेहरे" के साथ! इसमें सिविल सोसायटी के संगठनों की भागीदारी आमन्त्रित होगी, जैसे दलितवादी संगठन, नारीवादी संगठन, पर्यावरणवादी संगठन, आदिवासी संगठन, विस्थापितों के संगठन, आदि। अगर कोई नहीं होगा तो वह है वर्ग संगठन, वर्ग आधारित एकता। इस पूरे काम को अंजाम देने के लिए जिस शब्द का थोक भाव से इस्तेमाल होता है वह है नागरिक समाज या 'सिविल सोसायटी'। इनके पूरे दर्शन में इस अवधारणा का एक विशेष स्थान है। इसलिए हमारे लिए ज़रूरी है कि हम इस शब्द के ऐतिहासिक-दार्शनिक विकास पर एक नज़र डालें और फिर इनके दर्शन को तार-तार कर उसका विश्लेषण करें।

नागरिक समाज की अवधारणा : इतिहास, अर्थ और निहितार्थ

इन मंचों के जलसों में आने वाले तमाम ठलुआ बुद्धिजीवियों, एन.जी.ओ. के कर्ता-धर्ताओं, फ़ण्डिंग एजेंसियों के चिन्तकों आदि के मुँह से जम्हाई, छींक और खाँसी भी निकलती है तो सिविल सोसायटी की ध्वनि प्रस्फुटित होती है। जहाँ देखो लोग सिविल सोसायटी के विवेचन, मीमांसा, विमर्श में लगे रहते हैं और उसकी अपरिहार्यता पर चिन्ता और अनुपस्थिति पर आँसू बहाते रहते हैं। ताज्जुब की बात तो यह है कि सिविल सोसायटी के इस कोरस में तथाकथित वामपंथी बुद्धिजीवी भी पूरे जोशो-ख़रोश के साथ सुर में सुर मिलाते हैं, हालाँकि मार्क्स ने सिविल सोसायटी का एक आलोचनात्मक विवेचन करते हुए साफ़ कहा है कि एक कम्युनिस्ट के लिए जो वांछित है वह नागरिक समाज नहीं बल्कि मानव समाज है (**देखें, 'थीसिस ऑन फायरबाख़'**)। मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी रचनाओं में नागरिक समाज शब्द का उपयोग आम तौर पर दो अर्थों में किया है। एक तो इस शब्द का अर्थ किसी भी समाज की आर्थिक व्यवस्था को बताने के लिए किया गया है, सामाजिक विकास का चरण चाहे कोई भी हो। इसका अर्थ होता है उन भौतिक सम्बन्धों का कुल योग जो राजनीतिक और वैचारिक अधिरचना की आकृति निर्धारण करते हैं। दूसरा अर्थ है बुर्जुआ समाज। मार्क्स ने इस शब्द का उपयोग हेगेल के प्रत्ययवाद के खण्डन के लिए भी किया था। हेगेल ने *die burgerliche Gesellschaft* या नागरिक समाज शब्द का उपयोग उन व्यक्तियों के क्षेत्र के लिए किया है जो परिवार के ढाँचे का परित्याग करके समाज में आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा के लिए उतरते हैं। यह क्षेत्र राज्य से स्वायत्त होता है। यह वैयक्तिक हितों और वैशिष्ट्य का क्षेत्र होता है जिसमें आत्मविध्वंस

का तत्व होता है। हेगेल के लिए यह अवांछित है और वह राज्य द्वारा इसके प्रतिसन्तुलन की बात करते हैं, क्योंकि राज्य ही वह संरचना है जिसमें सार्वभौमिक हित विजयी हो सकते हैं। जबकि हेगेल से पहले टॉमस हॉब्स, रूसो और एडम स्मिथ का मानना था कि नागरिक समाज ही सार्वभौमिक हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है और वह भी तब जब राज्यसत्ता का कोई हस्तक्षेप न हो। मार्क्स ने हेगेलियाई अवधारणा की आलोचना करते हुए नागरिक समाज की अपनी अवधारणा सामने रखी। वैसे यह कहना पूरी तरह तर्कसंगत नहीं होगा कि मार्क्स ने नागरिक समाज शब्द का उपयोग दो अर्थों में किया है। दरअसल, अर्थ एक ही था। असल में मार्क्स का मतलब था बुर्जुआ समाज का विकास। एक जगह, जहाँ वे प्राक्-पूँजीवादी संरचनाओं के बरक्स पूँजीवाद की क्रान्तिकारी भूमिका और व्यक्ति (इंडीविजुअल) की मुक्ति की बात करते हैं, वहाँ वे नागरिक समाज शब्द का उपयोग एक सामान्यीकृत ढाँचे में करते हैं। वे पूरे इतिहास में वर्ग समाज के विकास के एक पैमाने के रूप में नागरिक समाज की अवधारणा का उपयोग करते हैं। मार्क्स लिखते हैं कि नागरिक समाज पूरे इतिहास का रंगमंच है। यही वह मंच है जिस पर इतिहास आगे बढ़ा है चाहे मंज़िल कोई भी रही हो। नागरिक समाज का प्रयोग कुछ जगहों पर समाज के कुल उत्पादन सम्बन्धों के रूप में भी किया गया है।

"सभी पिछली ऐतिहासिक मंज़िलों में मौजूदा उत्पादक शक्तियों द्वारा निर्धारित अन्तर्सम्बन्ध का रूप *नागरिक समाज* है। यह पलटकर उन उत्पादक शक्तियों को प्रभावित भी करता है। जैसा कि हमारे पहले दिये गये विवरण से स्पष्ट है, नागरिक समाज का आधार परिवार और वह बहुलीय ढाँचा है जिसे कबीला कहते हैं, और इस समाज की और सटीक परिभाषा हमने ऊपर दी है। यहाँ हम स्पष्टतः देखते हैं कि नागरिक समाज इतिहास का वास्तविक केन्द्र और मंच है, और अब तक के इतिहास की अवधारणा कितनी बेतुकी थी जो वास्तविक सम्बन्धों की उपेक्षा करती थी और अपने आपको विलक्षण ऐतिहासिक घटनाओं तक सीमित कर देती थी *(जर्मन आइडियॉलजी, पृ.-57-58, अनुवाद हमारा, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1976)*।" (यहाँ मार्क्स इतिहास की प्रत्ययवादी सोच की चर्चा कर रहे हैं जो इतिहास को विचारों के एक क्रम के रूप में देखती है।)

इस उद्धरण से साफ़ है कि मार्क्स इतिहास की उस अवधारणा को सही मानते हैं जो समाज के इतिहास का अध्ययन उसके उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों में आने वाले बदलाव के रूप में करती है। यहाँ पर भी गौर से पढ़ा जाय तो समझा जा सकता है कि नागरिक समाज से मार्क्स का अर्थ वर्ग समाज है। और असली नागरिक समाज बुर्जुआ समाज ही है क्योंकि वर्ग समाज भी अपने सभी अर्थों को पूँजीवादी समाज की मंज़िल में ही ग्रहण करता है। यहाँ पर मार्क्स के उस तर्क को याद करना ज़रूरी है कि बुर्जुआ समाज ही सही मायने में वह समाज है जिसमें वर्ग-विभाजन अपनी पूर्णता को प्राप्त होते है। पूँजीवादी समाज से पहले भी वर्ग समाज था लेकिन वास्तविक, सार्वभौमिक, पूर्णतः ध्रुवीकृत वर्ग समाज पूँजीवादी समाज के साथ ही अस्तित्व में आया। नागरिक समाज का उपयोग मार्क्स इसी वर्ग समाज के विकास के रूप में करते हैं। सामन्ती समाज में जो सिविल सोसायटी थी वह पूँजीवादी समाज का भ्रूण थी, उस वर्ग-विभाजन के ठोसीकरण की प्रक्रिया की एक मंज़िल थी जिसका चरम पूँजीवादी समाज के रूप में सामने आने वाला था। इसलिए जहाँ मार्क्स नागरिक समाज शब्द का उपयोग सामान्यीकृत रूप में भी करते हैं वहाँ भी उनका अर्थ वर्ग समाज और विशिष्ट अर्थों में बुर्जुआ समाज के विकास की एक मंज़िल के रूप में समाज के विकास की मंज़िल को दिखलाना होता है। एकदम सरल शब्दों में कहें तो मार्क्स ने इस शब्द का इस्तेमाल पूरे मानव इतिहास में वर्ग समाज के अपने चरम तक विकास या पूँजीवादीकरण (बुर्जुआज़ीफिकेशन) के एक पैमाने या स्केल के रूप में किया है। एक और उद्धरण पर नज़र डालें।

"नागरिक समाज उत्पादक शक्तियों के विकास की एक निश्चित मंज़िल में व्यक्तियों के सम्पूर्ण भौतिक अन्तर्सम्बन्ध को समेटता है। यह किसी भी दी गयी मंज़िल पर सम्पूर्ण वाणिज्यिक और औद्योगिक जीवन को समेटता है, और इस रूप में, राज्य और राष्ट्र के सीमान्तों का अतिक्रमण करता है, हालाँकि अपने बाह्य सम्बन्धों में इसे अपने आपको राष्ट्रीय रूप से ही अभिव्यक्त करना होता है और आन्तरिक रूप से इसे अपने आपको राज्य में ही संगठित करना होता है। *<u>यह शब्द "नागरिक समाज" अठारहवीं शताब्दी में पैदा हुआ जब सम्पत्ति सम्बन्धों ने अपने आपको प्राचीन और मध्ययुगीन समुदाय से काट लिया था।</u>* इस रूप में नागरिक समाज सिर्फ़ बुर्जुआजी के साथ ही विकसित होता है; लेकिन उत्पादन और अन्तर्क्रिया से सीधे पैदा होने वाला सामाजिक संगठन, जो सभी युगों में राज्य और शेष वैचारिक अधिरचना के आधार का निर्माण करता है, वह हमेशा इसी नाम से निर्दिष्ट होता है *(जर्मन आइडियॉलाजी, पृ.-98, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1976, अनुवाद और ज़ोर हमारा)*।"

लॉक और रूसो जैसे प्रबोधन काल (एज ऑफ एनलाइटेनमेण्ट) के दार्शनिकों ने प्राकृतिक समाज या प्रकृति के राज्य से सर्वथा भिन्न नागरिक सरकार की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए 'नागरिक समाज' की अवधारणा प्रस्तुत की थी जो उस ऐतिहासिक युग की एक प्रगतिशील अवधारणा थी। लेकिन बुर्जुआ राज्यसत्ता के अस्तित्व में आते ही इस अवधारणा की प्रगतिशील अन्तर्वस्तु उसी प्रकार अपने विपरीत में बदल गयी, जिस प्रकार शाश्वत न्याय के सभी प्रबोधनकालीन आदर्श बुर्जुआ न्याय के रूप में मूर्त हुए। ऐसे में "आदर्श" नागरिक समाज का मूर्त रूप बुर्जुआ समाज ही हो सकता था। यूँ कहें कि नागरिक समाज की प्रबोधनकालीन अवधारणा बुर्जुआ समाज का ही आदर्शीकृत रूप थी। फ्रेडरिक एंगेल्स के इस उद्धरण से इस बात को समझने में मदद मिल सकती है : "अब हम जानते हैं कि बुद्धि का राज बुर्जुआ वर्ग के आदर्शीकृत राज के अलावा और कुछ नहीं था, कि शाश्वत न्याय ने बुर्जुआ न्याय में मूर्त रूप प्राप्त किया, कि समानता क़ानून के सामने नागरिक समानता बनकर रह गयी, कि बुर्जुआ सम्पत्ति को मनुष्य को मनुष्य के सबसे मूलभूत अधिकारों में से एक घोषित कर दिया गया। बुद्धि का राज -- रूसो की सामाजिक संविदा -- केवल बुर्जुआ जनवादी गणराज्य के रूप में अस्तित्व में आया और केवल उसी रूप में अस्तित्व में आ सकता था। अठारहवीं शताब्दी के महान चिन्तक अपने पूर्वजों की भाँति उन सीमाओं से आगे नहीं बढ़ सके, जो उनके युग ने उनके लिए खड़ी की थीं (एंगेल्स : 'ड्यूहरिंग मत खण्डन' की प्रस्तावना)।" स्पष्ट है कि प्रबोधनकालीन दार्शनिकों ने नागरिक समाज का जो आदर्श प्रस्तुत किया था, उसका अमली रूप बुर्जुआ समाज के रूप में सामने आया, क्योंकि सिर्फ यही सम्भव था। अब यदि बुर्जुआ समाज में कोई नागरिक समाज की बात करता है तो वह या तो बुर्जुआ समाज की वास्तविकता पर पर्दा डालने की कोशिश करता है या फिर इसी समाज-व्यवस्था की चौहदी में न्याय एवं समान अधिकार की स्थापना की मृगमरीचिका रचकर जन समुदाय को दिग्भ्रमित करता है। मार्क्स ने अपनी उत्तरवर्ती कृतियों में, समाज को बुर्जुआ समाज के समानार्थी के रूप में इस्तेमाल किया और स्पष्ट शब्दों में कहा कि किसी कम्युनिस्ट शक्ति का उद्देश्य मानव समाज बनाना होता है, सिविल सोसायटी नहीं।

मार्क्स ने नागरिक समाज की अवधारणा का एक आलोचनात्मक विवेचन किया। उत्तर-ग्राम्शीय विमर्श में मार्क्स पर एक और आरोप यह लगाया जाता है कि उन्होंने नागरिक समाज और राज्य को दो अलग चीज़ें मान लिया है जिनके बीच एक अनुदार विभाजन है। मिसाल के तौर पर, **ए डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट** में सिविल सोसायटी की अपनी प्रविष्टि में **ऐन शोस्टैक सैसून** ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि मार्क्स ने नागरिक समाज और राज्य को अलग कर दिया था और इस अलगाव से बुद्धि और विवेक को ग्राम्शी ने मुक्ति दिलायी। (देखें, पृ.-82-83, ए डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट, माया ब्लैकवेल, वर्ल्डव्यू पब्लिकेशन, इण्डियन रीप्रिण्ट, 2000) हालाँकि यह बात ऊपर दिये उद्धरण से ही ग़लत साबित हो जाती है लेकिन हम इसे ख़ारिज करने के लिए थोड़ी जगह और ख़र्च करेंगे। एक और उद्धरण --

"आधुनिक राज्य इसी निजी सम्पत्ति के अनुरूप है, जो कराधान प्रणाली द्वारा सम्पत्तिधारियों द्वारा ख़रीद लिया गया है, राष्ट्रीय ऋण के ज़रिये पूरी तरह उनके हाथों में सिमट गया है और इसका पूरा अस्तित्व उस वाणिज्यिक ऋण पर निर्भर हो गया है जो उसे सम्पत्तिधारी वर्ग, यानी बुर्जुआ वर्ग देता है, जो स्टॉक एक्सचेंज में सरकारी प्रतिभूतियों के चढ़ाव-उतार में साफ़ तौर पर प्रतिबिम्बित भी होता है। ...निजी सम्पत्ति की समुदाय से मुक्ति के ज़रिये राज्य एक विलग वस्तु बन जाता है, जो नागरिक समाज के समानान्तर और उसके बाहर अस्तित्वमान होता है; *लेकिन यह संगठन के उस रूप से अधिक और कुछ भी नहीं है जो बुर्जुआ वर्ग को आन्तरिक और बाह्य दोनों कारणों के चलते, उनकी सम्पत्ति और हितों की परस्पर गारण्टी के लिए, अपनाना पड़ता है। आजकल राज्य की स्वतंत्रता केवल उन देशों में पायी जाती है जहाँ एस्टेट्स* अभी पूरी तरह वर्गों में विकसित नहीं हुए हैं, जहाँ एस्टेट्स अभी भी एक भूमिका निभाते हैं, वहाँ एक मिश्रण विद्यमान है और जनता का कोई हिस्सा किसी दूसरे हिस्से पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता। यह मामला ख़ास तौर पर जर्मनी में देखने को मिलता है। आधुनिक राज्य का सबसे सटीक उदाहरण उत्तरी अमेरिका है। आधुनिक फ्रांसीसी, अंग्रेज़ और अमेरिकी लेखक सभी यह राय ज़ाहिर करते हैं कि राज्य केवल निजी सम्पत्ति के लिए अस्तित्वमान होता है, और यह विचार औसत मनुष्य द्वारा भी अपना लिया गया है।*

"चूँकि राज्य वह रूप है जिसमें शासक वर्ग के व्यक्ति अपने सामान्य हित अभिव्यक्त करते हैं, और जिसमें पूरा का पूरा नागरिक समाज प्रतिरूपित होता है, इसलिए यह नतीजा निकलता है कि सभी सामान्य संस्थाएँ राज्य की सहायता से स्थापित होती हैं और उन्हें एक राजनीतिक रूप दिया जाता है (जर्मन आइडियॉलजी, पृ.-98-99, अनुवाद और इटैलिक्स हमारे, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1976)।"

आगे नागरिक क़ानून की व्याख्या करते हुए मार्क्स इस बात को और स्पष्ट करते हैं। लेकिन पूरा उद्धरण देने की इजाज़त हमें स्थानाभाव नहीं दे रहा है। दिलचस्पी रखने वाले पाठक ऊपर दिये गये सन्दर्भ से आगे पढ़ सकते हैं।

स्पष्ट है कि मार्क्स नागरिक समाज को एक वर्ग-विभाजित समाज मानते थे तथा राज्य और नागरिक समाज के बीच कोई अनुदार विभाजन भी नहीं खड़ा करते थे। मार्क्स नागरिक समाज की शुद्धतम और उच्चतम मंज़िल बुर्जुआ समाज को मानते थे और अपने आगे की रचनाओं में मार्क्स इस शब्द का इस्तेमाल बुर्जुआ समाज के रूप में ही करते हैं। और बाद की रचनाओं में तो वे नागरिक समाज शब्द का उपयोग ही बन्द कर देते हैं और बुर्जुआ समाज शब्द का ही उपयोग करते हैं और एकदम उन्हीं अर्थों में जिन अर्थों में वे नागरिक समाज शब्द का उपयोग करते थे।

"*समाज*, जैसा कि वह राजनीतिक अर्थशास्त्री को नज़र आता है, *नागरिक समाज* है जिसमें हर व्यक्ति आवश्यकताओं की एक पूर्णता है और केवल दूसरे व्यक्ति के लिए अस्तित्वमान है, जैसे कि दूसरा भी उसके लिए अस्तित्वमान है, और इस रूप में प्रत्येक दूसरे के लिए साधन बन जाता है। राजनीतिक अर्थशास्त्री हर चीज़ को आदमी में अपचयित कर देता है <u>(ठीक वैसे ही जैसे *राइट्स ऑफ़ मैन* की राजनीति करती है)</u>, यानी व्यक्ति में अपचयित कर देती है जिससे उसकी निर्धारकता छीन ली जाती है ताकि उसे पूँजीपति या मज़दूर के वर्ग में रखा जा सके *(इकोनॉमिक एंड फिलोसॉफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844, पृ.-121, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1977, अनुवाद और रेखांकन हमारा)*।"

सामन्तवाद के विध्वंस और बुर्जुआ समाज के विकास का विवरण देते हुए मार्क्स एक अन्य स्थान पर कहते हैं:

"चल सम्पत्ति उद्योग और प्रगति के चमत्कारों की ओर इशारा करती है। यह आधुनिक युग का उत्पाद है, जिसका वह वैध, देशी तौर पर जन्मा पुत्र है। यह अपने विरोधी पर सरल, अपनी ही प्रकृति के बारे में अप्रबुद्ध होने (और इस मामले में वह पूरी तरह सही है) के लिए दया करता है, जो नैतिक पूँजी और मुक्त श्रम की जगह बर्बर, अनैतिक हिंसा और भूदासता को रखना चाहता है। यह उसका चित्रण दोन किहोते के रूप में करता है, जो *अक्खड़पन, इज़्ज़त, सामान्य हित,* और *स्थिरता* के आवरण में, प्रगति, लालचपूर्ण भोगासक्ति, स्वार्थपरता, खण्डीय हित, और शैतानी इरादे के लिए अपनी अक्षमता को छिपाता है। वह उसे एक चतुर-चालाक एकाधिकारवादी घोषित कर देता है।...

"यह दावा करता है कि उसने सबके लिए राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल कर ली है; उसने उन ज़ंजीरों को तोड़ फेंका है जो नागरिक समाज को बाँधे हुए थीं *(इकोनॉमिक एण्ड फिलोसॉफिकल मैन्यूस्क्रिप्ट्स ऑफ 1844, पृ.-86, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1977, अनुवाद हमारा)*।"

मार्क्स स्पष्ट रूप में बताते हैं कि 'सिविल सोसायटी' का असली चैम्पियन पूँजीपति वर्ग है। सिविल सोसायटी की अवधारणा पूँजीवादी चिन्तकों ने विकसित की। उन्होंने इसे निजी सम्पत्ति के विकास की मंज़िल के अनुरूप विकसित बताया। यह बताया गया कि सामन्ती समाज में भू-स्वामित्व की व्यवस्था जड़ किस्म के समाज को जन्म दे रही थी और पूँजीवाद द्वारा लायी गयी चल सम्पत्ति, माल-उत्पादन की दुनिया ने नागरिक समाज को उन बन्धनों से मुक्त कर दिया और सच्चा नागरिक समाज बनाया--यानी **नैतिक पूँजी** और **मुक्त श्रम** वाला समाज। यह पूरी अवधारणा पूँजीवादी समाज की वर्ग संरचना को प्राकृतिक संरचना घोषित करती है। इसको जन्म शुरुआती भौतिकवादी चिन्तकों ने दिया था जो मनुष्य को एक स्पीशीज़-प्राणी मानते थे, जैसे फायरबाख़। मनुष्य को एक समाज का अंग न मानकर एक प्रजाति का अंग माना जाता था। यहाँ मार्क्स को उद्धृत करना सही होगा:

"*चिन्तनशील** भौतिकवाद द्वारा, यानी उस भौतिकवाद द्वारा जो ऐन्द्रिकता को एक व्यावहारिक गतिविधि नहीं मानता, प्राप्त किया गया उच्चतम बिन्दु है "नागरिक समाज" में अकेले व्यक्ति पर चिन्तन।

...पुराने भौतिकवाद की ज़मीन *"नागरिक"* समाज है; नये भौतिकवाद

* *प्राक्-पूँजीवादी वर्ग-विभाजन को दर्शाने के लिए इस्तेमाल किया गया शब्द -- लेखक*

* यानी फायरबाख़ीय -- लेखक

की ज़मीन है *मानव* समाज, या सम्बद्ध मानवता *(थीसिस ऑन फायरबाख़, पृ.-620, जर्मन आइडियोलॉजी, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1976, अनुवाद हमारा)*।"

हमारे विचार में नागरिक समाज के बारे में मार्क्स के विचार को मोटे तौर पर हमने यहाँ रख दिया है। अब इसकी रोशनी में अगर तथाकथित वामपंथियों के नागरिक समाज आलाप को देखें तो एक बात साफ़ हो जाती है। या तो वे इस शब्द की मार्क्सवादी अवधारणा से नावाकिफ़ हैं या फिर वे जानबूझकर उसे तोड़ने-मरोड़ने का काम कर रहे हैं। दोनों ही सूरत में या तो वे मूर्ख और अज्ञानी मार्क्सवादी हैं या फिर नकली मार्क्सवादी, जो मार्क्सवाद के मुखौटे में दरअसल उत्तरआधुनिक विमर्श की गोद में जा बैठे हैं।

ग्राम्शी ने नागरिक समाज की मार्क्सवादी अवधारणा को ही नयी परिस्थितियों के अनुसार और विकसित किया। ग्राम्शी ने अपनी जेल नोटबुक में कई जगहों पर नागरिक समाज, राज्य और राजनीतिक समाज की अवधारणाओं को इटली व यूरोप के अन्य देशों के इतिहास के उदाहरणों के अनुसार विकसित किया। इस ग़लतफ़हमी की ओर हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि मार्क्स नागरिक समाज को राज्य से स्वायत्त मानते थे और ग्राम्शी ने उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला और उनके बीच के सख़्त विभाजन को ख़त्म किया। मार्क्स ने नागरिक समाज की अवधारणा में उसकी सापेक्षिक स्वायत्तता पर ज़ोर दिया था और एक इशारा इस ओर भी था कि नागरिक समाज के आविर्भाव के साथ जो नागरिकता की अवधारणा आयी, उसमें व्यक्ति की समुदायगत, भाषागत, जातिगत पहचानों का एक रूप में विघटन अन्तर्निहित था। इस रूप में नागरिक समाज, जैसा कि हमने पहले भी इंगित किया है, सामन्ती समाज की वर्जनाओं को तोड़ता था, उसके पार्थक्य को तोड़ता था और सार्वभौमिक मानव (यूनिवर्सल मैन) की सोच को लागू करने का प्रयास करता था। पूँजीवादी व्यवस्था एक 'होमोजीनाइज़र' होती है और उसे पहचान के धरातल पर एक हद तक की एकरूपता की आवश्यकता पड़ती है, हालाँकि अपने उन्नत दौर में और अपनी सम्भावनाओं के चुक जाने के बाद उसे उन्हीं मृत अस्मिताओं को जीवित करने की आवश्यकता पड़ती है जिनके ख़िलाफ़ पूँजीवाद ने सामन्तवाद-विरोधी संघर्ष में लड़ाई की थी। एकरूपीकरण और विभाजन के बीच पूँजीवाद में हमेशा ही एक तनाव बना रहता है। आर्थिक धरातल पर एकरूपता की आवश्यकता लेकिन सामाजिक धरातल पर उससे पैदा होने वाली एकरूपता को तोड़ने की ज़रूरत।

अन्तोनियो ग्राम्शी ने भी राज्य और नागरिक समाज के बीच के विभाजन को मार्क्स की तरह ही नहीं माना। बल्कि उन्होंने उनके सम्बन्धों का और गहराई के साथ अध्ययन किया। ग्राम्शी के अनुसार नागरिक समाज सिर्फ़ वैयक्तिक हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला क्षेत्र नहीं है और इसमें संगठनात्मक गतिविधियाँ अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। वैयक्तिक हित अलग-अलग न होकर अपने आपको तमाम रूपों में संगठित करते हैं। ग्राम्शी कहते हैं कि यह ऐसे तंत्रों का समूह होता है जिसे आम तौर पर "निजी" कहा जाता है और जहाँ वर्चस्व (हेजेमनी) स्थापित होती है और 'स्वयंस्फूर्त सहमति' ली जाती है। नागरिक समाज और राज्य के बीच के भेद को यांत्रिक रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। शायद ग्राम्शी मार्क्स के ग़लत पाठ के ख़तरे को दूर करने की कोशिश कर रहे थे और मार्क्स के लेखन से नागरिक समाज के जो अर्थ और जो प्रभाव तमाम मार्क्सविद लेते हैं उससे यह बात पुष्ट भी हो जाती है कि ग्राम्शी की यह शंका काफ़ी हद तक वाजिब थी। इसीलिए ग्राम्शी नागरिक समाज और राज्य के भेद की यांत्रिक समझ का विस्तृत खण्डन करते हैं। सरकार के संकीर्ण अर्थों में राज्य नागरिक समाज में संगठित वर्चस्व (हेजेमनी) से सुरक्षित होता है जबकि प्रभुत्वशाली वर्ग का वर्चस्व दमनकारी राज्य व्यवस्था द्वारा ही क़ायम रखा जाता है। नागरिक समाज में प्रभुत्वशाली वर्ग या शासक वर्ग अपनी परम्पराओं और नियमों का सार्वभौमीकरण करके उसे समस्त जनता पर थोप देता है और लम्बे समय में ये परम्पराएँ और नियम वर्चस्व क़ायम करने की प्रणाली बन जाते हैं और एक संयुक्त दबाव पैदा करते हैं और वर्चस्व क़ायम करने में राज्य की भूमिका न्यूनातिन्यून होती जाती है। ग्राम्शी उस नागरिक समाज को पूर्णतः विकसित नागरिक समाज मानते हैं जो एक 'ट्रेंच सिस्टम' की तरह काम करते हुए आर्थिक संकट से पैदा होने वाली गम्भीर स्थितियों से राज्य की रक्षा करता है। सीधे-सीधे कहा जाय तो जिसमें शासक वर्ग का पूर्ण वर्चस्व क़ायम हो जाता है और प्रत्यक्ष तौर पर राज्य की दमनकारी भूमिका विलुप्त-सी प्रतीत होने लगती है। ग्राम्शी इस अनमनीय विभाजन को तोड़ने की बात करते हुए यह भी कहते हैं कि इन दोनों को एक ही मान लेने के सभी प्रयासों को असफल कर दिया जाना चाहिए। वह बताते हैं कि ये दोनों अन्तर्गुंथित हैं लेकिन ये एक ही वस्तु नहीं हैं। ऐसी सोच फासीवाद की तरफ़ ले जा सकती है। ग्राम्शी इस ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जिस समय मार्क्स नागरिक समाज की अवधारणा पेश कर रहे थे उस समय बड़े पैमाने के जन-संगठन अस्तित्व में नहीं आये थे जो वैयक्तिक हितों को वर्ग-हितों में संगठित करते। उस समय नागरिक समाज चर्च और सामन्ती बन्धनों से मुक्त होकर वैयक्तिक हितों की अभिव्यक्ति का क्षेत्र भी थे और साथ ही वर्ग-वर्चस्व स्थापित करने के लिए एक खुला क्षेत्र भी। बीसवीं सदी की शुरुआत आते-आते, यानी ग्राम्शी के समय तक, ऐसे संगठन अस्तित्व में आ चुके थे और नागरिक समाज में वर्ग-हितों के संगठन और प्रभुत्वशाली वर्ग का वर्चस्व क़ायम करने में उनकी भूमिका भी काफ़ी हद तक साफ़ हो चुकी थी।

ग्राम्शी के नागरिक समाज की सोच को **'बुद्धिजीवी'** नामक लेख से लिया गया उनका यह उद्धरण काफ़ी साफ़ तौर पर खोल देता है :

"उत्पादन की दुनिया से बुद्धिजीवियों का सम्बन्ध उतना प्रत्यक्ष नहीं होता जितना कि बुनियादी सामाजिक वर्गों का होता है, बल्कि यह अलग-अलग हद तक, पूरे समाज की बनावट द्वारा और अधिरचनाओं के सम्मिश्र द्वारा "व्यवहित" होता है, जिसके ये बुद्धिजीवी निश्चित अर्थों में "कार्यनिर्वाहक" होते हैं। विभिन्न बुद्धिजीवी वर्गों की "जैविक गुणवत्ता" को नापना और किसी बुनियादी सामाजिक वर्ग के साथ उनके सम्बन्ध के स्तर को नापना, और उनके कार्यों और नीचे से लेकर ऊपर तक (ढाँचागत आधार से ऊपर की ओर) अधिरचनाओं की एक श्रेणी व्यवस्था स्थापित करना सम्भव होना चाहिए। *फिलहाल, हम यह कर सकते हैं कि दो प्रमुख अधिरचनात्मक "स्तर" तय कर दें : एक जिसे हम "नागरिक समाज" कह सकते हैं, जो उन तंत्रों की एक समष्टि है जिसे आम तौर पर "निजी" कहा जाता है, और "राजनीतिक समाज" या "राज्य"। ये दोनों स्तर क्रमशः उस "वर्चस्व" का काम करते हैं जो प्रभुत्वशाली वर्ग पूरे समाज में लागू करता है और "प्रत्यक्ष प्रभुत्व" या नियंत्रण का काम करते हैं जो राज्य और "क़ानूनी" सरकार के ज़रिये किया जाता है। यहाँ जिन कार्यों की बात की जा रही है वे निश्चित रूप से संगठनात्मक हैं और जुड़े हुए हैं। बुद्धिजीवी प्रभुत्वशाली वर्गों के वे "अधीनस्थ" हैं जो सामाजिक वर्चस्व और राजनीतिक सरकार के सबऑल्टर्न कार्यों को अंजाम देते हैं* (अन्तोनियो ग्राम्शी, सेलेक्शंस फ्रॉम दि प्रिज़न नोटबुक्स, पृ. 12,

ओरियण्ट लांगमैन, 1998, अनुवाद और इटैलिक्स हमारा)।"

आगे ग्राम्शी बताते हैं कि इन कार्यों में दो कार्य शामिल हैं--पहला लोगों से "स्वयंस्फूर्त" दिखने वाली सहमति सत्ता और प्रभुत्वशाली वर्ग के पक्ष में ले लेना; और दूसरा राज्य को उन लोगों के लिए एक दमनकारी तंत्र के रूप में संगठित करना जो सहमति नहीं देते हैं।

ग्राम्शी नागरिक समाज और राज्य के सम्बन्ध में एक और पहलू की बात करते हैं। ग्राम्शी कहते हैं कि नागरिक समाज में प्रभुत्वशाली वर्ग जो वर्चस्व क़ायम करता है उसकी प्रकृति मुख्यतः और मूलतः आर्थिक होती है। अधिरचनात्मक तत्व इसके बाद ही आते हैं। इस उद्धरण पर ग़ौर करें :

"अगर यह सत्य है कि कोई भी राज्य एक आर्थिक-कारपोरेट आदिमता के दौर से गुज़रे बग़ैर नहीं रह सकता तो यह नतीजा निकाला जा सकता है कि नये सामाजिक समूह के राजनीतिक वर्चस्व की अन्तर्वस्तु, जिसने एक नये किस्म का राज्य क़ायम किया है, मुख्य रूप से एक आर्थिक व्यवस्था की होनी चाहिए: जो बात यहाँ शामिल है वह है एक ओर संरचना और आदमियों के बीच के वास्तविक सम्बन्धों का और दूसरी ओर आर्थिक ढाँचे का या उत्पादन का पुनर्संगठन *(अन्तोनियो ग्राम्शी, सेलेक्शंस फ्रॉम दि प्रिज़न नोटबुक्स, पृ. 263, ओरियण्ट लांगमैन, 1998, अनुवाद हमारा)*।"

स्पष्ट है कि ग्राम्शी नागरिक समाज में स्थापित होने वाले वर्चस्व को महज़ कोई वैचारिक या सांस्कृतिक वस्तु नहीं मानते बल्कि उसे आधारतः एक आर्थिक परिघटना मानते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस आर्थिक परिघटना की अभिव्यक्ति अधिरचनात्मक धरातल पर संस्कृति, साहित्य और भाषा में होती है। लेकिन इन सबका मूल आर्थिक परिघटना ही है। क्या किसी ने ग्राम्शी को आर्थिक नियतत्ववादी कहा?

तो अगर नागरिक समाज की ग्राम्शी की पूरी अवधारणा को अतिसरलीकरण की गुस्ताख़ी करते हुए पेश किया जाय तो कुछ इस तरह पेश किया जायेगाः

सिविल सोसायटी एक वर्ग विभाजित समाज के लिए उपयुक्त शब्द है जिसमें दमित वर्ग काफ़ी हद तक राज्यसत्ता की संस्थाओं द्वारा सहयोजित कर लिये गये होते हैं। नागरिक समाज राज्य से अलग तो होता है और एक विशेष सीमा तक स्वायत्त भी होता है लेकिन राज्य और नागरिक समाज के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती। नागरिक समाज में शासक वर्गों का वर्चस्व स्थापित होता है, जिसका आधार आर्थिक ही होता है लेकिन अभिव्यक्तियाँ और भी होती हैं। इस वर्चस्व के ज़रिये ही राज्य की रक्षा होती है और पलटकर राज्य भी इस वर्चस्व को क़ायम रखने में अपनी संस्थाओं के ज़रिये मदद करता है। वर्चस्व ख़ास तौर पर प्रतीतिगत रूप से उस "स्वयंस्फूर्त" सहमति के रूप में अभिव्यक्त होता है, जो शोषक वर्ग अपने वर्चस्व के बूते आम जनता से शासन करने के लिए लेते हैं। शोषित वर्गों पर शासक वर्गों का वर्चस्व (हेजेमनी) होता है, लेकिन वर्चस्व का अर्थ प्रभुत्व (डॉमिनेशन) ही नहीं होता है, इसका अर्थ होता है सहयोजन के साथ प्रभुत्व। यानी शोषित वर्गों को सत्ता इस भ्रम में रखने का प्रयास करती है कि व्यवस्था उनकी सहमति (कंसेण्ट) से चल रही है और यह उनकी व्यवस्था है। यह तो उनका नागरिक धर्म है कि एक बार अपनी सहमति देने के बाद समाज में अराजकता को रोकने के लिए वे कुछ नियमों व रूपों का पालन करें। और ऐसे नागरिकों से बना सभ्य समाज एक नागरिक समाज होता है, जो एक वर्ग विभाजित समाज ही है।

ख़ैर, सामाजिक मंच की चर्चा पर लौटते हैं। भारतीय सामाजिक मंच के दौरान सुभाषिनी अली और सीताराम येचुरी जैसे माकपा के नेताओं से लेकर मेधा पाटकर जैसी हस्तियों तक ने भाषण दिये। सामाजिक मंच का नारा है -- 'एक दूसरी दुनिया सम्भव है!' लेकिन यह दुनिया कैसे बनेगी, इसका कोई कार्यक्रम इनके पास नहीं है। सामाजिक मंच का चार्टर ही यह कहता है कि यह किसी सामूहिक कार्रवाई का मंच नहीं है बल्कि "विचार-विमर्श" का "स्पेस" है। सामान्य भाषा में कहा जाय तो यह कुछ नहीं करेगा। लेकिन कुछ नहीं करते हुए यह बहुत कुछ कर रहा है।

लेकिन सोचने की बात यहाँ यह है कि नागरिक समाज की बात सामाजिक मंच के लोग अस्मितावादी राजनीति के साथ कैसे करते हैं? नागरिक समाज तो ऐतिहासिक तौर पर लोगों की एक व्यक्ति रूप में अस्मिता के अतिरिक्त अन्य सभी अस्मिताओं के निषेध पर आधारित था। यह मानवकेन्द्रित समाज के नारे के साथ सामन्तवाद और चर्च की जकड़बन्दी का विरोध करने वाले पूँजीवाद का प्रिय जुमला था। आर्थिक धरातल पर पूँजीवाद एक सार्वभौमीकरण (यूनीवर्सलाइज़ेशन) की प्रक्रिया को अंजाम देता है। आर्थिक सार्वभौमीकरण अधिरचना में भी सार्वभौमीकरण को अभिव्यक्त करता है। एक सार्वभौमीकरण पूँजीवाद आदमी की अस्मिता का भी करता है और एक मनुष्य (फायरबाख़ के लिए 'स्पिशीज़ बीइंग') के रूप में, एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में उसकी अस्मिता को स्थापित करता है, कम से कम फौरी तौर पर तो स्थापित करता ही है। लेकिन यह सार्वभौमिक अस्मिता मरणासन्न पूँजीवाद के दौर में ख़तरनाक बनती है क्योंकि स्वतः ही यह वर्ग-ध्रुवीकरण की ओर बढ़ती है। पूँजीवाद अलग-अलग व्यक्तियों के समाज में वर्ग-विभाजन को पहली बार इतने तीख़े रूप में पैदा करता है। वर्ग-अस्मिता का जन्म होता है। और यह वर्ग-चेतना ही पूँजीवाद के लिए घातक होती है। इसलिए अपनी सारी प्रगतिशील सम्भावनाओं से रिक्त और मरणासन्न पूँजीवाद को आर्थिक धरातल पर तो सार्वभौमीकरण की ज़रूरत होती है, लेकिन अधिरचना के धरातल पर उसे खण्ड (फ्रैग्मेण्ट) चाहिए होते हैं। इसीलिए विश्व सामाजिक मंच जैसे मंचों की आवश्यकता पड़ती है जो अस्मितावादी राजनीति के ज़रिये इस काम को अंजाम दे सकें। इसलिए ईमानदारी का तक़ाज़ा तो यह है कि ये मंच प्राक्-नागरिक समाज (प्री-सिविल सोसायटी) की बात करें। क्योंकि क्लासिकीय नागरिक समाज खण्डित अस्मिताओं की बात को अस्वीकारता है जबकि आज के नागरिक समाज संगठन और विश्व सामाजिक मंच के घटक नागरिक समाज की बात करते हुए प्राक्-नागरिक समाज (या प्राक्-बुर्जुआ समाज) की विविध सामुदायिक अस्मिताओं को बनाये रखने की बात करते हैं।

कुल मिलाकर, यह उत्तरआधुनिक राजनीतिक एजेण्डा है। उत्तर-आधुनिक दर्शन कहता है कि महाख्यानों का दौर समाप्त हो गया। अपना प्राच्यवादी लबादा ओढ़े हुए यह कहता है कि पश्चिमी साम्राज्यवाद आधुनिकता, तार्किकता आदि के नाम पर प्राच्य विश्व को अधीन बनाता है। दरअसल, ये सभी विचारधाराएँ प्रबोधन नामक एक पश्चिमी षड्यंत्र का हिस्सा हैं। आधुनिकता अवांछित है। क्यों अवांछित है, यह हम आगे देखेंगे।

1990 में सोवियत संघ के पतन के बाद पूरे विश्व में पूँजीवाद के भाड़े के कलमघसीट पूँजीवाद की अन्तिम विजय के सनकी उन्माद में डूब गये थे। फ्रांसिस फूकोयामा ने पूँजीवादी व्यवस्था को मानवता का चरम घोषित कर 'इतिहास के अन्त' की घोषणा कर दी थी। यह कोई

नयी बात नहीं थी। यह दरअसल क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र के ही एक दावे की नयी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति थी। यह दावा था पूँजीवादी व्यवस्था के प्राकृतिक व्यवस्था होने का दावा। इसके बारे में मार्क्स ने बहुत पहले **'दर्शन की दरिद्रता'** में ही लिख दिया था -- **"अर्थशास्त्रियों के पास कार्यविधि की बस एक ही पद्धति होती है। उनके लिए केवल दो प्रकार की संस्थाएँ होती हैं, कृत्रिम और प्राकृतिक। सामन्तवाद की संस्थाएँ कृत्रिम होती हैं, और बुर्जुआजी की संस्थाएँ प्राकृतिक। इस मामले में वे उन धर्मशास्त्रियों से काफ़ी मेल खाते हैं जो इसी तरह से दो किस्म के धर्म स्थापित करते हैं। हर धर्म जो उनका नहीं है वह इंसानों का आविष्कार है, जबकि उनका धर्म ईश्वर से निगमित होता है। जब अर्थशास्त्री कहते हैं कि आज के सम्बन्ध--यानी बुर्जुआ उत्पादन के सम्बन्ध--प्राकृतिक हैं, तो उनका अर्थ होता है कि वे ही ऐसे सम्बन्ध हैं जिनमें प्रकृति के नियमों के अनुरूप समृद्धि पैदा होती है और उत्पादक शक्तियाँ उन्नत होती हैं। इसलिए ये सम्बन्ध स्वयं ही ऐसे प्राकृतिक नियम हैं जो काल के प्रभाव से मुक्त हैं। वे अनश्वर नियम हैं जिन्हें हमेशा समाज को संचालित करना होगा। *एक इतिहास था, लेकिन अब कोई इतिहास नहीं है। इतिहास था क्योंकि सामन्तवाद की संस्थाएँ थीं, और इन सामन्तवादी संस्थाओं में हम बुर्जुआ समाज से काफ़ी अलग उत्पादन के सम्बन्ध पाते हैं...*** (दर्शन की दरिद्रता, पृष्ठ 105, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, अंग्रेज़ी संस्करण, 1987, अनुवाद और इटैलिक्स हमारा)।" तो फूकोयामा का दावा कोई नयी चीज़ नहीं है। बुर्जुआ चिन्तक और विचारक पूँजीवाद के बारे में हमेशा ही ऐसे दावे करते रहते हैं और क्यों न करें!! लेकिन यह क्या श्री फूकोयामा! क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र भी तो प्रबोधन के बाद की आधुनिक विचारधारा है। आधुनिकता का विरोध करते-करते आधुनिकता के ही जाल में फँस गये?

ल्योतार तो 70 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1980 के दशक के पूर्वार्द्ध में ही दर्शन के धरातल पर उत्तरआधुनिकता के एजेण्डे की शुरुआत कर चुके थे। आगे तमाम 'उत्तर-' चिन्तन जुड़ते चले गये, जैसे उत्तरऔपनिवेशिक चिन्तन, उत्तरसंरचनावाद, उत्तरनारीवाद, उत्तरमार्क्सवाद, उत्तरप्राच्यवाद, उत्तर...। मूलतः ये सभी उत्तरआधुनिक चिन्तन के ही अलग-अलग अंग, आयाम या विस्तार हैं। इन सबका एक ज़बर्दस्त रोमांस 'सत्ता' (पावर) की अवधारणा के साथ है। उत्तरआधुनिक चिन्तन कहता है कि सत्ता पोर-पोर में समायी होती है और विकेन्द्रित होती है। यह रोज़मर्रा के जीवन के अंग-अंग में व्याप्त होती है और यह लोगों द्वारा आभ्यन्तरीकृत कर ली जाती है। *यह अप्रतिरोध्य है क्योंकि कोई भी कारगर प्रतिरोध यानी जिसमें सामाजिक रूपान्तरण की सम्भावनासम्पन्नता है 'सत्ता' के नये रूप पैदा कर देता है। इसलिए कोई भी सामाजिक रूपान्तरण की लड़ाई अवांछित है। तो समाधान किस चीज़ में है? यहाँ पर उत्तरऔपनिवेशिक भुजा काम करना शुरू करती है। उत्तरऔपनिवेशिक चिन्तन कहता है कि समाधान उन संरचनाओं में हैं जो सत्ता के प्रभाव से दूषित नहीं हुईं। वह कहता है कि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद सत्ता (पावर) का एक रूप होते हैं। उनका प्रतिरोध उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में राष्ट्रवाद की ज़मीन से किया गया। लेकिन राष्ट्रवाद भी एक आधुनिक दर्शन है जो पश्चिम से आया है इसलिए इसमें भी अन्तर्निहित सत्ता संरचनाएँ हैं इसलिए राष्ट्रवाद की सफल लड़ाई के बाद पैदा हुई उत्तरऔपनिवेशिक राज्यसत्ता भी दरअसल आधुनिकतावादी राज्यसत्ता है। आज साम्राज्यवाद का विरोध आधुनिकतावादी ज़मीन से नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रभुत्व और सत्ता (पावर) अप्रतिरोध्य हैं। इसलिए हमें वे संरचनाएँ ढूँढनी होंगी जो प्रागाधुनिक हैं यानी कि 'पावर' से अनछुई, यानी पश्चिमी प्रभावों से अनछुई। और ये संरचनाएँ क्या हो सकती हैं? -- सभी प्रागाधुनिक पहचानें, सभी आदिम पहचानें जैसे, आदिवासी, दलित, स्त्री (विशेषकर घर के भीतर!), आदि।* पश्चिमी चिन्तन यानी प्रबोधन के बाद हुआ सारा चिन्तन। प्रबोधन, वैज्ञानिक क्रान्तियाँ, तार्किकता, मानवतावाद आदि उत्तरआधुनिकतावादी चिन्तन के अनुसार पश्चिम के वैश्विक प्रभुत्व की योजना का अंग हैं। इन सभी का खण्डन ज़रूरी है क्योंकि ये अपचयनवादी हैं, सार्वभौमिकतावादी हैं, एकलतावादी हैं, सजातीयताकरणवादी हैं, आदि। इसमें विशेष निशाना हमेशा मार्क्सवाद को बनाया जाता है। मार्क्सवाद को भी प्रबोधन का विश्व प्रभुत्व क़ायम करने की पश्चिम की साज़िश का अंग बताकर खारिज कर दिया जाता है। मार्क्सवाद और सामाजिक रूपान्तरण की बात करने वाली सभी विचारधाराओं को पश्चिम का षड्यंत्र घोषित कर दिया जाता है और कहा जाता है कि हमें छोटे-छोटे खण्डों को बचाना है, यानी समुदाय, जाति, घरेलू स्त्री जगत, आदि-आदि। हमें प्रबोधित किया जाता है कि ये पावर की संरचनाओं से स्वायत्त स्पेस हैं। दो स्थान होते हैं--प्रभुत्व का स्थान और स्वायत्तता का स्थान। प्रभुत्व अजेय है इसलिए स्वायत्तता के स्पेस को बढ़ाओ और उसी से काम चलाओ! वर्ग संघर्ष, क्रान्ति, सामाजिक परिवर्तन का दौर बीत गया! ये सब मेटानैरेटिव्स का दौर था; यानी आधुनिकता का दौर था। यह उत्तरआधुनिक दौर है और **उत्तरआधुनिक दौर में,** ल्योतार के ही शब्दों में, **मेटानैरेटिव्स (महाख्यान) अविश्वस्नीय होते हैं** (दि पोस्टमॉडर्न कंडीशन : ए रिपोर्ट ऑन नॉलेज, 1979)। इसलिए अब छोटे-छोटे परिधिगत संघर्षों का समय है। जाति के संघर्षों का, महिलाओं के संघर्षों का, पर्यावरण के संघर्षों का, आदि। इसी व्यवस्था के भीतर रहते हुए इन परिधिगत पहचानों के लिए स्पेस बनाना है।

मार्क्सवाद और आर्थिक नियतत्ववाद तथा वर्ग-अपचयनवाद

उत्तरआधुनिकतावादियों के लिए किसी भी रूप में वर्ग की बात करना वर्ग-अपचयनवाद (क्लास-रिडक्शननिज़्म) है। विश्व सामाजिक मंच जैसे मंच और सभी उत्तरआधुनिक चिन्तक मार्क्सवाद पर आर्थिक नियतत्ववाद और वर्ग-अपचयनवाद का आरोप लगाते हैं। यह सड़ा हुआ आरोप मार्क्सवाद पर उत्तर-आधुनिकतावादियों से लेकर दो कौड़ी के कलमघसीट तक सभी थोपते रहते हैं। यह तथ्यतः ग़लत है। इतिहास का तथ्य यह है कि मार्क्सवाद ने दर्शन के क्षेत्र में यांत्रिक एवं विकृत भौतिकवाद, राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आर्थिक नियतत्ववाद, राजनीतिक-समाजशास्त्रीय विश्लेषण के क्षेत्र में वर्ग-अपचयनवाद, इतिहास-दर्शन के क्षेत्र में प्रत्यक्षवाद और कला-साहित्य-सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रकृतवाद के विरुद्ध लम्बा संघर्ष चलाया और इसी प्रक्रिया में आगे विकसित हुआ। इन सभी संघर्षों का दार्शनिक अन्तर्य समाज था। क्लासिकी राजनीतिक अर्थशास्त्र की जो आलोचना मार्क्स ने की थी उसका एक महत्वपूर्ण अन्तर्निहित अंग आर्थिक नियतत्ववाद की आलोचना भी था। मार्क्स-एंगेल्स, लेनिन और माओ ने आर्थिक नियतत्ववाद के विभिन्न रूपों और अभिव्यक्तियों की कई स्थानों पर आलोचना की है। वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा भी कत्तई कोई अपचयनवादी अवधारणा नहीं है।

आर्थिक नियतत्ववाद और वर्ग-अपचयनवाद के विरुद्ध स्वयं मार्क्स-एंगेल्स के लेखन में विपुल सामग्री मौजूद है। उसके विस्तार में जाना यहाँ सम्भव नहीं है। लेकिन आर्थिक मूलाधार-अधिरचना तथा वर्ग के प्रश्न पर उनके दृष्टिकोण, पहुँच और पद्धति को फ्रेडरिक एंगेल्स के मात्र तीन पत्रों को पढ़कर ही कोई जान सकता है। ये पत्र हैं : जे. ब्लोख़ के नाम पत्र (21-22 सितम्बर, 1890), डब्ल्यू. बोर्गिउस के नाम पत्र (25 जनवरी, 1894) और कोनराड श्मिट के नाम पत्र (27 अक्तूबर, 1890) (देखें, मार्क्स-एंगेल्सः संकलित रचनाएँ, खण्ड 3, क्रमशः पृ. 487-490, पृ. 502-504 और पृ. 489-495, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1977, अंग्रेज़ी संस्करण)। मार्क्स-एंगेल्स के लेखन में सामाजिक वर्ग की अवधारणा तो स्पष्ट रूप में मौजूद है, लेकिन क्लासिकीय मार्क्सवादी साहित्य में यदि वर्ग की ठोस, सटीक, सान्द्र रूप में कोई परिभाषा ढूँढ़ने की कोशिश की जाये तो वह हमें लेनिन से प्राप्त होती है। लेनिन के अनुसार, "वर्ग लोगों के बड़े-बड़े समूहों को कहते हैं, जो सामाजिक उत्पादन की इतिहास द्वारा निर्धारित पद्धति में अपने स्थान की दृष्टि से, उत्पादन के साधनों के प्रति अपने सम्बन्धों की दृष्टि से (अधिकांश मामलों में क़ानूनों में निश्चित और प्रतिपादित), श्रम के सामाजिक संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामाजिक सम्पदा के अपने भाग की प्राप्ति की विधि तथा आकार की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। वर्ग लोगों के वे समूह हैं, जिनमें से एक समूह सामाजिक अर्थव्यवस्था की निश्चित पद्धति में अपने स्थान की बदौलत दूसरे समूह के श्रम को हथिया सकता है"। वर्ग एक सापेक्षिक अवधारणा है, जैसा कि इस परिभाषा से भी स्पष्ट है। वर्ग सिर्फ़ एक आर्थिक परिघटना नहीं है। संस्कृति, साहित्य, समाज में इसकी अनेक रूपों में अभिव्यक्ति होती है। मार्क्सवाद पर वर्ग अपचयनवाद और आर्थिक नियतत्ववाद का आरोप तथ्यों के साथ बदसलूकी है और मार्क्स और एंगेल्स के लेखन का कोई भी गम्भीर पाठक इस बात को समझ सकता है।

यह सवाल भी पूछा जाता है कि वर्ग-अस्मिता ही क्यों? वर्ग-अस्मिता के अस्तित्व को माना जाता है लेकिन उसे अन्य तमाम अस्मिताओं के साथ गिनाकर पूछा जाता है कि वर्ग-अस्मिता पर ही इतना ज़ोर क्यों दिया जाय? इस प्रश्न का जवाब हम इस लेख पहले ही दे चुके हैं। वर्ग-अस्मिता ही वह अस्मिता है जो अन्य सभी अस्मिताओं को विभक्त करती है। वर्ग-विभाजन अन्य सभी अस्मिताओं में देखा जा सकता है, चाहे वह जाति हो, लिंग हो, क्षेत्र हो, भाषा हो, या फिर राष्ट्रीयता। विशालतम सम्भव जनगोलबन्दी और जनसंगठन इसी अस्मिता के आधार पर खड़े किये जा सकते हैं। यह एक आधुनिक पहचान है जो सभी आदिम पहचानों को आच्छादित कर लेती है। यह अस्मिता ही एक प्रगतिशील जनगोलबन्दी को जन्म दे सकती है। इसीलिए एक कम्युनिस्ट वर्ग-अस्मिता पर ही समाज में लोगों को संगठित करता है। लेकिन यही वर्ग अपचयनवाद नहीं है।

वर्ग अपचयनवाद और आर्थिक नियतत्ववाद के ख़िलाफ़ मार्क्सवाद के संघर्ष की चर्चा एक अलग लेख की माँग करती है और इस पर आगे लिखे जाने की ज़रूरत है क्योंकि प्रतिक्रियावादी, सुधारवादी और उत्तरआधुनिकतावादी प्रचार की धुन्ध में कई लोग इस ग़फ़लत का शिकार हैं कि मार्क्सवाद वाकई इन विचलनों का शिकार है। यह बहुत विडम्बनापूर्ण है। इस स्थिति को दूर करना होगा।

भारत में उत्तरआधुनिक एजेण्डा और सबऑल्टर्न स्टडीज़

भारत की बौद्धिक दुनिया में उत्तरआधुनिक एजेण्डा को सबसे प्रभावी ढंग से लागू करने का काम किया है **सबऑल्टर्न स्टडीज़** के इतिहासकारों ने। शुरुआत में मोटा-मोटी मार्क्सवादी शब्दावली और मार्क्सवादी विश्लेषण के दायरे में रहने के बाद सबऑल्टर्न स्टडीज़ में भाषाई मोड़ (लिंगुइस्टिक टर्न) आया जो ल्योतार, सईद और फूको का प्रभाव था। सबऑल्टर्न स्टडीज़ में भी ख़ास तौर पर पार्थ चटर्जी, दीपेश चक्रबर्ती, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय और ज्ञान प्रकाश इस एजेण्डा को काबिलियत के साथ लागू कर रहे हैं। उत्तरवर्ती सबऑल्टर्न स्टडीज़ **'व्युत्पन्न विमर्श', देशी 'समुदाय'** और **'खण्ड'** के बीच दोलन करती रही हैं जो तीनों ही उत्तरआधुनिक विमर्श की श्रेणियाँ हैं। पार्थ चटर्जी अपनी किताब ***नेशनलिस्ट थॉट इन ए कोलोनियल वर्ल्ड : ए डेरिवेटिव डिस्कोर्स?*** में कहते हैं कि भारत का बौद्धिक वर्ग औपनिवेशिक सत्ता-ज्ञान (कोलोनियल पावर-नॉलेज) के वर्चस्व में आ गया था और इसलिए वह सिर्फ़ **व्युत्पन्न विमर्श (डेरिवेटिव डिस्कोर्स)** करने में ही सक्षम था। इस तरह राष्ट्रवादी आन्दोलन में मध्यवर्गीय बौद्धिक जगत पूरी तरह आधुनिक चिन्तन (जो बहुत बुरा होता है!!) की गिरफ़्त में आ गया था। उसकी कोई एजेंसी नहीं थी। इस बौद्धिक जगत के पार, जिसमें सत्ता की संरचानाएँ घुसकर उसे दूषित कर चुकी हैं, सामुदायिक चेतना की दुनिया है जो शुद्ध है, जो आदिम है, जो पवित्र है और उसकी महिमा का गुणगान किया जाय। भारत में इस चीज़ को पार्थ चटर्जी किसान चेतना से जोड़कर देखते हैं जो पश्चिमी वर्चस्ववादी प्रभाव से मुक्त है। इसका प्रतीक पुरुष गाँधी को बताया जाता है, पता नहीं कैसे! गाँधी एक आधुनिक चिन्तक थे। उनका मानवतावाद धार्मिक-आध्यात्मिक आवरण, भाषा एवं पुट के बावजूद, सारतः एक बुर्जुआ मानवतावाद है। इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है कि उपनिवेशवाद ने किस तरह देशी संरचनाओं को सहयोजित किया और औपनिवेशिक शोषण में उनका इस्तेमाल किया। और ये देशी संरचनाएँ अपनी प्राच्य मासूमियत की वजह से इस्तेमाल नहीं हुईं, जिस पर **आशीष नन्दी** काफ़ी फ़िदा रहते हैं, बल्कि अपने निहित स्वार्थों की वजह से इस्तेमाल हुईं।

इस किताब के प्रकाशन के बाद 1987 में **सेलेक्टेड सबऑल्टर्न स्टडीज़** का न्यूयॉर्क से प्रकाशन हुआ जिसकी प्रस्तावना एडवर्ड सईद ने और सम्पादकीय टिप्पणी गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक ने लिखी। इसके साथ ही खण्डों और समुदाय पर ज़ोर और बढ़ गया। हमें बताया गया कि आधुनिक उत्तरऔपनिवेशिक राज्यसत्ता पश्चिमी सांस्कृतिक प्रभुत्व की प्रबोधन की ही परियोजना का अंग है। यह राज्यसत्ता राष्ट्रवाद के ज़रिये आयी जो औपनिवेशिक विमर्श के व्युत्पन्न विमर्श के अलावा कुछ नहीं था। 'समुदाय' और 'खण्डों' को सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य से काटकर महिमा-मण्डित किया गया।

1993 में पार्थ चटर्जी की पुस्तक **दि नेशन एंड इट्स फ्रैग्मेंट्स** के प्रकाशन के साथ ही सबऑल्टर्न स्टडीज़ अपने तार्किक निर्वाण को प्राप्त हो गया। चटर्जी राष्ट्र के खण्डों के रूप में दलितों, स्त्रियों आदि की अलग-अलग चर्चा करते हैं। उनका कोई सामान्य एजेण्डा नहीं हो सकता और ये सभी खण्ड **परकीयकृत** (रीइफ़ाइड) हैं जिन्हें कभी जोड़ा नहीं जा सकता। चटर्जी के अनुसार राष्ट्रवादी काल में स्त्रियों की पहल या स्वायत्तता की अभिव्यक्ति सिर्फ़ घर के अन्दर ही पायी जा सकती है या फिर ज़्यादा से ज़्यादा आत्मकथाओं में! यह तो ग़ज़ब ही कर दिया, जनाब! और उन तमाम राजनीतिक गतिविधियों और राजनीतिक संघों का क्या जिनमें स्त्रियों

ने 1920 के दशक में ज़ोर-शोर से हिस्सा लिया था? जातिगत आन्दोलनों के बारे में भी यह किताब चुप है। चटर्जी कहते हैं कि 'भौतिक' वह है जो बाहर, अघरेलू और पौरुषत्वपूर्ण है और 'आत्मिक' वह है जो अन्दर, घरेलू और स्त्रैण है। आत्मिक विश्व में औपनिवेशिक सब्जेक्ट अपनी स्वायत्तता क़ायम करता था और भौतिक विश्व में अंग्रेज़ों द्वारा सहयोजित कर लिया जा रहा था, जैसे जब क़ानून के समक्ष बराबरी की बात आयी तो इसे चटर्जी पश्चिम वर्चस्ववादी परियोजना द्वारा सहयोजित हो जाना मानते हैं। चटर्जी के अनुसार, यह दरअसल प्रबोधन के ही विमर्श में सहयोजित हो जाना है। यानी क़ानून के समक्ष समानता नहीं होनी चाहिए! आधुनिक राज्यसत्ता खड़ी करने का जो पश्चिमी प्रोजेक्ट साम्राज्यवाद पूरा नहीं कर पाया वह राष्ट्रवादियों ने पूरा किया। साम्राज्यवाद का हर विरोध जो आधुनिक तरीके किया गया, धर्मनिरपेक्ष (सेक्यूलर) तरीके से किया गया, आर्थिक आलोचना के साथ किया गया, वह दरअसल साम्राज्यवाद के वर्चस्ववादी प्रबोधन प्रोजेक्ट के सामने हथियार डालना है। यानी, जो भी लड़ाइयाँ राष्ट्रवाद ने लड़ीं वह साम्राज्यवाद द्वारा को-ऑप्शन था। क्या किसी को गोलवलकर की प्रतिध्वनि सुनायी दी?

आधुनिकता के इस विरोध में दीपेश चक्रबर्ती ने नये सीमान्तों की खोज कर डाली है। **'दि डिफरेंस-डिफरल ऑफ ए कोलोनियल मॉडर्निटीः पब्लिक डिबेट्स ऑन डोमेस्टिसिटी इन ब्रिटिश बंगाल'** में चक्रबर्ती कहते हैं कि बंगाली स्त्रियों के घरेलू महिमा-मण्डन, जैसे *कुल* और *गृहलक्ष्मी,* "सुन्दरता" की अनपचेय (इर्रिड्यूसिबल) श्रेणियाँ हैं, ये ग़ैर-स्वायत्त, ग़ैर-बुर्जुआ और ग़ैर-धर्मनिरपेक्ष वैयक्तिकता के नमूनों से जुड़े आनन्द (प्लेज़र), भावनाओं और अच्छे जीवन के विचारों के निर्माण की बात करने के तरीके हैं। इस ग़ैर-स्वायत्त, ग़ैर-बुर्जुआ और ग़ैर-धर्मनिरपेक्ष वैयक्तिकता का यह जश्न दरअसल स्त्री के प्रतिरोध का *सबवर्ज़न* है और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ पराजय-बोध के रूप में होने वाला *परवर्ज़न* है।

चटर्जी की किताब (दि नेशन ऐण्ड इट्स फ्रैग्मेण्ट्स) अन्त में श्रम और पूँजी के बीच के अन्तरविरोध की बजाय समुदाय और पूँजी के बीच के अन्तरविरोध की बात करती है, मानो समुदाय का ऊपरी तबका पूँजी से वंचित हो। चटर्जी के लिए समुदाय का अर्थ अधिकांशतः किसान चेतना है। वह खुद मानते हैं कि किसान समाज एक अन्यायपूर्ण और असमानतापूर्ण समाज है लेकिन फिर भी उसका जश्न मनाया जाना चाहिए क्योंकि ईश्वर बचाये आधुनिकता से!

समाजशास्त्रीय जगत में ऐसी ही स्थिति आशीष नन्दी ने अपनायी है। आशीष नन्दी **दि इण्टिमेट एनेमी** में लिखते हैं कि उनका इरादा उस *मासूमियत* को सही ठहराना और उसकी रक्षा करना है जिसने पश्चिमी उपनिवेशवाद का विरोध किया। यहाँ पर भी अर्थ समुदाय का महिमा-मण्डन ही है। नन्दी के अनुसार हिन्दुत्व एक उत्तरऔपनिवेशिक आधुनिक विचारधारा है और इसके सेक्युलर नेचर (यहाँ सेक्युलर का अर्थ धर्मनिरपेक्ष नहीं बल्कि इहलौकिक है) के कारण यह अधिक ख़तरनाक है। सेक्युलर प्रकृति के लिए ज़िम्मेदार प्रबोधन, आधुनिकता और आधुनिक राज्य है। नन्दी का कहना है इहलौकिकता ख़तरनाक है और धर्म के साथ तो और भी ख़तरनाक है इसलिए सभी सेक्युलर विचारों को तिलांजलि दे दी जानी चाहिए और सहिष्णुता तो सेक्युलर-विरोधी ही हो सकती है क्योंकि यह धर्म को एक विश्वास बनाकर छोड़ देगी। इसमें जानबूझकर सेक्यूलर शब्द का उपयोग कहीं इहलौकिक के रूप में किया जाता है तो कहीं धर्म-निरपेक्ष के रूप में। अन्ततः निशाना बनती है तार्किकता, नास्तिकता और प्रबोधन--दोनों ही अर्थों के इस्तेमाल पर। चटर्जी भी नन्दी के पीछे-पीछे चलते हुए यह ऐलान करते हैं कि समुदाय की निश्चित सीमा रेखाएँ हैं और उनमें अलग-अलग प्रतिनिधित्व की बात की जा सकती है। वह कहते हैं कि धार्मिक समुदायों के लिए वैधिक स्वायत्तता का प्रबन्ध कर दिया जाना चाहिए क्योंकि यह आधुनिक राज्य के समुदाय में हस्तक्षेप को ख़त्म कर देगा। यानी कोई भी धार्मिक समुदाय का कोई सदस्य उस धार्मिक समुदाय की किसी रस्म या कर्मकाण्ड के लिए अगर समुदाय से सहमति ले लेता है तो राज्य उसके पालन में कोई दख़ल नहीं दे सकता। यानी अगर कोई हिन्दू समाज (??) का नुमाइन्दा सती प्रथा को लागू करने के लिए समुदाय से मान्यता ले लेता है तो उसके लागू करने में कोई बाधा नहीं होगी क्योंकि राज्य उसमें हस्तक्षेप नहीं दे सकता है--कम्बख़्त आधुनिक राज्य!! अब इसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा के एजेण्डे से जोड़कर देखिये। कोई क्या जोड़ेगा, ये बातें खुद ही जुड़ जाती हैं साम्प्रदायिक फासीवाद से। और यही उत्तरआधुनिकता का असली एजेण्डा है जो सीधे कहीं पर फासीवाद, कहीं पर साम्राज्यवाद तो कहीं पर नवउदारवादी पूँजीवाद के पक्ष में जाकर खड़ा होता है।

प्रबोधन और आधुनिकता पर इस पूरे हमले में दरअसल असली निशाना मार्क्सवाद है। मार्क्स ने खुद कभी प्रबोधन का अनालोचनात्मक विवेचन नहीं किया था। लेकिन अगर प्रबोधन को बुरा और अवांछित साबित कर दिया जाय और यह बता दिया जाय कि यह पश्चिमी साम्राज्यवाद का सांस्कृतिक प्रोजेक्ट था और मार्क्सवाद को इसी साज़िश का अंग बता दिया जाय तो लोगों को, ख़ास तौर पर उन्नत जनपक्षधर बुद्धिजीवियों और छात्रों-युवाओं को इसकी ओर आकर्षित होने से रोका जा सकता है। यह बेवजह नहीं है कि ल्योतार महाख्यानों की अपनी आलोचना में बार-बार निशाना राजनीतिक अर्थशास्त्र और आर्थिक विश्लेषण को बनाता है। इसका लक्ष्य भी कम्युनिस्ट आन्दोलन के शुरुआती दौर में उसके भर्ती केन्द्रों पर हमला करना ही है। यानी वही लक्ष्य जो एन.जी.ओ. सेक्टर का है।

पूरा का पूरा एनजीओ सेक्टर इसी सोच से जाकर जुड़ता है। विश्व सामाजिक मंच और डब्ल्यू.एम.पी.ए. भी इसी साज़िश का एक हिस्सा हैं जो समुदाय और खण्डों का जश्न मनाते हुए जनता की वर्ग चेतना को कुन्द करना चाहते हैं और जनता की वर्ग आधारित एकता बनने से रोकना चाहते हैं। इस काम को वैचारिक धरातल पर उत्तरआधुनिक, उत्तरऔपनिवेशिक, उत्तरमार्क्सवादी, उत्तरप्राच्यवादी, उत्तरनारीवादी, उत्तरपर्यावरणवादी, सबऑल्टर्न इतिहासकार कर रहे हैं और तमाम अकादमिक केन्द्रों पर ही समाज के उन्नत और तेज़-तर्रार युवाओं को भ्रमित कर दे रहे हैं। इनकी साज़िश की गम्भीरता को समझना पड़ेगा। इन्हें कदम-कदम पर वैचारिक रूप से मात देनी होगी, क्रान्तिकारी ऊर्जस्विता से लैस युवाओं को इनकी असलियत बतानी होगी तथा सुधार कार्यों को क्रान्तिकारी तरीके से करते हुए व्यापक मेहनतकश आबादी से ऐक्यबद्ध होकर, उनके बीच अपना अभेद्य सामाजिक आधार विकसित करके उनके राजनीतिक संघर्षों को कदम-ब-कदम आगे बढ़ाना होगा और इस प्रक्रिया में ग़ैर-सरकारी या स्वयंसेवी संगठनों को बेनक़ाब कर आम मेहनतकशों के बीच से उन्हें उखाड़ फेंकना होगा। यह संघर्ष हमारे लिए आज प्राथमिकता में होना चाहिए कि इनके वैचारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक एजेण्डे को बेनक़ाब कर दिया जाय। यह क्रान्तिकारी पार्टी निर्माण के शुरुआती दौर में उन्नत तत्वों के बीच मार्क्सवाद का वैचारिक प्राधिकार और वर्चस्व क़ायम करने के काम के रास्ते से एक बड़ी बाधा को हटाना होगा। ●

परिकल्पना प्रकाशन का सम्पूर्ण सूचीपत्र

उपन्यास

1. माँ	मक्सिम गोर्की	95.00
2. वे तीन	मक्सिम गोर्की	75.00
3. मेरा बचपन	मक्सिम गोर्की	70.00
4. जीवन की राहों पर	मक्सिम गोर्की	80.00
5. मेरे विश्वविद्यालय	मक्सिम गोर्की	50.00
6. फोमा गोर्देयेव	मक्सिम गोर्की	55.00
7. अभागा	मक्सिम गोर्की	40.00
8. बेकरी का मालिक	मक्सिम गोर्की	25.00
9. गोदान	प्रेमचन्द	75.00
10. निर्मला	प्रेमचन्द	40.00
11. पथ के दावेदार	शरत्चन्द्र	70.00
12. चरित्रहीन	शरत्चन्द्र	80.00
13. गृहदाह	शरत्चन्द्र	70.00
14. शेषप्रश्न	शरत्चन्द्र	70.00
15. तूफ़ान	अलेक्सान्द्र सेराफ़ीमोविच	60.00
16. इन्द्रधनुष	वांदा वसील्युस्का	65.00
17. इकतालीसवाँ	बोरिस लाव्रेन्योव	20.00
18. दास्तान चलती है	अनातोली कुज्नेत्सोव	70.00
19. वे सदा युवा रहेंगे	ग्रीगोरी बकलानोव	60.00
20. मुर्दों को क्या लाज-शर्म	ग्रीगोरी बकलानोव	40.00
21. बख़्तरबन्द रेल 14-69	व्सेवोलोद इवानोव	30.00
22. अश्वसेना	इसाक बाबेल	40.00
23. लाल झण्डे के नीचे	लाओ श	50.00
24. रिक्शावाला	लाओ श	65.00
25. चिरस्मरणीय	निरंजन	35.00
26. एक तयशुदा मौत (एनजीओ की पृष्ठभूमि पर लिखा चर्चित बंगला उपन्यास)	मोहित राय	25.00
27. असली इन्सान	बोरीस पोलेवोई	75.00
28. तरुण गार्ड (दो भाग)	अलेक्सान्द्र फदेयेव	160.00

कहानियाँ

1. चुनी हुई कहानियाँ	मक्सिम गोर्की (खण्ड 1)	40.00
2. चुनी हुई कहानियाँ	मक्सिम गोर्की (खण्ड 2)	60.00
3. चुनी हुई कहानियाँ	अन्तोन चेखव (खण्ड 1)	40.00
4. चुनी हुई कहानियाँ	अन्तोन चेखव (खण्ड 2)	40.00
5. दो अमर कहानियाँ	लू शुन	25.00
6. श्रेष्ठ कहानियाँ	प्रेमचन्द	25.00
7. पाँच कहानियाँ	पुश्किन	20.00
8. तीन कहानियाँ	गोगोल	30.00
9. वसन्त	सेर्गेई अन्तोनोव	60.00
10. वसन्तागम	रओ श	60.00
11. सूरज का ख़ज़ाना	मिखाईल प्रीश्विन	40.00
12. स्नेगोवेत्स का होटल	मत्वेई तेवेल्योव	35.00
13. वसन्त के रेशम के कीड़े	माओ तुन	50.00
14. क्रान्ति झंझा की अनुगूँजें (अक्टूबर क्रान्ति की कहानियाँ)		75.00
15. चुनी हुई कहानियाँ	श्याओ हुङ	50.00
16. समय के पंख	कोन्स्तान्तीन पाउस्तोव्सकी	30.00
17. श्रेष्ठ रूसी कहानियाँ		75.00
18. अब इंसाफ़ होने वाला है (प्रगतिशील उर्दू कहानियों का प्रतिनिधि चयन)	शकील सिद्दीकी (सं.)	75.00
19. दोन की कहानियाँ	मिखाईल शोलोख़ोव	35.00
20. लाल कुरता	हरिशंकर श्रीवास्तव	35.00
21. चम्पा और अन्य कहानियाँ	मदन मोहन	35.00
22. अनजान फूल	आन्द्रेई प्लातानोव	40.00
23. कुत्ते का दिल	मिख़ाइल बुल्गाकोव	70.00

कविताएँ

1. जेल डायरी	हो ची मिन्ह	45.00
2. ओस की बूँदें और लाल गुलाब	होसे मारिया सिसों	25.00
3. कोहेकाफ़ पर संगीत-साधना	शशिप्रकाश	50.00
4. पतझड़ का स्थापत्य	शशिप्रकाश	75.00
5. फ़ुटपाथ पर कुर्सी	कात्यायनी	80.00
6. राख-अँधेरे की बारिश में	कात्यायनी	15.00
7. इन्तिफ़ादा : फ़लस्तीनी कविताएँ	अनु. रामकृष्ण पाण्डेय	30.00
8. लहू है कि तब भी गाता है	पाश	75.00
9. माओ त्से-तुङ की कविताएँ (राजनीतिक पृष्ठभूमि सहित विस्तृत टिप्पणियाँ एवं अनुवाद : सत्यव्रत)		20.00
10. इकहत्तर कविताएँ और तीस छोटी कहानियाँ : बेर्टोल्ट ब्रेष्ट (मूल जर्मन से अनुवाद : मोहन थपलियाल (ब्रेष्ट के दुर्लभ चित्रों और स्केचों से सज्जित))		60.00
11. समर तो शेष है... (इप्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगीतों का संकलन)		35.00
12. यह मुखौटा किसका है	विमल कुमार	35.00

नाटक

1. करवट	मक्सिम गोर्की	35.00
2. दुश्मन	मक्सिम गोर्की	35.00
3. तलछट	मक्सिम गोर्की	30.00
4. तीन बहनें (दो नाटक)	चेखव	45.00
5. चेरी की बगिया (दो नाटक)	चेखव	45.00
6. क्रेमलिन की घण्टियाँ	निकोलाई पोगोदिन	40.00
7. बलिदान जो व्यर्थ नहीं गया	व्सेवोलोद विश्नेव्स्की	40.00

संस्मरण

1. तोल्स्तोय : एक शब्दचित्र	मक्सिम गोर्की	20.00

ज्वलन्त प्रश्न

1. कुछ जीवन्त कुछ ज्वलन्त	कात्यायनी	90.00
2. षड्यंत्ररत मृतात्माओं के बीच (साम्प्रदायिकता पर लेख)	कात्यायनी	25.00
3. इस रात्रि श्यामला बेला में	सत्यव्रत	30.00
4. इराक़ : साम्राज्यवादी कब्ज़ा और प्रतिरोध	हरपाल बराड़	40.00

व्यंग्य

12. कहें मनबहकी खरी-खरी	मनबहकी लाल	25.00

साहित्य-विमर्श

1. उपन्यास और जनसमुदाय	रैल्फ़ फ़ॉक्स	60.00
2. लेखनकला और रचनाकौशल	गोर्की, फेदिन, मयाकोव्स्की, अ. तोल्सतोय	70.00
3. दर्शन, साहित्य और आलोचना	बेलिंस्की, हर्ज़न, चेर्नीशेव्स्की, दोब्रोल्युबोव	60.00
4. सृजन की प्रक्रिया और शिल्प के बारे में	मक्सिम गोर्की	30.00
5. मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ	स्तालिन	15.00

हमारी पुस्तक सूची के लिए **पृष्ठ 74** भी देखें

परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकें मँगाने के लिए सम्पर्क करें :

जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226 020

फोन : 0522-2786782, ईमेल : janchetna@rediffmail.com

चीन में मेहनतकश वर्गों की दशा

● रार्बट वील

वर्तमान चीनी समाज की संरचना, उसमें जारी अन्दरूनी वर्ग-संघर्ष और अनिवार्य तार्किक परिणतियों को समझने में राबर्ट वील का यह लेख पाठकों की बहुमूल्य सहायता करेगा। आज पूरी दुनिया में बुर्जुआ मीडिया चीन की अभूतपूर्व विकास दर और "बाज़ार समाजवाद" की उपलब्धियों का खूब डंका पीट रहा है, लेकिन वह इस तथ्य को यथासम्भव दृष्टि ओझल करने की कोशिश करता है कि यह विकास-दर मज़दूरों-किसानों की भयंकर बदहाली, तबाही और भुखमरी की कीमत पर हासिल की जा रही है। एक ओर जहाँ चीनी समाज में अरबपतियों और करोड़पतियों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है, वहीं फैक्टरियों के मज़दूर और कम्यूनों की सामूहिक खेती की व्यवस्था के टूटने से उजड़ने वाले किसान निकृष्टतम कोटि के उजरती गुलामों की ज़िन्दगी बसर कर रहे हैं।

राबर्ट वील का यह लेख, इस विषय पर प्रकाशित अन्य कई लेखों की ही तरह, स्पष्ट कर देता है कि चीन की मेहनतकश जनता अपनी दुरवस्था को नियति मानकर झेलते रहने के लिए कतई तैयार नहीं है। चीनी समाज में पूँजीवादी विपर्यय के बाद तेजी से बढ़ता वर्ग ध्रुवीकरण यहाँ-वहाँ स्थानीय और क्षेत्रीय स्तरों पर वर्ग संघर्षों के रूप में लगातार फूटता रहा है। यह सिलसिला अब लगातार व्यापक और गहरा होता जा रहा है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस वर्ग संघर्ष को दिशा देने वाली विचारधारा और मनोगत शक्तियाँ भी, चाहे बिखरे रूप में ही सही, लेकिन परिदृश्य पर मौजूद हैं। स्थितियाँ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के अन्तिम वर्षों के दौरान की गयी माओ की इस भविष्यवाणी को सत्यापित कर रही है कि "चीन में यदि पूँजीवादी पथगामी पूँजीवाद की पुनर्स्थापना में सफल हो भी गये तो वे कभी चैन से कुर्सी पर नहीं बैठ सकेंगे।" दस वर्षों तक चलने वाली चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने चीन की मेहनतक़श जनता को समाजवादी समाज की दीर्घकालिक संक्रमणशील प्रकृति, उसमें जारी वर्ग-संघर्ष की दिशा, पार्टी और राज्य में पूँजीवादी पथगामियों की मौजूदगी और पूँजीवादी पुनर्स्थापना के लम्बे समय तक मौजूद रहने वाले ख़तरे के बारे में गहराई से शिक्षित किया था और यह स्पष्ट बताया था कि चीन में यदि पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो जाती है तो चीनी जनता को अविलम्ब पूँजीवादी पथगामियों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ देना चाहिए। अब हालात बता रहे हैं कि चीनी जनता ने सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षा को भुलाया कत्तई नहीं था। राबर्ट वील का यह लेख भी बताता है कि चीन के मज़दूर और किसान समाजवाद के लिए संघर्ष में एक बार फिर से सन्नद्ध होते हुए माओ की अनश्वर शिक्षाओं और सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के महान प्रयोग की ओर देख रहे हैं।

निस्सन्देह, चीन जैसे विशाल देश में और विश्व ऐतिहासिक विपर्यय एवं प्रतिक्रिया के वर्तमान घटाटोप में क्रान्तिकारी धारा के विकास की प्रक्रिया जटिल, कठिन और दीर्घकालिक होगी। क्रान्ति का बुनियादी प्रश्न राज्यसत्ता का प्रश्न होता है। तमाम संकटों के बावजूद चीन के नये बुर्जुआ सत्ताधरियों के पीछे आज पूरी विश्व पूँजी की ताक़त खड़ी है और चीनी समाज के भीतर भी उन्होंने नये खुशहाल मध्य वर्ग और विविध परजीवी जमातों का एक अच्छा-ख़ासा सामाजिक आधार विकसित किया है। चीन में समाजवाद की पुनर्स्थापना के लिए जारी वर्ग-संघर्ष अभूतपूर्व, प्रचण्ड झंझावाती प्रकृति का होगा। यह संघर्ष नयी बुर्जुआ राज्यसत्ता को चकनाचूर करने के बाद ही सर्वहारा वर्ग की राज्यसत्ता क़ायम कर पायेगा और यह केवल तभी सम्भव हो सकेगा जब इस संघर्ष में सर्वहारा वर्ग और अन्य मेहनतक़श वर्गों का नेतृत्व देश स्तर पर एकीकृत सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी -- एक सच्ची मार्क्सवादी- लेनिनवादी-माओवादी पार्टी करे। ज़ाहिर है कि चीन में यह प्रक्रिया अभी प्रारम्भिक दौर में है, लेकिन ऐसी हरावल शक्तियाँ वहाँ मौजूद हैं और उनके ऐक्यबद्ध होने की प्रक्रिया भी जारी है, इसके संकेत राबर्ट वील के इस लेख से भी मिलते हैं। फिलहाल, चीनी मेहनतकश जनता की एकता के साथ-साथ, विचारधारात्मक- राजनीतिक समझ के अभाव में, यहाँ-वहाँ उनके बीच के अन्तरविरोध भी नकारात्मक रूप में प्रकट होते रहते हैं और इन्हें शासक वर्ग बढ़ावा भी देता है, लेकिन इन अन्तरविरोधों के पहलू पर एकता का पहलू क्रमशः हावी होता जायेगा -- इसके संकेत भी अभी से मिलने लगे हैं। निश्चय ही, इस प्रक्रिया में "बाज़ार समाजवाद" के क्रमशः नंगे होते चरित्र के साथ ही उस क्रान्तिकारी प्रचार एवं शिक्षा की भी महत्वपूर्ण भूमिका होगी, जिसे ग्रासरूट स्तर पर संगठित करने का काम बहुतेरे मज़दूर ऐक्टिविस्टों और सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर के भूतपूर्व रेडगार्डों ने शुरू कर दिया है। बहुतेरे पार्टी कार्यकर्ता जो देङपंथी सुधारों के असली वर्ग-चरित्र को शुरुआती वर्षों में समझ नहीं पाये थे, वे इसके विनाशकारी दुष्परिणामों को देखकर एक बार फिर माओ की ओर मुड़ने लगे हैं। युवा छात्रों और मज़दूरों के बीच भी वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध गहन आक्रोश है, लेकिन उनके बीच अभी ज़्यादा लम्बे और सघन विचारधारात्मक कार्य की ज़रूरत होगी, क्योंकि यह आबादी का वह हिस्सा है जो महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का भागीदार नहीं था। "बाज़ार समाजवाद" के दौर में पले-बढ़े होने के कारण यह पीढ़ी माओकालीन समाजवाद के सिद्धान्त और व्यवहार से अपरिचित है और वर्तमान व्यवस्था की अनुभवसंगत आलोचना एवं प्रतिरोध की सीमा में काफ़ी हद तक बँधी हुई है। मुख्यतः आबादी का यही वह हिस्सा है। जिसमें ऐसे लोग भी मौजूद हैं जो विकल्प की तलाश करते हुए बहुदलीय शासन या पश्चिमी ढंग के बुर्जुआ जनवाद की वक़ालत करते हैं। आबादी के इसी हिस्से के बीच भाँति-भाँति के नववामपंथियों के साथ ही भाँति-भाँति के एन.जी.ओ. और 'सिविल सोसायटी' संगठन अधिक सक्रिय हैं जो वर्ग-राजनीति के बरक्स अस्मिता की राजनीति और समाजवाद के बजाय सिविल सोसायटी की बातें करते हुए जनसंघर्षों को विचारधारात्मक विभ्रम एवं पतन-विघटन का शिकार बनाने के लिए विश्व-पूँजी के 'ट्रोजन हॉर्स' के रूप में,

'सेफ़्टी वॉल्व' के रूप में तथा दूसरी सुरक्षा पंक्ति के रूप में काम करते हैं (ऐसे संगठनों की राजनीति के विश्लेषण के लिए देखें इसी अंक में प्रकाशित अभिनव का लेख : '"अस्मितावादी" राजनीति और उत्तर-आधुनिकतावाद का राजनीतिक एजेण्डा'।) ज़ाहिर है कि ऐसे संगठनों के विचारधारात्मक प्रभाव से मुक्त होने के बाद ही चीन के क्रान्तिकारी छात्र-युवा चीन की नयी सर्वहारा क्रान्ति के सहभागी बन सकेंगे। इस तथ्य का रेखांकन ज़रूरी है, क्योंकि राबर्ट वील के इस लेख में इस धारा का उल्लेख तो किया गया है, लेकिन इसके विचारधारात्मक चरित्र एवं उद्देश्य का सांगोपांग विश्लेषण नहीं किया गया है।

चीन की व्यापक मेहनतकश जनता के बीच "बाज़ार समाजवाद" के असली चेहरे, पार्टी एवं राज्यतंत्र में व्याप्त चरम भ्रष्टाचार तथा राज्यसत्ता के फासिस्ट तानाशाही चरित्र के ज़्यादा से ज़्यादा उजागर होते जाने के साथ ही चीन के नये सत्ताधारी हरचन्द कोशिश कर रहे हैं कि उनका समाजवादी मुखौटा बना रहे। भ्रष्टाचार पर नियंत्रण के लिए कड़े कदम उठाये जा रहे हैं। एक बार फिर पार्टी के नेता देङ के साथ-साथ माओ का खूब नाम ले रहे हैं।

अध्ययन मण्डल और ग्रास रूट स्तर की बैठकों जैसी कुछ पुरानी पार्टी संस्थाओं और कुछ समाजवादी उपक्रमों के ऊपरी खोल को फिर से स्थापित करने की कोशिशें भी जारी हैं। ज़ाहिर है कि ये कॉस्मेटिक सुधार मात्र हैं जो अब आम जनता को भरमाने में प्रभावी नहीं हो सकते। जैसा राबर्ट वील ने लिखा है : "चीनी कम्युनिस्ट पार्टी उस विशालकाय कम्पनी की तरह, जिसे अपनी सांगठनिक अव्यवस्था और जनता में अपनी डूबती साख की चिन्ता रहती है, खुद को एक प्रभावी आधुनिक यंत्र के रूप में पुनर्गठित करने की कोशिश कर रही है।" लेकिन वील का यह स्पष्ट मानना है कि चीन में शायद ही किसी को हू और वेन से समाजवाद के रास्ते पर वापसी की उम्मीद होगी। चीन में मेहनतकशों की स्थितियाँ उन्हें तेज़ी से रैडिकल दिशा में धकेल रही हैं और बहुतेरे बुद्धिजीवी भी यह समझने लगे हैं कि विश्व पूँजीवाद उन्हें कोई विकल्प नहीं दे सकता। चीन की नयी, उदीयमान हरावल शक्तियाँ वैश्विक संचार एवं संगठन के नये और तेज़ी से फैलते नेटवर्कों के ज़रिये पूरी दुनिया के जनसंघर्षों और क्रान्तिकारी वाम की शक्तियों के सम्पर्क में आ रही हैं तथा इस रूप में अन्तरराष्ट्रीय एकजुटता का एक नया आधार तैयार होने की प्रक्रिया भी अब शुरू हो चुकी है।

वर्तमान चीनी समाज में जारी वर्ग संघर्ष की इस प्रक्रिया का गहन अध्ययन हमारे देश के क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों, युवाओं और मुक्तिकामी जनता के लिए आज बेहद ज़रूरी है। आज के चीन का यथार्थ इस विश्वास को पुष्ट कर रहा है कि वर्तमान विश्वव्यापी विपर्यय के बाद अक्तूबर क्रान्ति के नय संस्करणों का निर्माण अवश्यम्भावी है, कि पूँजीवाद "इतिहास का अन्त" नहीं बल्कि वर्ग समाजों के इतिहास का आखिरी पड़ाव है, कि चीन के मेहनतकश चीन के बुर्जुआ सत्ताधारियों को कभी चैन से नहीं बैठने देंगे, वे एक बार फिर उठ खड़े होंगे और लम्बे कठिन संघर्ष के बाद समाजवाद की पुनर्स्थापना में निश्चय ही कामयाब होंगे।

यह लेख इसलिए भी एक ज़रूरी अध्ययन सामग्री है, क्योंकि यह हमें भारत के उन तमाम नकली वामपंथियों की असलियत को भी समझने में मदद करता है जो आज चीन के "बाज़ार समाजवाद" के गुण गाते नहीं अघा रहे हैं और चीनी सत्ताधारियों की ही भाँति समाजवाद की सुमिरनी फेरते हुए निजीकरण-उदारीकरण का मंत्रजाप कर रहे हैं।

वर्तमान चीनी समाज की स्थिति और चीन के वर्तमान सत्ताधारियों के वास्तविक वर्ग-चरित्र के बारे में और अधिक अध्ययन की जिज्ञासा वाले पाठकों के लिए हम यहाँ कुछ और निहायत ज़रूरी अध्ययन सामग्री अवश्य सुझाना चाहेंगे। ऐसे पाठकों को 'फ़ानशेन', 'शेनफ़ान', 'हण्ड्रेड डे वार : दि कल्चरल रिवोल्यूशन ऐट त्सिङहुआ युनिवर्सिटी' और 'टर्निंग प्वाइण्ट इन चाइना' के यशस्वी लेखक विलियम हिण्टन की दो पुस्तकें 'दि ग्रेट रिवर्सल : दि प्राइवेटाइज़ेशन ऑफ चाइना', 'चाइना : ऐन अनफ़िनिश्ड बैटल : एसेज़ ऑन कल्चरल रिवोल्यूशन ऐण्ड फ़र्दर डेवलपमेण्ट्स इन चाइना', राबर्ट वील की पुस्तक 'रेड कैट व्हाइट कैट : चाइना ऐण्ड दि कण्ट्राडिक्शन्स ऑफ मार्केट सोशलिज़्म', मार्टिन हार्ट-लैण्ड्सबर्ग और पॉल बर्केट की पुस्तक 'चाइना ऐण्ड सोशलिज़्म : मार्केट रिफ़ॉर्म ऐण्ड क्लास स्ट्रगल' तथा देङ-युआन सू तथा पाओ-यु चिङ का लेख 'समाजवाद पर पुनर्विचार : समाजवादी संक्रमण क्या है?' (दायित्वबोध, जुलाई-सितम्बर 2005 में प्रकाशित) अवश्य पढ़ना चाहिए ।

-- सम्पादक

भूमिका

यह लेख मुख्यतः मज़दूरों, किसानों, संगठनकर्ताओं और वामपंथी कार्यकर्ताओं से मुलाकातों की एक शृंखला पर आधारित है जिसमें मैं, एलेक्स डे और चीनी मामलों के एक अन्य अध्येता के साथ 2004 की गर्मियों के दौरान शामिल हुआ था। यह उस लम्बे शोधपत्र का एक हिस्सा है जिसे ओकलैण्ड इंस्टीट्यूट द्वारा एक विशेष रिपोर्ट के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। ये मुलाकातें मुख्य रूप से पेइचिङ तथा उसके आस-पास, और साथ ही उत्तर-पूर्व के जिलिन प्रान्त, तथा मध्यवर्ती हेनान प्रान्त के झेङझाऊ और काइफेङ शहरों में आयोजित हुई थीं। जो कुछ हमने सुना वह बहुत साफ तौर पर माओ की मृत्यु के बाद के तीन दशकों में हुए भारी परिवर्तनों के प्रभावों को उजागर करता है जिस दौरान माओ के नेतृत्व में लागू हुई क्रान्तिकारी समाजवादी नीतियाँ ध्वस्त की जा चुकी हैं, तथा "पूँजीवादी पथ" की ओर वापसी हो चुकी है, जिसके चलते मज़दूर वर्ग के हालात लगातार संकटपूर्ण होते जा रहे हैं। एक ऐसे समाज में -- जो सर्वाधिक समलामूलक समाजों में से एक था -- शीर्ष पर दौलत के अम्बार और सबसे नीचे मज़दूरों-किसानों की बढ़ती कतारों के बीच, जिनके जीवन के हालात रोज़-ब-रोज़ बदतर होते जा रहे हैं, ध्रुवीकरण तेज़ी से बढ़ रहा है। उदाहरणस्वरूप, 'फ़ॉरच्यून' पत्रिका की 2006 की दुनिया के अरबपतियों की सूची में सात चीन की मुख्य भूमि से आते हैं और एक हॉगकांग से। भले ही उनकी पूँजी संयुक्त राज्य अमेरिका और दूसरी जगहों के मुकाबले कम है पर वे एक पूर्ण विकसित चीनी पूँजीवाद के उभार को ही प्रकट करते हैं। अनियंत्रित भ्रष्टाचार ने पार्टी और राज्य के अधिकारियों व उद्योग प्रबन्धकों को नये निजी उद्यमियों के साथ गठबन्धनों के एक ऐसे मकड़जाल में एकजुट कर दिया है जिसके चलते दिनोदिन फैलता हुआ पूँजीपति वर्ग सम्पन्न हो रहा है, जबकि मेहनतकश वर्गों का ऐसे तरीकों से शोषण हो रहा है जो कि पिछली आधी शताब्दी में कभी देखे नहीं गये।

जिन मज़दूरों से हमने बात की वे उन दसियों लाख मज़दूरों में से कुछ थे जिन्हें राजकीय उद्यमों की, जो कभी अर्थव्यवस्था के स्तम्भ होते थे, अपनी नौकरियों से निकाल बाहर किया गया था। उसके साथ ही

इससे जुड़ी हर प्रकार की सामाजिक सुरक्षा भी उनसे छिन गयी, जो उनकी कार्य इकाइयों का हिस्सा थी, जैसे कि मकान की सुविधा, शिक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएँ, तथा पेंशन आदि के साथ तमाम दूसरी सुविधाएँ। चूँकि इन राजकीय उद्यमों को या तो निजी निवेशकों को सीधे बिक्री के ज़रिये अथवा प्रबन्धकों और राज्य तथा पार्टी अधिकारियों द्वारा अर्द्ध-निजीकरण के निजी, लाभ कमाने वाले निगमों में बदल दिया गया है, अतः भ्रष्टाचार सामान्य-सी बात हो गयी है।

जिन किसानों से हम मिले वे गाँव में कम्यूनों के जबरदस्ती भंग किये जाने और एक पारिवारिक दायित्व प्रणाली, जिसमें प्रत्येक परिवार खेती के लिए ज़मीन का एक टुकड़ा पाने के लिए गाँव के साथ करार करता है, की शुरुआत होने के दीर्घकालिक प्रभावों से जूझ रहे थे। वैश्विक मण्डी के लिए देश के दरवाजे खुला छोड़ देने के साथ ही, गाँववासियों को उचित मुआवजा दिये बिना स्थानीय अधिकारियों द्वारा पूँजी निवेशकों को की गयी ज़मीन की बिक्री और ग्रामीण क्षेत्रों में पर्यावरण की अनियंत्रित बर्बादी के चलते इस नीति ने जहाँ लाखों लोगों को आजीविका की तलाश में भटकने के लिए छोड़ दिया है वहीं उनसे उस सामूहिक सामाजिक सुरक्षाकवच को भी छीन लिया है जो पहले उन्हें मिला हुआ था। उनमें से दस करोड़ से भी अधिक लोग शहर की ओर व्यापक स्तर पर प्रवजन करती आबादी का हिस्सा बन चुके हैं। वे निर्माण कार्यों में, नयी निर्यातोन्मुख फैक्टरियों में या उन सबसे गन्दे और ख़तरनाक किस्म के कामों में रोज़गार की तलाश कर रहे हैं जहाँ उन्हें सबसे बुनियादी अधिकार भी हासिल नहीं हैं। बहुतेरे प्रवासियों के हालात बहुत तेज़ी के साथ बद से बदतर होते जा रहे हैं क्योंकि उन्हें शहरी इलाकों में अर्द्धस्थायी रूप से बसना पड़ता है और उम्र के साथ-साथ उनकी स्वास्थ्य समस्याएँ बढ़ती जाती हैं।

चीन के मेहनतकश वर्गों ने अपने बिगड़ते हालात और दशकों तक समाजवादी क्रान्ति में संघर्ष और कुर्बानी के ज़रिये हासिल अधिकारों के छीने जाने को चुपचाप स्वीकार नहीं किया है। वर्ग-अन्तरविरोध और सामाजिक उथल-पुथल का उफान इस स्तर तक जा पहुँचा है जैसा कि दशकों तक देखा नहीं गया। चीन के मज़दूर, किसान और प्रवजक आज दुनिया भर के कुछ विशालतम प्रदर्शनों का आयोजन कर रहे हैं, कभी-कभी तो दसियों हज़ार लोग इसमें शामिल होते हैं, और अक्सर अधिकारियों के साथ उग्र झड़पें हो जाती हैं। यहाँ तक कि सार्वजनिक सुरक्षा मंत्री द्वारा प्रकाशित आँकड़ों में यह स्वीकार किया गया था कि "जन समुदाय से सम्बन्धित घटनाएँ अथवा प्रदर्शनों और दंगों" की संख्या एक दशक पहले के 10,000 से बढ़कर 2003 में 58,000 और 2004 में 74,000 तक जा पहुँची है (*न्यूयार्क टाइम्स*, 24 अगस्त 2005)। सामाजिक अस्थिरता का लगातार बढ़ता ख़तरा पार्टी और राज्य के सर्वोच्च नेताओं के लिए लगातार गम्भीर होती जा रही चुनौती बन गया है और इससे भी व्यापक उथल-पुथल को टालने की उनकी कोशिश के चलते नीतियों में परिवर्तन शुरू किये जा चुके हैं। यहाँ तक कि पेशेवरों व प्रबन्धकों का तथाकथित नया मध्यवर्ग और कालेज स्नातकों की तेज़ी से फैलती कतारें, जिनमें से बहुतेरे दशकों लम्बी आर्थिक समृद्धि के दौर में फले-फूले हैं, विखण्डित हो रही हैं। माओकालीन चीन में स्नातक स्कूलों तक की शिक्षा वस्तुतः मुफ़्त हासिल थी, पर अब इसकी बढ़ती कीमतें शिक्षा को, विशेषकर मज़दूर वर्गों के लिए, वर्जित बना रही हैं। जिन्होंने अभी हाल ही में पढ़ाई पूरी की है, उन्हें रोज़गार ढूँढ़ने में लगातार बढ़ती कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। बाज़ार का दबाव उन्हें भी शिकार बना रहा है जो बेहतर स्थिति में हैं। आर्थिक विकास से जो लाभ हासिल हुए हैं -- विशेषकर उपभोक्ता सामग्रियों और खान-पान तक लोगों की व्यापक पहुँच तथा बढ़ती गतिशीलता व रोज़गार के बढ़ते अवसरों के मामले में -- लगातार बढ़ते वर्ग-विभाजन और बढ़ती असुरक्षा के कारण दसियों लाख लोगों के लिए इसका कोई मतलब नहीं रह गया है। नतीजतन, चीन तीव्र होते वर्ग संघर्ष और ऐसी राजनीतिक अस्थिरता के दौर में प्रवेश कर रहा है जिसका आसानी से समाधान सम्भव नहीं है। मेहनतकश वर्गों के लिए आगे का रास्ता बहुत कठिनाइयों भरा होगा और वामधारा का पुनरुत्थान, अत्यन्त उल्लेखनीय होते हुए भी अभी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में है। यह लेख इन्हीं जटिलताओं और सम्भावनाओं की पड़ताल करता है। मैंने आम तौर पर व्यक्तियों और संगठनों की हिफ़ाज़त के लिए उनके नाम छोड़ दिये हैं।

अन्तरविरोध और एकता

कम से कम सतह पर ऐसा लग सकता है कि शहरी मज़दूरों, प्रवासी आबादी व किसानों -- यहाँ तक कि नये मध्यवर्ग के बहुतेरे लोगों -- की एक जैसी परिस्थितियाँ उन लोगों के खिलाफ संघर्ष के लिए व्यापक एकता की ज़मीन तैयार करेंगी, जो पूँजीवादी बाज़ार व्यवस्था के सुधारों और भूमण्डलीय आर्थिक ताक़तों के लिए चीन के दरवाज़ों को खुला छोड़ देने की नीति के तहत उनका शोषण कर रहे हैं। परन्तु जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका और दुनिया में किसी भी जगह ऐसी ही परिथितियों में होता है, मेहनतकश वर्गों का एकीकरण सिद्धान्त रूप में ज़्यादा आसान लगता है, पर व्यवहार में यह बहुत कठिन होता है। पुराने पूर्वाग्रह, शहरी चीनी लोगों में किसानों के बारे में मौजूद हिकारत की भावना, जल्दी नहीं मिटते। इनके साथ ही प्रतियोगिता के उन नये रूपों के चलते, जिसे ग्रामीण क्षेत्रों से शहर की ओर व्यापक प्रवजन ने पैदा किया है और सत्ताधारियों के जोड़-तोड़ के चलते, जो एक समूह को दूसरे के साथ लड़ाने के लिए बाँटो और राज करो का आज़माया हुआ तरीका इस्तेमाल करते हैं, स्थिति और जटिल हो गयी है।

उदाहरण के लिए, एक कार्यकर्ता से यह पूछे जाने पर कि क्या पेइचिङ के मज़दूर यह महसूस करते हैं कि प्रवासी उनके रोज़गार छीन रहे हैं, उसने जवाब दिया "हाँ, ख़ासकर छँटनीशुदा लोगों में कुछ ऐसी भावना काम करती है।" उनमें से कई प्रवजन करने वाली आबादी को नीची नज़र से देखते हैं। एक बड़े तूफ़ान के बाद की जाने वाली सफाई के दौरान कुछ शहरी मज़दूरों ने यह टिप्पणी की, "ऐसे ही काम प्रवासियों के लायक हैं, अपने यहाँ तो उन्हें पैसा-वैसा मिलता नहीं।" इस छवि को मानो पुष्ट करने के लिए न्यूयार्क टाइम्स (3 अप्रैल, 2006) ने शंघाई नगरपालिका के एक कचराघर में काम करने वाले प्रवासी सफाईकर्मियों पर एक रिपोर्ट दी थी। उनमें से एक अपनी एक लड़की की माध्यमिक विद्यालय की फीस 10,000 युआन (1,250 डॉलर) और दूसरी की प्राथमिक शिक्षा की फीस 1,000 युवान (125 डॉलर) भरने के लिए काम कर रहा था। हालाँकि ये भावनाएँ दोनों तरफ एक जैसी हैं। प्रवासी भी इसी तरह की बातें कहते हैं, जैसे कि, "वह मज़दूर तो छँटनी के लायक ही है।"

सरकार द्वारा प्रवासियों को अपना वेतन और दूसरे अधिकार पाने में, जिसके वे हकदार होते हैं, दी गयी सहायता को कुछ मज़दूर पक्षपातपूर्ण रवैया मानते हैं। अमेरिका में हम इस ढर्रे से अच्छी तरह परिचित हैं -- जहाँ जातीय और नस्ली भेद के साथ आव्रजक होने की हैसियत भी घुल-मिल जाती है। मीडिया इन विभेदों को और उभारता है और यह कहकर विभिन्न समूहों के बीच बिगड़े सम्बन्धों को बढ़ावा देता है, कि शहरी सर्वहारा केवल विदेशियों के साथ काम करना चाहते हैं और साथ

ही यह दावा भी करता है कि प्रवासी मज़दूर “बहुत मामूली” मज़दूरी पर काम करने के लिए तैयार रहते हैं। मीडिया की कोशिश होती है कि छँटनीशुदा मज़दूर उनका (प्रवासी मज़दूरों का--अनु.) अनुकरण करें। यह आक्रोश को जन्म देता है। बहरहाल, शहरी और ग्रामीण आय के बीच बढ़ती खाई -- इसका अनुपात 3.3 और 1 तक पहुँच चुका है, संयुक्त राज्य अमेरिका के मुकाबले यह अधिक है और दुनिया के सबसे ऊँचे अनुपातों में से एक है -- इस तरह के जोड़-तोड़ के लिए ईंधन का काम करती है (*न्यूयार्क टाइम्स*, 12 अप्रैल, 2006)।

ये विभाजन कितने तीखे हैं, इसे झेङ्झाऊ विद्युत सम्प्रेषण उपकरण फैक्टरी में काम करने वाले मज़दूरों का अनुभव साफ़ तौर पर बताता है, जहाँ 2001 में भारी झड़पें हुई थीं। वहाँ जिस समय इस उपक्रम को बेचा और हटाया जा रहा था, विरोध-प्रदर्शनकारियों को पुलिस ने रात में गिरफ़्तार कर लिया और अन्दर घुसकर चोरों की तरह मशीनें उठा ले गयी। वे पचास युवान प्रतिदिन के हिसाब से मशीनें ढोने के लिए किसानों को भी ले आये। नतीजतन, एक लम्बा संघर्ष चला। नगर अधिकारियों द्वारा इस गन्दी कार्रवाई के लिए पुलिस के इस्तेमाल पर जनता के गुस्से से बचने के लिए किसानों को गुण्डों के रूप में भाड़े पर रखा गया। मज़दूरों को पीटने के लिए उन्होंने हेलमेट पहनकर हथियारों का इस्तेमाल किया। 30 ट्रकों में भरकर 500 हड़ताल तोड़क किसानों को लाया गया था, यह इस बात का उदाहरण था कि पूरे झेङ्झाऊ में क्या कुछ घटा था। एक कार्यकर्ता ने बताया कि जब मज़दूरों ने 24 जुलाई 2001 को फैक्टरी में घण्टा बजाया तो “सभी लोग बाहर निकल आये” और उसके बाद मज़दूर बनाम किसान की लड़ाई 4 घण्टे तक चली। उस दिन मज़दूर भारी पड़े क्योंकि दूसरे कारख़ानों के मज़दूर भी -- कुल मिलाकर 40,000 -- मदद के लिए निकल पड़े थे। हालाँकि आठ मज़दूर गिरफ़्तार किये गये और उन पर सम्पत्ति नष्ट करने का अभियोग लगाया गया पर उन्हें क़ानूनी मदद भी मिली और पूँजीपतियों की फिर से हार हुई। एक मज़दूर ने सुधार-पूर्व के दिनों में उन्हें हासिल अधिकारों का हवाला देते हुए कहा “हमारा क़ानून, माओ का क़ानून” लागू हुआ। “वहाँ इतने अधिक लोग थे कि सरकार डर गयी।”

जनता की कार्रवाई इतनी बड़ी थी कि इसने अधिकारियों पर थोड़ी रोक लगा दी लेकिन पूँजीपतियों के दबाव में मज़दूर फिर से गिरफ़्तार कर लिये गये और इस बार अदालत के चक्कर से बच निकलने के लिए उनकी गिरफ़्तारी जन सुरक्षा पुलिस द्वारा हुई। और फिर किसानों के साथ वहाँ दस दिनों तक लड़ाई चली। इस तरह मज़दूरों को कारख़ाने से निकाल बाहर करने के लिए उन्होंने किसानों का इस्तेमाल किया और सब कुछ तुरन्त बेच डाला। 5,600 लोगों की नौकरी चली गयी। तब उन्होंने बिल्डिंगें, जिसमें मज़दूरों के मकान भी शामिल थे, तोड़कर गिरा दीं और ज़मीन एक निजी डेवलपर को दे दी, जिसने वहाँ एक स्टोर और महँगे मकान बनाये। अब, बिना काम और रिहाइश के, संघर्ष जारी रखने से हर कोई डरता है। कई बार पुलिस खुद ही गुण्डा-मवाली बन जाती है, यह अपनी वर्दी उतार देती है और पूँजीपति मालिकों की सुरक्षा में लगे गिरोह की तरह काम करती है, यहाँ तक कि चाकुओं का इस्तेमाल भी करती है। बर्तन बनाने वाले एक प्लाण्ट में एक भीड़ ने मज़दूरों के एक नेता को पीट-पीटकर मार डाला दिया परन्तु अधिकारियों ने इसे होने दिया और बाद में की गयी शिकायतों पर कोई ध्यान नहीं दिया।

इस प्रकार, पुलिस और दूसरी सरकारी एजेंसियाँ उद्यमों में काम करने वालों पर न केवल सीधा हमला करती और उन्हें कुचलती हैं बल्कि मेहनतकश वर्गों के विभिन्न धड़ों को एक-दूसरे से लड़ाती हैं। हालाँकि एकता की ज़रूरत है, पर इस तरह के अनुभव पहले से ही मौजूद पूर्वाग्रहों और विभाजनों पर काबू पाना मुश्किल बना रहे हैं। जैसा कि विद्युत उपकरण कम्पनी के एक मज़दूर कार्यकर्त्ता ने कहा, “किसानों और मज़दूरों को एक परिवार जैसा होना चाहिए--हमें उनसे लड़ना पड़ा है पर हम लोगों को मिलकर काम करना चाहिए।” जो विरोधी पाले में होते हैं वे अपने अल्पकालिक हितों के हिसाब से कार्रवाई करते हैं। पुलिस के एक शीर्षस्थ अधिकारी तक ने यह कहा कि प्लाण्ट में जो उसने किया उसे वह करना नहीं चाहता था, परन्तु उसके ऊपर दबाव था। एक मज़दूर ने उससे कहा कि “वह कुत्ता है।” उसका जवाब था “बिल्कुल ठीक, लेकिन यदि मैं तुम्हें अभी काट न खाऊँ, तो वे मेरी चमड़ी उधेड़ देंगे।” राजकीय उद्यमों का निजी विकास द्वारा विस्थापन विभाजनों को और जटिल बना देता है। उस इलाके में जो भी नयी फैक्टरियाँ बन रही हैं, उन्हें ज़्यादातर मज़दूर बहुत ही कम मज़दूरी पर पास के देहात से मिल जाते हैं जिन्हें आवासीय या अन्य सुविधाएँ नहीं देनी पड़तीं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि एक मज़दूर ने बताया, संयुक्त राज्य अमेरिका के विपरीत चीन में राजकीय उद्यमों से जिन मज़दूरों की छँटनी कर दी जाती है उन्हें सेवा-क्षेत्र में भी रोज़गार नहीं मिलता क्योंकि इस किस्म के काम में किसानों का इस्तेमाल होता है। कारण, वे सस्ती मज़दूरी पर मिल जाते हैं और उन्हें नियन्त्रण में रखा जा सकता है। अतः, एक साथ मिलकर काम करने की इच्छा के बावजूद ऐसी स्थितियाँ मेहनतकश वर्गों के विभिन्न हिस्सों के बीच अपरिहार्यतः टकराव पैदा करती हैं।

इन टकरावों और बँटवारों के बावजूद, शहरी मज़दूरों के व्यापक हिस्सों के बीच ऊँचे धरातल की एकता स्थापित करने के लिए तथा उनके और किसानों के बीच नज़दीकी रिश्ते क़ायम करने की कोशिशें बढ़ायी जा रही हैं -- इनमें दोनों ही किस्म के किसान शामिल हैं, जो खेती में लगे हुए हैं और जो खेती छोड़ कर शहर की ओर प्रवजन कर रहे हैं। पूरे झेङ्झाऊ शहर में पेपर, टेक्सटाइल, और विद्युत सम्प्रेषण उपकरण बनाने वाले प्लाण्टों में हुए प्रदर्शन और शहर के 13,000 टैक्सी चालकों की 1997 की हड़ताल यह दिखाते हैं कि अनेक उद्यमों और सेक्टरों में काम करने वाले दसियों हज़ार मज़दूरों के साथ-साथ उनके समुदाय के सदस्य भी उन लोगों के समर्थन में आ खड़े होते हैं जो निजीकरण, रोज़गार और विभिन्न सुविधाओं में कटौती अथवा टैक्स व शुल्क की ऊँची दरों का विरोध कर रहे हैं। हालाँकि, पूरे चीन के पैमाने पर उन लोगों के लिए जो अलग-अलग फैक्टरियों में काम करते हैं सबसे आम ढर्रा यह है कि अपने मालिकान और उनसे सम्बद्ध सरकारी अधिकारियों से वे खुद ही टकराते हैं। अक्सर इन टकरावों का अन्त सम्बन्धित मज़दूरों को एक बार मिलने वाले छोटे-मोटे भुगतान के रूप में होता है जो उनकी दीर्घकालिक मदद के लिए तो बिल्कुल नाकाफ़ी होते हैं, पर उनकी तात्कालिक माँगों में थोड़ा बहुत राहत देने के लिहाज़ से पर्याप्त होते हैं। टकरावों के लिए रेल की पटरी पर लेटना, राजमार्ग रोकना, या कार्यालयों को घेर लेना और उन पर कब्ज़ा जमा लेना या फिर शहर के नियमित कारोबार को ठप्प कर देने जैसी कार्रवाइयाँ की जाती हैं। संघर्ष के इस अपेक्षाकृत एकाकी रूप से ऊपर उठने के लिए, जो ज़्यादातर मामलों में निजीकरण के बढ़ते कदम, बेरोज़गारी, और नौकरी व सुरक्षा में कमी को रोकने में असफल साबित हुआ है, झेङ्झाऊ के विभिन्न उद्यमों के मज़दूरों ने एकजुट होना शुरू कर दिया है। काइफेङ में भी, जहाँ बहुतेरे राजकीय उद्यम बन्द हो चुके हैं और 100,000 लोग नौकरी से हाथ धो बैठे हैं, मज़दूरों ने सफलता के लिए एकजुटता की ज़रूरत जतायी है। अभी हाल ही में, विभिन्न कारख़ानों के मज़दूर --

जिनमें बहुतेरे ऐसे हैं जो अपनी नौकरी खो चुके हैं और कुछ ऐसे जो अभी भी नौकरी में बने हुए हैं -- एकजुट हो रहे हैं, प्रत्येक उद्यम के प्रतिनिधि के साथ बैठकें कर रहे हैं और ऐसे संयुक्त विरोध-प्रदर्शनों का आयोजन कर रहे हैं, जिनमें सभी फैक्टरियों के मज़दूर भाग ले रहे हैं। जिन कार्यकर्ताओं से हमारी बातचीत हुई वे साल के अन्त में शहर की सभी फैक्टरियों के मज़दूरों के एक बड़े प्रदर्शन की योजना बना रहे थे।

परन्तु इस प्रकार की एकजुट कार्रवाई का भविष्य अनिश्चित है। शहरी सर्वहारा के बीच कई तरह के विभाजन -- आर्थिक, पीढ़ीगत और यहाँ तक कि राजनीतिक भी -- मौजूद हैं जिनमें से कुछ "सुधारों" और सरकार के अधिक समर्थक हैं और दूसरे समाजवादी परिप्रेक्ष्य को लेकर चल रहे हैं। यहाँ तक कि मज़दूर इलाके में स्थित झेङझाऊ के उस पार्क का भी, जहाँ हम गये थे, मज़दूरों तथा अवकाश प्राप्त लोगों के दक्षिण और वाम समूहों के बीच भौतिक स्तर पर बँटवारा हो गया है। इसकी कुछ जगहों पर ख़ासकर दिन के समय दक्षिणपंथी मज़दूरों का कब्ज़ा रहता है और कुछ दूसरे हिस्सों में विशेषकर रात में वामपक्षी मज़दूर हावी रहते हैं। जब हम उन लोगों से बात करने के लिए रुके जो वहाँ आराम के इरादे से हर रोज़ जाते हैं तो हमने यह अनुभव किया कि बहसें उग्र हो सकती थीं और कभी-कभार तो परोक्ष धमकियाँ भी दी जाती थीं। मज़दूरों और किसानों के बीच एकता की सम्भावनाएँ भी ऐसी ही हैं जिसमें प्रवासी एक तरह से बीच की भूमिका निभाते हैं। वहाँ एक होने की चाहत तो मौजूद है लेकिन उनकी स्थितियों में अन्तर और उनके प्रति सरकार के रवैये में अन्तर, ये दोनों ही, ऊँचे धरातल के एकीकरण के खिलाफ काम करते हैं।

सुधारों के तहत, खुशहाली का आंशिक उलटाव भी हुआ है। शहरों और गाँवों दोनों ही जगहों पर जिन लोगों से हमने बात की उनका यह कहना था कि माओ के नेतृत्व के तहत समाजवादी दौर की परिस्थितियों से बिल्कुल विपरीत आज की स्थिति में कुछ किसान बहुतेरे शहरी मज़दूरों की तुलना में वाकई बेहतर स्थिति में हैं। वे भले ही आज भी ग़रीब हों और जीने के लिए जूझ रहे हों -- सर्वाधिक दरिद्र किसान परिवार अन्यों के मुकाबले सबसे बुरी हालत में जी रहे हैं -- पर उनके पास कम से कम ज़मीन का एक टुकड़ा तो है ही जिस पर वे थोड़ा-बहुत अनाज उगा सकते हैं। ग़रीब से ग़रीब प्रवासी भी यदि शहर में हालात बहुत मुश्मिल हो जायें तो अपने गाँव लौट सकता है। अकुशल शहरी मज़दूरों के पास, विशेषकर वे जिन्हें नौकरी से निकाला जा चुका है, वास्तव में खोने के लिए कुछ नहीं होता -- वे एक बार फिर क्लासिकीय सर्वहारा की स्थिति में पहुँच जाते हैं, जो उत्पादन के साधनों से हर तरीके से वंचित, और बिना किसी बाहरी मदद के, सही अर्थों में भूखों मरने को मजबूर होते हैं। यदि उनके माँ-बाप बीमार हों या उन्हें अपने बच्चे की स्कूल की फीस भरनी हो तो उनकी बहुत बुरी हालत हो जाती है। केवल वही मज़दूर जो कुशल होते हैं या जो किसी तरह का छोटा-मोटा धन्धा शुरू करने लायक होते हैं उन किसानों की स्थिति के ज़्यादा करीब होते हैं जिनके पास अपनी ज़मीन होती है।

नतीजतन, इन दोनों वर्गों की कार्रवाइयों के बीच एकता स्थापित करना भी मुश्किल हो जाता है। अकसर ही, विरोध और प्रदर्शन शहरों और उसके आस-पास के गाँवों में लगभग साथ-साथ ही उठ खड़े होते हैं। यहाँ तक कि जिस दौरान हम वहाँ थे उस थोड़े से समय में ही हमने झेङझाऊ और काइफेङ में और उसके आस-पास के इलाकों में समानान्तर चलने वाली घटनाओं के बारे में सुना था। काइफेङ में जिस दिन 20 मज़दूरों को एक फैक्टरी से गिरफ़्तार किया जा रहा था, उसी दिन अगली काउण्टी में किसानों का विरोध प्रदर्शन हो रहा था, जहाँ उन्होंने सरकारी भवनों में तोड़-फोड़ की और राजमार्गों को जाम कर दिया क्योंकि सड़क बनाने के लिए ली गयी ज़मीन के मामले में उनके साथ धोखाधड़ी हुई थी। वे उठ खड़े हुए थे और जैसा कि एक मज़दूर का कहना था "घटिया कार्रवाइयों" में लगे हुए थे। परन्तु वस्तुतः साथ-साथ घटित होने वाली इन घटनाओं को एक-दूसरे से जोड़ने वाली कोई कड़ी नहीं थी, और मज़दूरों और किसानों का कोई संयुक्त विरोध प्रदर्शन अब तक नहीं हुआ है।

इतना ही नहीं, इन दो वर्गों द्वारा आयोजित प्रदर्शनों के प्रति राज्य की प्रतिक्रिया के रूपों तक में भिन्नता होती है। शहरी मज़दूरों को विशेष रूप से, स्थानीय अधिकारियों के भीषण दमन का सामना करना पड़ता है क्योंकि उनके संघर्ष जनता को ज़्यादा नज़र आने वाले होते हैं, शहरी सत्ता केन्द्रों के लिए विनाशकारी और सुधारों की आत्मा -- उद्योगों के निजीकरण और नये पूँजीवादी वर्ग के उदय -- को सीधे चुनौती देने वाले होते हैं। जैसाकि एक मज़दूर ने कहा -- वह और उसके जैसे लोग बहुत गुस्से में हैं इसलिए उन्हें "एक होकर 'विद्रोह' करना चाहिए लेकिन अमेरिका के विपरीत यहाँ वे अपनी स्थिति के बारे में कुछ कहने का भी हक नहीं रखते।" फिर भी, वे "मरने से नहीं डरते, क्योंकि उनके पास कुछ भी नहीं है" और इसलिए वे अपनी लड़ाई जारी रखेंगे।

पूरे देश में मज़दूरों के संघर्ष व्यापक पैमाने पर फैल रहे हैं। कभी स्थानीय लड़ाइयों में वे जीत जाते हैं परन्तु अक्सर ही इसका नतीजा होता है नेताओं की गिरफ़्तारी और क़ैद। इसके विपरीत, हालाँकि गाँव की स्थिति में सुधार लाना अब सरकार की, कम से कम कागज़ों में आधिकारिक नीति है, पर किसान के विरोधों का दमन और भी क्रूर हो सकता है क्योंकि ये नज़रों से आम तौर से ओझल रहते हैं। जबतक कि ऐसी कार्रवाइयाँ इतने व्यापक पैमाने पर न हों कि आम जनता का ध्यान अपनी तरफ खींच लें जैसेकि 2005 के दिसम्बर में गुआङदोङ प्रान्त में दोङझाऊ के करीब 20 गाँववासियों के मारे जाने की घटना, जो पावर प्लाण्ट के लिए ले ली गयी अपनी ज़मीन के एवज में बहुत कम मुआवज़ा मिलने के ख़िलाफ विरोध प्रदर्शित कर रहे थे। इन विभाजनों और अवरोधों के बावजूद, यह महसूस किया जा रहा है कि शहर और गाँवों के मेहनतकश वर्गों को जल्दी ही ऐसे उपाय ढूँढ़ निकालने चाहिए जिससे वे एक साथ हो सकें क्योंकि किसानों के अन्दर गुस्सा लगातार बढ़ता जा रहा है और उनके हालात शहरी मज़दूरों के हालात जैसे हो रहे हैं तथा प्रवासियों को भी बढ़ती उम्र के साथ बद से बदतर होते हालात का सामना करना पड़ रहा है। सभी मेहनतकश वर्गों को संगठित होने में मदद करने वाले कार्यकर्ता उनके एकीकरण की कोशिश में लगे हुए हैं परन्तु यह कठिन और लम्बी प्रक्रिया है जिसमें उनके बीच की खाई को पाटने की अभी शुरुआत भर हुई है।

वामपंथ की वापसी

ऐसी उन्नत धरातल की एकता की सम्भावना किसानों, प्रवासियों और शहरी मज़दूरों के बीच ऐसे लोगों की मौजूदगी से बढ़ जाती है जो चीन में समाजवाद के लिए संघर्ष के गहन अनुभव और मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा के ज्ञान से सम्पन्न हैं। यह ऐतिहासिक विरासत आज चीनी वामपंथ के पुनरुत्थान में बुनियादी महत्व रखती है। जैसा कि झेङझाऊ के एक पूर्व रेड गार्ड का कहना था कि "दो लाइनों के बीच संघर्ष" की वह समझदारी, जो क्रान्ति के दौर के समाजवाद और आज के समय के पूँजीवादी के बीच की विभाजक रेखा है, आज मुख्यतः बुद्धिजीवियों से नहीं बल्कि खुद मेहनतकश वर्गों की जमात से निकल कर आ रही है। इसने विशेषकर भ्रष्टाचार-विरोध का रूप ले लिया है -- केवल

राजकीय कर्मचारियों की धाँधलियों और घूसखोरी के संकीर्ण अर्थो में ही नहीं, हालाँकि यह उसका एक हिस्सा ही है, बल्कि राज्य और पार्टी पदाधिकारियों, प्रबन्धकों और उद्यमियों के गठबन्धन द्वारा उत्पादन के साधनों को पूरी तरह नवोदित पूँजीपतियों की निजी सम्पत्ति में तब्दील करने और क्रान्ति के दौर में मज़दूरों और किसानों द्वारा हासिल समाजवादी उपलब्धियों को उलट देने से रोकने के व्यापक प्रयास के रूप में भी। कार्यकर्ताओं ने क्रान्ति के सिद्धान्त, भावना और व्यवहार को जीवित रखा है ख़ासकर झेङझाऊ और अन्य इलाकों में जो 1920 के दशक से ही कम्युनिस्ट आन्दोलन के केन्द्र रहे हैं। 1923 में कम्युनिस्टों की अगुवाई में पेइचिङ-हानकाऊ रेलवे की एक आम हड़ताल में, जिसे इलाकाई युद्धसरदार द्वारा बर्बरतापूर्वक कुचल दिया गया था, मारे गये सौ से भी अधिक मज़दूरों की स्मृति को ज़िन्दा रखने के लिए उस शहर में 1971 में निर्मित एक दोहरे पगोडे जैसी मीनार शहर के मुख्य चौराहे पर खड़ी है। वहाँ माओ युग की विरासत आज भी जीवित है और मज़दूरों की चेतना का धरातल अत्यन्त उन्नत है जो उन्हें दो लाइनों के संघर्ष की दिशा में ले जाता है।

उस शहर में मज़दूरों के साथ बातचीत में जो पहलू ज़्यादा प्रमुखता से उभरकर आये उनमें एक ख़ास बात यह थी कि वे जिन फैक्टरियों में काम करते थे उन पर अपना स्वामित्व महसूस करते थे। राजकीय उद्यमों में मज़दूर वर्ग को हासिल सामाजिक स्वामित्व और सहभागिता के अधिकार चाहे जितने सीमित रहे हों -- और जो अधिकार-हरण के देङपथी सुधारों के ख़िलाफ़ सुरक्षा कवच के रूप में भले ही नाकाफ़ी साबित हुए -- पर निस्सन्देह मज़दूर इस बात को शिद्दत से महसूस करते हैं कि ये प्लाण्ट "उनके" हैं। जैसा कि एक मज़दूर ने इसे स्पष्ट किया कि विद्युत सम्प्रेषण उपकरण फैक्टरी "मज़दूरों के ख़ून-पसीने से बनी" थी और वे इसे पूँजीपतियों के हाथों में देना और इसका निजीकरण नहीं चाहते थे। यह पूरे राष्ट्र की सम्पत्ति थी और समूचे मज़दूर वर्ग के सामूहिक आर्थिक संचय का एक हिस्सा था। माओ के काल में फैक्टरियों पर कुछ हद तक मज़दूरों का भी नियन्त्रण था, वे "अपने विचारों को रख सकते थे और उन्हें सुना भी जाता था।" यह चीज़ सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान अपने शिखर पर जा पहुँची। उन दिनों "मज़दूर वर्ग अगुवाई करता था और खुद ही अपना प्रतिनिधित्व करता था", परन्तु आज उन्हें कोई नहीं सुनता और उनके हाथ में कोई ताक़त नहीं है। जीवन भर की मेहनत से खड़ी की गयी अपनी सामूहिक सम्पत्ति के छिन जाने और सहभागिता के समस्त अधिकारों से वंचित कर दिये जाने से मज़दूरों के भीतर स्वामित्व खो देने का जो अहसास पैदा हुआ उसे उन्होंने बार-बार व्यक्त किया। इस समझदारी को और सैद्धान्तिक सन्दर्भ देते हुए झेङझाऊ के एक मज़दूर ने कहा कि "नौकरशाही पूँजी" की वर्तमान व्यवस्था बुनियादी तौर पर आर्थिक नहीं बल्कि एक राजनीतिक समस्या है -- यह एक ऐसा विश्लेषण था जो सीधे-सीधे लेनिन के "क्या करें?" से निकल कर आ सकता था। "सतह पर यह आर्थिक दिखायी देता है लेकिन वास्तव में यह पूँजीवाद और समाजवाद के बीच का संघर्ष है," मूलतः यह राजनीति का प्रश्न है। उसने कहा कि चीन "अमेरिका जैसा नहीं है, जहाँ कभी समाजवाद नहीं था। पुराने मज़दूर इस ऐतिहासिक सन्दर्भ को समझते हैं। उनमें से ज़्यादातर मज़दूर माओ युग और सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर से गुज़रे हैं। उन्होंने माओ त्से-तुङ विचारधारा का अनुभव किया है और उनकी पीढ़ी चीन को वापस 'माओ के रास्ते' पर लाना चाहती है। समाजवादी रास्ते को बचाने के अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष का यह एक हिस्सा है।"

वह मज़दूर चाहता था कि मज़दूर वर्ग के इस संघर्ष को, और समाजवाद के रास्ते पर उनकी वापसी उनके लिए क्यों महत्वपूर्ण है, इस बात को पश्चिम के देशों में अच्छी तरह से समझा जाये। यह एक लम्बा संघर्ष है। उसे उम्मीद है कि चीन के मज़दूर धीरे-धीरे इस रास्ते की ओर लौटेंगे और तब अन्तिम रूप से जीत उनकी होगी। साथ ही उसने यह चेतावनी भी दी कि वर्तमान आन्दोलन यदि और उन्नत धरातल पर जल्दी नहीं पहुँचा तो नौजवान मज़दूर इसे "बेहतर स्थिति" के लिए सिर्फ़ एक आर्थिक संघर्ष के रूप में ही देखेंगे। समाजवाद-विरोधी सुधारों के दौर की, और देङ सियाओ-पिङ की सूक्तियों -- जैसे कि "अमीर होना शानदार चीज़ होती है"-- की यही विरासत है। यह नौजवान मज़दूरों की सोच को बर्बाद कर रही है। "उनमें से बहुतेरे तो इस तरह मिलने और चर्चा करने से भी डरते हैं" -- हमने पुराने मज़दूरों को कई बार ऐसी भावनाएँ व्यक्त करते सुना।

यह भी एक वजह है कि जो लोग समाजवाद के लिए संघर्ष के प्रति आज भी समर्पित हैं वे क्रान्ति की विरासत को जीवित रखने और उसे नयी पीढ़ियों को सौंपने के लिए अपनी जानकारी और अनुभव को लोगों तक ले जाने के दूसरे तरीके ईजाद कर रहे हैं, जिसमें सिर्फ़ राजनीतिक और आर्थिक ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक रूपों का भी वे इस्तेमाल कर रहे हैं। झेङझाऊ में मज़दूर इलाके के बीच स्थित जिस पार्क को हम देखने गये थे, वहीं एक कोने में मज़दूर और उनके परिवार पुराने क्रान्तिकारी गीत गाने के लिए हर रात इकट्ठा होते हैं। काम वाले दिन की जिस एक शाम हम वहाँ मौजूद थे, सैकड़ों या उससे भी अधिक की संख्या में -- पुराने अवकाशप्राप्त लोगों से लेकर किशोरों और छोटे बच्चों तक ने अत्यन्त जोशीले ढंग से गाये जाने वाले गीतों में हिस्सा लिया, जिसमें संगीतकारों की एक टोली साथ दे रही थी और एक ऊर्जावान निर्देशक जिसका संचालन कर रहा था। हमें बताया गया कि सप्ताहान्त की छुट्टियों वाले दिन अक्सर इससे "कई गुना अधिक", लगभग हज़ार तक की संख्या में, लोग वहाँ मौजूद रहते हैं। जो मज़दूर हमें पार्क में ले गये थे उनमें से एक ने अपनी बात कुछ यूँ रखी, "इस प्रकार गीत गाने का राजनीतिक आशय कम्युनिस्ट पार्टी के ख़िलाफ़ -- जहाँ आज वह पहुँच चुकी है-- अपना विरोध जताना है और इसका मुकाबला करने व चेतना के धरातल को उन्नत करने के लिए माओ के विचारों का इस्तेमाल करना है।"

यही ऐतिहासिक भावना शहर में व्यावहारिक धरातल के संघर्षों में भी पैठी हुई है। 2000 में जब पेपर मिल की हड़ताल शुरू हुई -- जो अभी भी इस इलाके में निजीकरण के खिलाफ प्रतिरोध का "मॉडल" बनी हुई है, तो एक कार्यकर्ता के अनुसार प्रबन्धकों को निकाल बाहर करने के लिए, कारख़ाने पर कब्ज़ा जमाने व कल-पुर्ज़ों को हटाने से रोकने में और मज़दूर नियन्त्रण को स्थापित करने में मज़दूरों ने "सांस्कृतिक क्रान्ति" के तरीकों का इस्तेमाल किया। तमाम मोड़ों और घुमावों के बाद, प्लाण्ट का एक हिस्सा अभी भी मज़दूरों के हाथ में बना हुआ है परन्तु न केवल बाज़ार-अर्थव्यवस्था में, बल्कि आर्थिक रूप से कमज़ोर बनाये जाने के सरकारी प्रयासों के आगे टिके रहने के लिए यह जूझ रहा है। जैसा कि उनके नेता ने बताया, जेल में डाले जाने के बाद, उन्होंने संघर्ष के इस विशिष्ट रूप को अपनाया "क्योंकि पेरिस कम्यून के सिद्धान्त हमेशा अमर रहेंगे।" बिल्कुल वैसा ही वामपंथी ऐतिहासिक परिदृश्य विद्युत उपकरण बनाने वाले प्लाण्ट के संघर्ष में भी दिखायी पड़ा जिसमें उनका एक नारा था, "मज़दूर उत्पादन करना और जीना चाहते हैं", परन्तु इसके साथ ही उन्होंने एक और बैनर टाँग रखा था जिस पर यह अंकित था : "माओ त्से-तुङ विचारधारा को हमेशा थामे रहो।" मज़दूरों द्वारा संगठित की गयी दूसरी कार्रवाइयाँ और भी खुला राजनीतिक तेवर अख़्तियार करती हैं।

जिस साल पेपर मिल पर कब्ज़ा हुआ था उसी साल माओ की पुण्यतिथि मनाने के लिए एक समारोह का आयोजन किया गया। 2001 में हुई इस सभा में दसियों हज़ार मज़दूर एकत्र हुए -- जिसे दस हज़ार पुलिसवालों ने चारों तरफ से घेर रखा था, और फिर एक बड़ी हड़ताल और टकराव हुआ। आज, माओ की जन्मतिथि या पुण्यतिथि के अवसर पर मज़दूरों के छोटे चौक जाने पर प्रतिबन्ध है, जहाँ शहर में माओ की अन्तिम प्रतिमा अभी भी लगी हुई है; फिर भी वे वहाँ जाते हैं और पुलिस के साथ उनका टकराव होता है। वहीं, 9 सितम्बर 2004 को एक मज़दूर कार्यकर्ता झाङ झेङ्याओ ने एक पर्चा बाँटा जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी पर मेहनतकश वर्गों के हितों से मुँह मोड़ लेने और व्यापक भ्रष्टाचार में हिस्सेदारी करने का आरोप लगाया गया था। साथ ही उसके पर्चे में चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना की भर्त्सना की गयी थी और माओ द्वारा अपनाये गये "समाजवादी रास्ते" की ओर लौटने का आह्वान किया गया था। वह और उस पर्चे का सह लेखक झाङ रुक्वान दोनों ही गिरफ्तार कर लिये गये; पुलिस ने उनके घर पर छापा मारकर उन्हें गिरफ्तार किया था। उनका मामला जल्दी ही चीन में एक ज्वलन्त मुद्दा बन गया। जिस जगह बन्द कमरे में दोनों पर मुकदमा चलाया जा रहा था वहाँ विरोध प्रदर्शित करने के लिए पूरे देश से बहुत से वामपंथी दिसम्बर 2004 में झेङ्झाऊ पहुँचे जब उन दोनों को तीन साल की कैद की सजा सुनायी गयी। गे लियिङ और वाङ झानकिङ जिन्होंने पर्चे के लेखन और छपाई में मदद दी थी और जिन्हें भी पुलिस द्वारा प्रताड़ित किया गया था, के साथ ये चारों मज़दूर कार्यकर्ता "झेङ्झाऊ 4" के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं।

उनकी रिहाई की माँग करने के लिए राष्ट्रपति हू जिनताओ और प्रधानमन्त्री वेन जियाओ को सम्बोधित एक याचिका पर, जिसकी शुरुआत संयुक्त राज्य अमेरिका में हुई थी, दो सौ से अधिक लोगों ने हस्ताक्षर किये जिसमें चीन के अन्दर और बाहर के हस्ताक्षरों में से प्रत्येक की संख्या लगभग आधी-आधी थी। यह वामपंथी मज़दूरों के लिए समर्थन का एक अभूतपूर्व प्रदर्शन था, ख़ासकर हस्ताक्षर करने वालों को ख़तरे की आशंका को देखते हुए। इसने चीन के बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं को अपने अन्तरराष्ट्रीय साथियों के साथ एकताबद्ध करने का काम किया था। हालाँकि सरकार ने इस याचिका पर सीधे कोई कार्रवाई नहीं की पर झाङ रुक्वान को, प्रकटतः स्वास्थ्यगत कारणों से, जेल से छोड़ दिया गया। कुछ कार्यकर्ताओं का मानना है कि याचिका और एकजुटता प्रदर्शन की अन्य सम्बन्धित कार्रवाइयों -- जैसे कि उनके मामले से सम्बन्धित विस्तृत सूचनाओं और विश्लेषण को वामपंथी वेबसाइटों पर देने -- के कारण कम से कम कुछ हद तक बने दबाव के चलते ऐसा हो सका।

"झेङ्झाऊ 4" राज्य और पार्टी द्वारा थोपी गयी नयी स्थितियों को निष्क्रिय ढंग से स्वीकार कर लेने के ख़िलाफ़ मज़दूरों के इनकार के प्रतीक हैं। वे वामपंथी विचारधारा की दृढ़ता तथा मज़दूर कतारों के बीच कार्यकर्ताओं की सक्रियता और उस बढ़ते समर्थन के भी द्योतक हैं जो मज़दूरों को पूरे समाज, यहाँ तक कि विदेशों से भी मिल रहा है। परन्तु इस मामले ने चीन की वामधारा में विभाजनों के साथ-साथ नयी ऊर्जा के संचार को भी प्रकट किया। वे मुख्यतः अपेक्षाकृत कमउम्र नौजवान वामपंथी थे जिन्होंने "झेङ्झाऊ 4" की याचिका पर हस्ताक्षर करने में पहलकदमी दिखायी, व्यापक स्तर पर प्रचार करने के लिए इण्टरनेट का इस्तेमाल किया, साथ ही उन्होंने अपने से उम्रदराज़ लोगों और मार्गदर्शकों में से उन लोगों की आलोचना की जो, कम से कम शुरू में, आगे नहीं आये। नयी पीढ़ी के लिए बिल्कुल सही सटीक लाइन की चिन्ता करने के मुकाबले उन मज़दूरों के साथ एकता क़ायम करना ज़्यादा ज़रूरी बन गया था जो सार्वजनिक तौर पर वामपक्ष के साथ खड़े थे। विचारधारा और नीति पर अतीत के विभाजन और संघर्ष साझा कार्रवाई के लिए एकता स्थापित करने में पुराने वामपंथियों की राह में प्रायः बाधा बन जाते हैं। उनके लिए वर्तमान की नयी स्थितियों का मुकाबला करने की ख़ातिर ऐतिहासिक टकरावों को परे करना ज़्यादा कठिन है।

इन अलग-अलग रवैयों के हिसाब से चीनी वामपंथियों को तीन प्रमुख समूहों में बाँटा गया है, यह बँटवारा व्यापक तौर पर मान्य है : (1) "पुराने" वामपंथी जिनमें ज़्यादातर वे लोग हैं जो कतारों के बीच से पार्टी और राज्य में ऊपर उठे और जो कई मामलों में देङ सियाओ-पिङ सुधारों के कम से कम कुछ अंशों को शुरुआती दौर में स्वीकार करने के बाद उस समय विरोधी पाले में आ गये, जब उन नीतियों की पूँजीवादी प्रकृति अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी; (2) "माओवादी", जो माओ के नेतृत्व में चीनी समाजवाद के क्रान्तिकारी दौर के कार्यक्रमों को अपना समर्थन देने में अडिग रहे हैं और जिनका जनाधार मुख्यतः मज़दूरों और किसानों के बीच है; तथा, (3) "नये" वामपंथी जिनमें पश्चिम के नये वामपंथियों की तरह ऐसी नौजवान पीढ़ी के लोग हैं जो मुख्यतः विश्वविद्यालयों और नये "एनजीओ" में केन्द्रित हैं और जिनमें हालाँकि विभिन्न प्रकार के मार्क्सवादियों का एक व्यापक दायरा और साथ ही साथ मोटे तौर पर समाजवादी और सामाजिक जनवादी रुख रखने वाले लोग शामिल हैं, फिर भी "पुराने" वामपंथी समूह की तुलना में वे अकसर माओ के अनुगामियों के साथ ज़्यादा जुड़ना चाहते हैं। बहरहाल, इन तीनों समूहों के बीच की रेखाएँ न तो अपरिवर्तनीय हैं और न ही परस्पर अविभाज्य। इन तीनों समूहों के बीच कोई सख्त किस्म का बँटवारा नहीं है और न ही एक दूसरे के साथ इनका बिल्कुल अलगाव रहता है। "पुराने" किस्म के वामपंथी पूरे समाज में, सरकार के भीतर और बाहर दोनों ही जगहों पर पाये जा सकते हैं जबकि बहुतेरे "माओवादी" और कुछ "नये" वामपंथी भी पार्टी और राज्य में काम करते हैं। पश्चिम में वामपंथियों का, ख़ासकर "नये" वामपंथियों के सन्दर्भ में, इसी प्रकार का कोई समान्तर वर्गीकरण नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि उनमें से प्रत्येक के पास अपनी खुद की वे विशिष्ट चीनी अभिलाक्षणिकताएँ मौजूद हैं जो वहाँ चले संघर्ष के इतिहास को व्यक्त करती हैं। 2001 में, एक तटीय कस्बे बेइदाइहे में, जहाँ शीर्ष नेतृत्व के लोग हर गर्मियों में रणनीतिक योजनाएँ बनाने के लिए एकत्र होते हैं, चार भिन्न राजनीतिक रुझानों के लोगों की एक अत्यन्त असामान्य बैठक आयोजित की गयी। इसका आयोजन झेङ्झाऊ के एक ऐसे पूर्व रेड गार्ड नेता ने किया था जो सुधारों की शुरुआत के बाद कई वर्षों तक जेल में रहा और जो अभी भी एक एक्टिविस्ट है। इस बैठक में जहाँ सुधार की सभी नीतियों का विरोध करने या न करने के मसले पर उनके बीच मतभेद बने रहे वहीं देङ सियाओ-पिङ ने जिस हद तक पुनर्पूंजीवादीकरण की शुरुआत की थी, उसके लिए देङ की आलोचना पर वे सहमत थे।

अभी हाल में, कई प्रसिद्ध संस्थानों, विश्वविद्यालयों और एजेंसियों के अत्यन्त उच्चपदस्थ सदस्यों के एक मंच ने वर्तमान परिस्थितियों के मार्क्सवादी विश्लेषण के विकास के लिए बैठक आयोजित की जिसमें सत्र की शुरुआत पेइचिङ विश्वविद्यालय के अध्यक्ष ने की। उम्मीद थी, कि इसे एक निरन्तर होने वाली जुटान में तब्दील किया जा सकेगा। पार्टी के एक पुराने सदस्य ने, जो बैठक के इस आयोजन के पीछे था, यह बताया कि कम से कम किसी उच्चस्तरीय समर्थन के बिना इस बैठक को आयोजित नहीं किया जा सकता था। झेङ्झाऊ में वामपंथियों और "उदारपंथियों" --

इस शब्दावली का इस्तेमाल आज चीन में अकसर उन लोगों के लिए होता है जो पश्चिम में इस श्रेणी के लोगों के मुकाबले ज़्यादा रेडिकल होते हैं -- की अगुवाई में गठित एक ऐसा ही मंच पिछले एक दशक से बैठकें आयोजित करता है। यह मंच अलग-अलग दृष्टिकोण वाले लोगों को एक साथ लाने का काम कर रहा है। उनके बीच साझेदारी का आधार यह प्रबल अहसास है कि चीनी समाज और प्रशासकीय नीतियों की वर्तमान दिशा दीर्घजीवी नहीं है। फलतः अपनी अलग-अलग पृष्ठभूमि और पहुँच के बावजूद पार्टी और राज्य निकायों व संस्थाओं के भीतर और बाहर दोनों ही जगहों पर मौजूद बहुतेरे ऐसे लोग हैं जो मोटा-मोटी वामधारा की इन्हीं तीन श्रेणियों में आते हैं -- "पुराने", "माओवादी", और "नये"। सिर्फ़ उनके विचार ही नहीं बल्कि उनके विभिन्न मंच और बैठकें भी एक दूसरे को प्रभावित करती हैं और एक दूसरे में शामिल और अन्तरव्याप्त हैं, यहाँ तक कि वे उन्हें भी अपनी तरफ खींचते हैं जो उनकी विचारधारा के साथ सहमत नहीं होते। नये ग़ैरसरकारी संगठनों में वामपंथी विचारधारा की मज़बूत बुनियाद वाले कुछ ऐसे लोग हैं, जो निर्धन गाँवों के लिए स्कूल मुहैया कराने जैसे व्यावहारिक मसलों पर काम करते हैं और मुख्यधारा की संस्थाओं के मुकाबले अधिक मज़दूर-किसान संचालित समाज को बढ़ावा देते हैं। वामपंथ की यह वापसी मेहनतकश वर्गों के भीतर जनसंघर्ष की उस बढ़ती ताक़त को व्यक्त करती है, जिसने चीन में सामाजिक संकट की अब और अधिक अनदेखी करने को असम्भव बना दिया है और यह ख़तरा भी पैदा कर दिया है कि वर्तमान नीतियों में आमूलचूल बदलाव नहीं हुआ तो यह संकट और गहरायेगा। इसने माओ युग के क्रान्तिकारी समाजवाद की पुनर्स्थापना की सम्भावना को, भले ही आज यह कितनी भी दूर नज़र आये, फिर से खुला कर दिया है।

वामधारा में इस नयी शुरुआत का एक ज्वलन्त उदाहरण है अक्टूबर 2004 में "चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के पुराने सदस्यों, काडर, सेना के लोगों और बुद्धिजीवियों" के एक समूह द्वारा हू जिनताओ को सम्बोधित वह पत्र जिसका शीर्षक है "वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य पर हमारे विचार और दृष्टिकोण।" झेङझाऊ के पर्चे के मुकाबले हालाँकि इसका लहजा ज़्यादा सम्मानजनक था और और "सुधारों" को उनके आर्थिक लाभों के लिए कुछ सकारात्मक श्रेय दिया गया था, पर यह अपनी विषयवस्तु में पर्चे के कथन के ज़्यादा करीब था और सही कदम उठाने, "पूँजीवादी रास्ते" से दूर जाने और समाजवादी रास्ते पर वापसी का इसका आह्वान वर्तमान स्थिति की अपनी आलोचना में उतना ही जुझारू तेवर लिये हुए था। इन दोनों दस्तावेज़ों के बीच कोई सीधा सम्बन्ध है या नहीं इसका खुलासा नहीं हो सका है। परन्तु चीन में वामधारा के लोग "झेङझाऊ 4" के समर्थन में लगातार हस्ताक्षर अभियान चला रहे हैं और जिस उत्साह के साथ "नये" वामपंथियों के कुछ हिस्से उनके उद्देश्य और इन "माओवादी" कार्यकर्ताओं के बचाव से जुड़े हैं, उससे "पुराने" वामपंथियों को लम्बे समय से क़ायम अपनी आलोचनाओं पर नये सिरे से ज़ोर देने के लिए ज़्यादा स्पेस मिल रहा है -- जैसा कि हू को सम्बोधित पत्र में लिखा गया है। पूर्व के क्रान्तिकारी संघर्षों के अनुभवी क्रान्तिकारियों का पार्टी और राज्य की वर्तमान नीतियों के ख़िलाफ़ इस तरह खुलकर सामने आना अपेक्षाकृत एक नये माहौल के उभरने का पैमाना है। 1999 में ही पुराने वामपंथियों के साथ हुई हमारी चर्चा ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सुधारों के मौजूदा माहौल में वे अपने आप को कितना बँधा हुआ महसूस करते थे। यह बिल्कुल साफ है कि इन पुराने नेताओं और उन्हीं जैसी स्थिति वाले लोगों में से बहुतेरे अपनी राय को आज ज़्यादा खुले रूप से रखने की "आज़ादी" महसूस करते हैं। अतः सिर्फ़ सिद्धान्त में ही नहीं बल्कि व्यवहार में भी अतीत वर्तमान को अनुप्राणित कर रहा है और वामपंथी धारा के एक हिस्से की कार्रवाइयाँ दूसरों को प्रभावित कर रही हैं।

कुछ मामलों में माओ के दौर के संगठन के समाजवादी रूपों को, जो संख्या में कम पर अपने प्रभाव में कभी-कभी बहुत व्यापक होते हैं, आज भी लागू किया जा रहा है, भले ही बाज़ार अर्थव्यवस्था की नयी स्थितियों का सामना करने के लिए इनका रूप अनिवार्यतः बदल गया हो। आज भी गाँवों के लगभग एक फीसदी हिस्से ने, जिनकी संख्या कुल मिलाकर हज़ारों में है--यह संख्या इस आधार पर बदलती रहती है कि इसे मापने वाले लोग कौन हैं और मापने का आधार क्या है--कम्यूनों के जमाने के सामूहिकीकरण को पूरी तरह नहीं छोड़ा है। ऐसे लोग जिन्होंने देङ के सुधारों को लागू भी किया था अब फिर से सामूहिक उत्पादन की दिशा में मुड़ गये हैं और उन दूसरों के सामने एक माडल प्रस्तुत कर रहे हैं जो ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विकल्पों की तलाश में लगे हुए हैं। समाजवादी दौर के लक्ष्यों और तरीकों को बचाये रखने का सबसे ज्वलन्त उदाहरण हेनान प्रान्त में झेङझाऊ से एक घण्टे की दूरी पर स्थित वह माओवादी कस्बा, नानजिएकुन (साउथ स्ट्रीट विलेज) है जिसने 15-20 साल पहले सामूहिकीकरण की फिर से शुरुआत की थी, और आज अपने सदस्यों के लिए कम्यून के रूप में काम कर रहा है जहाँ मकान, स्वास्थ्यसेवा और शिक्षा निःशुल्क उपलब्ध है, यहाँ तक कि अपने नौजवानों के कालेज का खर्च भी यह देता है। इसके साथ ही समाजवादी दौर के समतावादी तौर-तरीकों को भी इसने स्थापित किया है जैसे कि अपने प्रशासकों को यह कुशल मज़दूर के वेतन से ज़्यादा नहीं देता। यह माओ के राजनीतिक लक्ष्यों के प्रति भी समर्पित है। अन्य महान क्रान्तिकारी नेताओं मार्क्स-एंगेल्स- लेनिन-स्तालिन की तस्वीरों के साथ माओ के उद्धरण और तस्वीरें पूरे गाँव में प्रमुखता के साथ लगायी गयी हैं। यहाँ बहुमंज़िला आवासीय इमारतें, जिसमें हर सदस्य परिवार को रोशनी से भरपूर और हवादार अपार्टमेण्ट मुहैय्या कराये गये हैं, बेदाग चमचमाते छायादार मार्गों, सैरगाहों और बागों से घिरी हुई हैं। गाँव में एक आकर्षक स्कूल और शिशु-देखभाल केन्द्र है। शहरी समृद्ध लोगों के नये अहातों के बाहर, इस तरह का परिवेश चीन में अनूठा है और अपने फाटक और चारदीवारी के ठीक बाहर पाये जाने वाले ज़्यादा ठेठ ग्रामीण परिवेश से एकदम अलग है।

परन्तु ऐसी सफलताओं के बाद भी नानजिएकुन के तौर-तरीकों में कई अन्तरविरोध मौजूद हैं, जैसे कि अपनी अधिकतर वित्तीय आवश्यकताओं को यह विदेशी निवेश से पूरा करता है और अपनी "बस्ती के उद्यमों" के लिए, जो नयी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के साथ पूरी तरह नत्थी हैं, मुख्य श्रमशक्ति के रूप में यह आस-पास के इलाके के किसानों का इस्तेमाल करता है जिन्हें अच्छे लेकिन यक़ीनन कम आरामदेह कमरों में बसाया जाता है। झेङझाऊ के कार्यकर्ताओं के अनुसार, जिनमें से दो हमें वह गाँव दिखाने ले गये थे, हाल ही में इसे गम्भीर वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जो काफ़ी हद तक उत्पादन के नये और अपरिचित क्षेत्रों में अति विस्तार के कारण हुई थीं। परन्तु इन सीमाओं के बावजूद -- जो एक ऐसी परिस्थिति में अपरिहार्य हैं जहाँ यह इलाका चारों ओर पूँजीवाद के सागर से घिरा हुआ हो और जीवित रहने के लिए बाज़ार अर्थव्यवस्था के साथ प्रतिस्पर्धा करना जिसके लिए ज़रूरी हो जाता हो -- यह उन लोगों के लिए एक केन्द्रीय बिन्दु का काम करता है जिन्हें अभी भी इस बात पर भरोसा है कि चीन के ग्रामीण इलाकों के लिए एक दूसरा रास्ता सम्भव है। यहाँ प्रतिदिन पूरे देश से प्रतिनिधिमण्डल -- कभी-कभी तो किसानों और मज़दूरों के प्रतिनिधियों से भरी बसें भी -- यह अध्ययन करने के लिए पहुँचते हैं कि किस प्रकार

इसने सामूहिक उत्पादन और वितरण दोनों को जारी रखा है। इसे हेनान प्रान्त के अधिकारियों का वरदहस्त और संरक्षण भी प्राप्त है। पार्टी के वामपंथी अनुभवी कार्यकर्ताओं की ओर से हू जिनताओ को सम्बोधित 2004 के खुले पत्र में नानजिएकुन को एक ऐसे माडल के रूप में रेखांकित किया गया है जिसकी ग्रामीण इलाकों में आज ज़रूरत है। परन्तु माओ युग की विरासत जहाँ इतनी प्रत्यक्ष नहीं है वहाँ भी इसकी अवधारणाएँ और अनुभव उस पृष्ठभूमि का काम करते हैं जिसके बरक्स वर्तमान परिस्थितियों की लगातार तुलना और विश्लेषण किया जा रहा है।

भूमण्डलीय बाज़ार की चुनौती का सामना करने के लिए पारिवारिक दायित्व वाले खेतों की असुरक्षा और अलगाव की स्थिति को सुधारने की कोशिश में, कृषि की सहकारी संस्थाओं के गठन की दिशा में एक नया आन्दोलन हुआ। 2004 की गर्मियों में दिखायी पड़ने वाला यह एक बड़ा बदलाव था। इन सहकारी संस्थाओं का लक्ष्य मुख्यतः मण्डी में कुछ हद तक किफ़ायतशारी हासिल करना जैसे कि खाद की सामूहिक ख़रीददारी करना और अपनी फसल के दामों की सौदेबाज़ी में ज़्यादा लाभ कमाना है और साथ ही अपने सदस्यों को आर्थिक सहायता और सुरक्षा प्रदान करना भी है। सुधारों के समय की व्यक्तिपरक 'डूब जाओ या तैरो' की नीतियों से परे हटकर ऐसे प्रयास करना एक महत्वपूर्ण कदम है भले ही वे उस स्थिति के उन सभी आवश्यक पहलुओं को सुलझाने की शुरुआत न कर पाये हों जिसका सामना पूरे किसान समुदाय को करना पड़ता है। हालाँकि यह कम्यूनों की दिशा में वापसी नहीं है और ये प्रयास अधिक से अधिक एक प्रकार के अर्द्ध-पुनर्सामूहिकीकरण को व्यक्त करते हैं, पर वे न केवल क्रान्तिपूर्व के सहकारिता-आन्दोलन के उन अनुभवों से, बल्कि माओ युग की उन आवधारणाओं से भी सीख रहे हैं, जिससे उनके सदस्य बहुधा अच्छी तरह वाकिफ हैं। अतः इस किस्म के लोगों से मुलाकात असामान्य नहीं है जैसे कि पूर्वोत्तर चीन के जिलिन प्रान्त में सिपिङ के निकट हम जिस सहकारी संस्था में गये थे उसका वह मुखिया, जिसने शहरी और ग्रामीण वर्गों का तुलनात्मक विश्लेषण और आज की उनकी स्थिति का एक बहुत ही विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया था या फिर वह नौजवान सदस्य जिसने देश की स्थिति के बारे में, न केवल अन्दरूनी बल्कि शेष दुनिया के साथ उसके रिश्तों के मद्देनज़र भी, एक गहन और लम्बी चर्चा समाजवादी नज़रिये से की। चीन के मेहनतकश वर्गों के पास श्रम और शोषण की वास्तविक दुनिया के बारे में ऐसी तमाम बातें होती हैं जिसे वे बुद्धिजीवियों को सिखा सकते हैं और इसलिए, समाजवाद को व्यावहारिक धरातल पर लागू करने में वे ज़्यादा अनुभवी भी होते हैं और कई मामलों में तो वे मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा की बुनियादी बातों को समझने और लागू करने के मामले में कुछ नौजवान, अधिक शिक्षित वामपंथियों से कहीं ज़्यादा विकसित होते हैं।

इसी के साथ समाज का तीव्र ध्रुवीकरण नये मध्यवर्ग के बहुतेरे लोगों को उनके विशिष्ट पद या पेशे का ख़्याल रखे बिना, ऐसी परिस्थितियों में धकेल रहा है, जो उन परिस्थितियों के काफ़ी करीब हैं जिन्हें मज़दूरों और किसानों को झेलना पड़ता है। इसके चलते उनके बीच मज़बूत एकता का आधार तैयार हो रहा है और वामधारा की पुनर्स्थापना के लिए जनाधार बनाने में मदद मिल रही है। पूँजीवादी व्यवस्था खुद अपनों को लीलती जा रही है और बहुत तेज़ी से ऐसे लोगों के लगातार बढ़ते समूहों को जन्म दे रही है, जो इससे अलग-थलग पड़ गये हैं। राज्य-स्वामित्व वाले उद्यमों को निजी निवेशकों के हाथों बिक्री के लिए कम्युनिस्ट पार्टी के जिन बहुत से कैडरों ने मदद दी थी उन्हें भी काम पूरा हो जाने के बाद वहाँ से खदेड़ बाहर किया गया। नये पूँजीवादी मालिकों द्वारा उन्हें काम पर नहीं रखा जाता है, यह एक ऐसी स्थिति है जिसका वर्णन एक मज़दूर ने इस प्रकार किया, "जिस डाल पर बैठे थे उसे ही काट डाला।" इसका नतीजा यह निकला कि उनमें से आज कई बेरोज़गार हैं और इस बात को और बेहतर ढंग से समझ गये हैं कि "बाज़ारीकरण" वस्तुतः है क्या -- "इसने उनकी चेतना को उन्नत बनाया है।"

खुद अपने जीवन के हालात में बदलाव के चलते इस प्रकार की नयी समझदारी एक आम बात हो गयी है। ऐसे कई किस्से हमने उन लोगों से सुने -- जैसे कि एक प्रगतिशील अकादमीशियन जिनसे हमने पेइचिङ में बातचीत की थी -- जिन्होंने शुरुआती दौर में तो देङपंथी सुधारों को अपनाया था लेकिन अब मुड़कर माओ की दिशा में जा रहे हैं और खुद सांस्कृतिक क्रान्ति को भी फिर से देख-परख रहे हैं। कुछ मामलों में यह उनके "जनता से सीखने" का सीधा नतीजा था। ऐसा ही एक मामला आज एक उन्नत पर पहले ख़ासे रूढ़िवादी रहे ग्रामीण इलाके के छात्र का है जिसका "रूपान्तरण" इसलिए हो सका क्योंकि जब वह किसानों से मिलने गया तो वहाँ उसने माओ की आलोचना का एक भी शब्द नहीं सुना जबकि देङ की ढेरों आलोचनाएँ सुनायी दीं; इस चीज़ ने उसे बाध्य किया कि अतीत के प्रति अपने नज़रिये की वह फिर से पड़ताल करे। परन्तु इस प्रकार के पुनर्मूल्यांकन की जड़ें महज़ कुछ व्यक्तिगत किस्म के अनुभवों के मुकाबले ज़्यादा गहरे तक धँसी होती हैं। कइयों का, जिसमें श्रेष्ठ बुद्धिजीवियों के बीच के लोग भी शामिल हैं, यह विचार है कि चीन की विशिष्ट अभिलाक्षणिकताओं वाले बाज़ारीकरण और निजीकरण के पक्ष में पार्टी और राज्य के प्रचारकों द्वारा प्रस्तुत तर्कों से लेकर अकादमिक और एनजीओ के दायरे में मुख्यतः पाये जाने वाले पश्चिमी उदारवादी अवधारणाओं तक की विभिन्न विचारधारात्मक रुझानें, जो सुधारों के शुरू होने के समय से ही फल-फूल रही हैं, आज चीन में जो घटित हो रहा है उसे समझाने में अक्षम सिद्ध हो रही हैं।

एक पूर्व रेड गार्ड और एक नौजवान बुद्धिजीवी दोनों का ही अलग-अलग बातचीत के दौरान यह कहना था कि "हर चीज़ को जाँचने-परखने" के बाद, उन्हें "वर्तमान का सामना करने के लिए दो लाइनों के संघर्ष और सांस्कृतिक क्रान्ति की ओर वापस लौटना पड़ा" क्योंकि अन्य सभी प्रकार के नज़रियों का इस्तेमाल करके वे देख चुके थे, उन्हें किसी से कोई स्पष्टीकरण नहीं मिला। वे ऐसे लोग थे, जिन्होंने शुरू में तो सुधार-नीतियों का पक्ष लिया था लेकिन आज जो कुछ हो रहा था उसे समझने के लिए कोई राह तलाश रहे थे।

अभी कुछ ही वर्ष पहले, जिन समस्याओं का सामना चीनी समाज को करना पड़ रहा था उन्हें विशिष्ट माना जाता था और इसलिए अपेक्षाकृत अधिक आसानी से "सुलटा देने" लायक समझा जाता था; जैसे कि किसी "भ्रष्टाचार विरोधी" मुहिम के ज़रिये, परन्तु आज यह भावना बलवती होती जा रही है कि ये समस्याएँ सैद्धान्तिक और पेचीदा किस्म की हैं जो अधिक बुनियादी रूपान्तरण की माँग करती हैं जिसे पूरा करने की क्षमता पूँजीवाद और भूमण्डलीय बाज़ार के पास नहीं है तथा राज्य और पार्टी भी, जिस रूप में आज वे संघटित है, इन्हें सुलझाने में सक्षम नहीं हो पायेंगी। फलतः पूँजीवादी रास्ते की जो आलोचना माओ ने सर्वहारा क्रान्ति के दौरान रखी थी आज फिर एक बार प्रासंगिक बनती दिखायी दे रही है, क्योंकि ये विचार, जो उनके जीवन के अन्तिम वर्षों में सामने आये थे, वर्तमान व्यवस्था का एक ऐसा सम्पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं जो व्यवस्था के बढ़ते अन्तरविरोधों की जड़ों तक पहुँचता है, और महज़

सुधार के प्रयासों की जगह एक अधिक गम्भीर समाधान की दिशा में संकेत कर रहा है। इसकी वजह से बुद्धिजीवियों में पहले के बहुत से पूर्वाग्रह टूटने शुरू हो गये हैं।

यहाँ तक कि सांस्कृतिक क्रान्ति भी, जो बहुतेरे विद्वानों और विशिष्ट जनों के लिए आज भी बड़े पैमाने पर वर्जित बनी हुई है और जिसके बारे में हमें यह बताया गया था कि इसके प्रति किसी भी सकारात्मक रुख का संकेत समकक्षों के बीच अलगाव पैदा करता है और एक सफल जीवन को बर्बाद कर देता है, एक बार फिर बहस-मुबाहसे और नये सिरे से जाँच-पड़ताल का विषय बन रही है। यह बात नौजवान वामपंथियों पर विशेष रूप से लागू हो रही है, जो खुद अपना ऐतिहासिक शोध कर रहे हैं, अरसे से उपेक्षित सामग्रियाँ ढूँढ़कर निकाल रहे हैं, उस दौरान सक्रिय लोगों के साथ साक्षात्कार कर रहे हैं, अपने नतीजों को वेबसाइट के ज़रिये लोगों तक पहुँचा रहे हैं और उस दौर की घटनाओं पर आधिकारिक पार्टी लाइन को कई अन्य तरीकों से चुनौती दे रहे हैं।

वामपंथ के फिर से बढ़ते प्रचलन और मज़दूर वर्ग के संघर्षों के साथ बढ़ती इसकी नज़दीकी के कई दूसरे अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत दिखायी पड़ते हैं। 1999 में हम लोग छात्रों के साथ पेइचिङ के किङहुआ विश्वविद्यालय, जिसे अकसर चीन का एमआईटी कहा जाता है, गये जहाँ उन्हें एक छोटे से मार्क्सवादी अध्ययन मण्डल में भाग लेना था। यह उन अध्ययन मंडलों में से एक था जो हाल ही में, ख़ासकर अधिक श्रेष्ठ किस्म के विश्वविद्यालयों में उभर आये थे। मैंने उस समय यह टिप्पणी की थी कि प्रभावी होने के लिए उन्हें अपने कैम्पस से बाहर निकलने और मेहनतकश वर्गों से जुड़ने के लिए कोई रास्ता निकालना पड़ेगा, यह एक ऐसी चीज़ थी जिसे करने में 1989 का तिएनआनमेन छात्र आन्दोलन शुरू में असफल रहा। उस संघर्ष में हालाँकि पेइचिङ के बहुत से मज़दूर, कम से कम बाद में ही सही शामिल हुए थे, और बदले में आन्दोलन को कुचल डालने वाली बर्बर हिंसा और दमन की आग को झेला था, परन्तु छात्रों और मेहनतकश वर्गों के बीच की दूरी को बुनियादी तौर पर पाटा नहीं जा सका।

उदाहरण के लिए, उत्तर-पूर्व के चाङचुन में, जहाँ उसी आन्दोलन के अपेक्षाकृत एक छोटे संस्करण की शुरुआत हुई थी, विशालकाय फर्स्ट आटो प्लाण्ट के मज़दूरों ने उन छात्रों का साथ देने से इन्कार कर दिया जो अपने विश्वविद्यालयों से बाहर निकल आये थे -- यह एक बहुत ही कटु अनुभव था जिसके चलते छात्रों को भीषण दमन का सामना करना पड़ा और जिसने उन्हें मेहनतकश वर्गों के साथ अपने खुद के अलगाव का पुनर्मूल्यांकन करने की दिशा में प्रेरित किया। अन्त में, जैसा कि अक्सर चीन के इतिहास में होता रहा है, तिएनआनमेन आन्दोलन को कुचलने के लिए पास के प्रान्तों से बहुतायत में किसान सेना उस समय लायी गयी जब पेइचिङ के निकट तैनात सैन्य टुकड़ियाँ ऐसा करने को तैयार नहीं हुईं। उस समय का यह सबक नौजवान छात्र वामपंथियों की वर्तमान पीढ़ी भूली नहीं थी और 2004 की गर्मियों तक होने वाला बदलाव इससे अधिक नाटकीय नहीं हो सकता था। आज छात्र कार्यकर्ता मेहनतकश वर्गों से सम्पर्क स्थापित करने, उनकी स्थितियों का अध्ययन करने, उन्हें क़ानूनी और भौतिक सहायता देने के लिए बड़ी संख्या में विश्वविद्यालय कैम्पसों को छोड़ रहे हैं तथा कारख़ानों तथा फार्मों में जो कुछ हो रहा है उसकी खबरें वापस अपने कैम्पसों में ला रहे हैं।

सांस्कृतिक क्रान्ति के समय के एक अनुभवी रेड गार्ड ने जो अभी भी झेङझाऊ में एक प्रमुख वामपंथी संगठनकर्ता है, यह बताया कि कैसे छात्र-मज़दूर के रिश्ते में एक भारी बदलाव आया है। पेइचिङ विश्वविद्यालय, जो देश का अग्रणी उच्च शिक्षा संस्थान है, के मार्क्सवादी अध्ययन मण्डल के छात्र वर्ष 2000 से झेङझाऊ के कारख़ानों में आते हैं। 2001 से लेकर आज तक किङहुआ विश्वविद्यालय के छात्रों का समूह हर साल वहाँ आता रहा है। 2004 में पेइचिङ के एक और बड़े विद्यालय कैम्पस से लगभग 80 छात्र झेङझाऊ आये। राष्ट्रीय स्तर के अधिकारी इन बढ़ते सम्पर्कों से भयभीत हैं और उन्हें हतोत्साहित करने का प्रयास कर रहे हैं। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान ऐसे छात्रों को मुफ़्त रेल यात्रा और अन्य प्रोत्साहन दिये जाते थे जो पूरे देश का भ्रमण करना चाहते थे। इसके विपरीत, सरकार आज इस प्रवाह पर रोक लगाने की कोशिश कर रही है, यहाँ तक कि छात्र प्रतिनिधि मण्डलों को टिकट देने से इनकार कर रही है अथवा झेङझाऊ में उतरने के अधिकार से उन्हें वंचित कर रही है -- इस सब के बावजूद वे आते हैं। वे कारख़ानों में जाते हैं और कुछ तो प्लाण्ट को बन्द होने से रोकने में मदद देने के मकसद से उस शहर में चले संघर्ष के शुरुआती दिनों में वहाँ रुके भी थे। झेङझाऊ में यह आन्दोलन शुरू होने के बाद उत्तर-पूर्व के साथ-साथ देश के अन्य भागों में फैल गया। यह गाँवों के उन इलाकों तक में पहुँच गया जहाँ छात्र इसी तरह की गतिविधियाँ संचालित करने के लिए जाते हैं। वे वहाँ सामग्रियाँ ले जाते हैं, सम्पर्क स्थापित करते हैं, क़ानूनी सहायता मुहैय्या कराते हैं, और आम तौर से उस अलगाव को तोड़ते हैं जिसे बहुत से किसान कार्यकर्ता महसूस कर रहे होते हैं। आज पेइचिङ विश्वविद्यालय और उच्च शिक्षा के ऐसे कई संस्थानों में "किसानों के बेटे" नामक संगठन -- हालाँकि इस नाम के बावजूद इसमें "बेटियाँ" भी हैं -- विशेषकर इसी मकसद से बना है। एक वामपंथी कार्यकर्ता ने, जिससे हम 1999 में मिल चुके थे और जो उस समय मज़दूर वर्ग की स्थितियों की प्रत्यक्ष जाँच-पड़ताल करने और दूसरों को इसके लिए प्रोत्साहित करने में वस्तुतः अकेले दिखायी पड़ता था, यह बताया कि वर्ष 2004 तक छात्रों में स्वतः प्रेरणा प्रबल रूप से दिखायी पड़ने लगी, उन्हें अब हमारे जैसे लोगों के नेतृत्व की कोई ज़रूरत नहीं रही। पहलकदमी लेने का काम अब वे ही कर रहे हैं।

विश्वविद्यालय के छात्र निकाय की स्थितियों और उसकी बनावट में बदलाव के चलते इस आन्दोलन को बढ़ाया और सुगम बनाया जा सका है। 1999 से कालेजों में नामांकन की संख्या तिगुनी हो जाने के साथ ही मज़दूर वर्ग के परिवारों से भारी संख्या में छात्र यहाँ आये हैं और उनमें से बहुतों को अपनी पढ़ाई का खर्चा उठाने में तथा पढ़ाई के बाद नौकरी पाने के लिए पहले से कहीं अधिक मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। इसका परिणाम यह निकला कि मज़दूरों और किसानों तथा बहुत से विश्वविद्यालय के छात्रों के बीच हमदर्दी और एकता का एक व्यापक सामाजिक आधार विकसित हुआ है। चीनी विश्वविद्यालय आज सुविधासम्पन्न लोगों का संरक्षित ठिकाना कम रह गया है और इसने सुधारों के प्रारम्भिक वर्षों के उस दौर की तुलना में ज़्यादा जनपक्षीय चरित्र हासिल कर लिया है जब देङ सियाओ-पिङ ने, सर्वहारा क्रान्ति की प्रतिक्रिया में "लाल" के मुक़ाबले "विशेषज्ञ" होने पर ज़्यादा ज़ोर दिया और श्रेष्ठता के पैमाने पर दाखिले की शर्तों को फिर से लागू किया था। इसके फलस्वरूप वामपंथी छात्र श्रेष्ठ बुद्धिजीवियों और उन लोगों के बीच आज दूरी मिटाने का काम कर रहे हैं, जो खेतों और कारख़ानों में जूझ रहे हैं और जो प्रायः उनके रिश्तेदार होते हैं या कम से कम उन्हीं वर्गों के सदस्य हैं जिनसे वे आते हैं। अतः, किन्हीं अर्थों में, चीन की वर्तमान अवस्था रूसी क्रान्ति के उन प्रारम्भिक दिनों से मेल खाती है जब लेनिन की अगुवाई में मार्क्सवादी छात्र मज़दूरों से जुड़ने के लिए कारख़ाना-क्षेत्रों में जाते थे। महत्वपूर्ण फर्क बेशक आज

यह है कि न केवल बहुतेरे छात्र मज़दूरों और किसानों के परिवारों से आते हैं बल्कि उन चीनी नौजवान वामपंथियों के पास, जो भले ही मेहनतकश वर्गों के साथ नये सिरे से सम्बन्ध क़ायम करने की राह टटोल रहे हों, माओ के नेतृत्व में 50 वर्षों के उस क्रान्तिकारी समाजवादी अनुभव की विरासत मौजूद है जिस पर उन्हें निर्माण करना है। उस युग की अवधारणाओं, नीतियों और सम्बन्धों को आज की बिल्कुल भिन्न परिस्थिति के अनुरूप बदले बिना लागू नहीं किया जा सकता और न ही किया जाना चाहिए। लेकिन वे क्रान्तिकारी विचारों और प्रयोगों के विशाल भण्डार बने हुए हैं जहाँ से वामपंथी कार्यकर्ता पूँजीवादी सुधारों और भूमण्डलीय बाज़ारीकरण की वर्तमान अवस्था के दौर में मेहनतकश वर्गों की स्थितियों से लड़ने के लिए विचार ग्रहण कर सकते हैं। वामपंथी विचार नये नहीं हैं बल्कि इसके उलट वे मज़दूरों और किसानों में पहले से ही काफ़ी गहरे धँसे हुए हैं।

इन सबके बावजूद इन रुझानों को बढ़ा-चढ़ा कर देखना एक गम्भीर गलती होगी। चीनी वामपंथ एक पहचानी जा सकने वाली ताक़त के रूप में अभी भी छोटा, हाशिये पर और खुद मेहनतकश वर्गों की ही तरह कई समूहों और धड़ों में विभाजित है। पूरी दुनिया में वामपंथियों की स्थिति के ही समान वे भी जिस दुनिया से कभी परिचित थे उसके भरभराकर ढहने के नतीजों का उन्हें सामना करना पड़ रहा है तथा वे अवधारणाओं के ऐसे किसी एक भी एकीकृत समुच्चय के बग़ैर, जिसके इर्द-गिर्द वे अपने को संगठित और मेहनतकश वर्गों को गोलबन्द कर सकें, आगे की नयी राह तलाशने की कोशिशों में लगे हुए हैं। काफ़ी हद तक मज़दूर और किसान ही हैं जो आज चीन में अगुवाई कर रहे हैं और कभी-कभी तो वे विराट स्तर के संघर्ष आयोजित करते हैं। हालांकि उनकी कतारों में मौजूद वामपंथी ही अक्सर इन संघर्षों को नेतृत्व देते हैं फिर भी वामपक्ष का कोई बड़ा संगठित आन्दोलन समग्रता में अभी कम ही आयोजित हुआ है। नये प्रकार की प्रतिद्वन्द्वी विचारधाराएँ भी -- जिनमें उदार सुधारवादी और सामाजिक जनवादी अवधारणाएँ शामिल हैं -- वामपंथियों के लिए चुनौती बनी हुई हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति को प्रतिबिम्बित करने वाला हाल का एक विकासक्रम यह है कि अब "वर्ग" शब्दावली का ही कम इस्तेमाल होता है और इसके बदले बाज़ार में "निर्बल सामाजिक समूहों" की बात की जाती है, जबकि शोषण की अवधारणा को ही कम उजागर किया जाता है। कई शहरी प्रोफ़ेशनल्स की जीवनशैली से -- भले ही उनकी राजनीति कुछ भी हो -- इन प्रवृत्तियों को मज़बूती मिलती है। कुछ बुद्धिजीवी और इनमें अपने को वामपंथी समझने वाले लोग भी शामिल हैं, आज शहर में खूब पैसा बना रहे हैं और मेहनतकश वर्गों के साथ किसी व्यावहारिक किस्म के जुड़ाव से उन्होंने अपने को अलग-थलग रखा है। अपने खुद के अनुभवों की तुलना में मज़दूरों की स्थितियाँ उन्हें अधिकाधिक दूर की चीज़ लगने लगी हैं।

उन लोगों को व्यापक स्तर पर दमन का सामना करना पड़ता है जो सार्वजनिक तौर पर किसी पक्ष में खड़े होते हैं अथवा अपने विचारों को व्यवहार में उतारते हैं हालांकि ज़रूरी नहीं कि यह दमन दक्षिण अथवा वाम पर ही केन्द्रित हो। दरअसल, सरकार कोई कार्रवाई करती है या नहीं यह इस बात पर निर्भर होता है कि कोई तयशुदा फ्रेमवर्क के कितना बाहर जाता है। एक प्रवासी संगठनकर्ता को भी, जो सुधारों का पक्ष लेता है और किसानों को स्वतंत्र "नागरिक" बनाने के मकसद से ज़मीन के निजीकरण की वकालत करता है, "मानवाधिकार" को बढ़ावा देने के उद्देश्य से पेइचिङ में एक बैठक करने की कोशिश करते समय हिरासत में ले लिया गया। एक पार्टी के शासन के अन्त के लिए किसी भी तरह का खुला संगठित प्रयास वह सीमा रेखा है जिसे कोई पार नहीं कर सकता और ऐसी कोई चीज़ जो सार्वजनिक गतिविधि के सभी प्रकार के क्षेत्रों में राज्य के प्रभुत्व को कम करती दिखायी पड़ती है, तुरन्त मुसीबत में फँस सकती है चाहे उसकी विशिष्ट राजनीतिक अन्तर्वस्तु जो भी हो।

बहरहाल, वामपंथ को अधिकारियों द्वारा एक विशिष्ट ख़तरे के रूप में देखा जाता है क्योंकि इसमें तेज़ी से फैलते मज़दूर वर्ग के संघर्षों को एक अधिक संगठित रूप देने की सम्भावनाएँ हैं। इस सन्दर्भ में "चाइना वर्कर्स वेबसाइट ऐण्ड डिस्कशन लिस्ट्स" का बन्द किया जाना एक प्रातिनिधिक उदाहरण था। इस प्रकार के ज़्यादातर मंचों से अलग यह चीन में वामपक्ष द्वारा संचालित पहला वेबसाइट था जो मज़दूरों और किसानों को आज के चीन में समाजवाद को बचाने के अपने संघर्षों के बारे में बातचीत करने का मौका देता था। इस पर बुद्धिजीवी, जिसमें वे भी शामिल थे जो खुद मेहनतकश वर्गों के बीच से आते थे, "मज़दूरों के मुद्दों के बारे में मज़दूरों के साथ चर्चा में भागीदारी करते थे" (स्टीफन फिलियन, 'यान युवानझाङ के साथ साक्षात्कार,' MRZine, http://mrzine.monthlyreview.org/philion130306.html)। यह जुड़ाव पार्टी और राज्य के नेताओं के लिए एक उल्लेखनीय ख़तरा बन रहा है, जैसा कि पेइचिङ में वेबसाइट के सम्पादकीय समूह के सदस्यों में से एक का कहना था, "सरकार समाजवाद का निर्माण नहीं कर रही है।" यही वह आधार है जिस पर "मज़दूर माओ के समय की कम्युनिस्ट पार्टी और आज की पार्टी के बीच भेद करते हैं।" मेहनतकश वर्गों के दृष्टिकोण से यह बेहद महत्वपूर्ण है कि सार्वजनिक तौर पर उनकी बात सुनी जाये। "यह एक ऐसी चीज़ है जिसे कोई समाजवादी जनतंत्र अवश्य चाहेगा, मज़दूरों के लिए एक ऐसा जनवाद जिसे पूँजीवाद नहीं दे सकता।" परन्तु इसकी जगह, एक भारी भरकम रजिस्ट्रेशन शुल्क थोपकर, जिसका बोझ मेहनतकश वर्गों के सदस्य उठा नहीं सके, वेबसाइट को बन्द कर दिया गया।

मज़दूरों और किसानों के बीच के बुद्धिजीवियों की भारी कतारों से और साथ ही नये मध्यवर्ग के बीच से भी, आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही व्यवस्थाओं में और ज़्यादा पारदर्शिता दिखाने की तथा उन्हें प्रभावित करने वाले निर्णयों में और अधिक भागीदारी करने के अधिकार की माँग बहुत व्यापक पैमाने पर उठ रही है। हालाँकि संयुक्त राज्य अमेरिका मार्का चुनावी "जनतंत्र" व्यापक आबादी को आकर्षित नहीं कर पा रहा है, पर बहुतेरे लोग बिल्कुल खुले रूप में जनवादी अधिकारों की बात कर रहे हैं। उनमें से कुछ एक के लिए बोलने की आज़ादी मुख्य लक्ष्य है तो दूसरों के लिए विपक्षी पार्टियाँ हैं। बहुत से मज़दूर अब यह बात भी करने लगे हैं कि कैसे "एक पार्टी व्यवस्था कामयाब नहीं है"। पार्टी तक में मंचों का गठन हो रहा है जो खुली बहस का माहौल बनाने के तरीके ढूँढ़ रहे हैं और तमाम तरह के मुद्दों पर "नागरिक समाज" एनजीओ पनप रहे हैं जैसे कि महिलाओं के अधिकार, पर्यावरण आदि पर।

फलतः चारों ओर जनवाद समर्थक भावनाएँ फैली हुई हैं और सरकार यह जानती है कि वह उन्हें एकदम दबा नहीं सकती। इसकी जगह वह धीरे-धीरे बदलाव लाकर इस चुनौती का सामना करने की कोशिश कर रही है। परन्तु इस क्षेत्र में सुधारों की आधिकारिक नीतियों के प्रति, जैसे कि गाँव के स्थानीय शासन के चुनावों में, सतह पर जनवादीकरण दिखायी देने के बावजूद, मेहनतकश वर्ग उपेक्षापूर्ण रुख अपनाते हैं क्योंकि इसका इस्तेमाल महज़ पार्टी द्वारा ऊपर से मनोनीत नामों का अनुमोदन करने के लिए किया जाता है। अन्य क्षेत्रों की तरह यहाँ भी समाजवादी दौर की स्मृतियाँ, विशेषकर सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान मज़दूरों और किसानों

द्वारा अपने कारख़ानों और खेतों के संचालन में, यहाँ तक विश्वविद्यालयों और स्थानीय सरकार चलाने में भी उनकी भागीदारी, आज भी एक कसौटी का काम करती हैं, और ऐसे तमाम राजनीतिक अधिकारों के छीने जाने का और भी तीखेपन से अहसास कराती हैं। जैसा कि एक मज़दूर ने कहा, "जनवादी सुधारों ने, जिस रूप में सरकार द्वारा इन्हें अब तक लागू किया जाता रहा है, माओकालीन क्रान्ति को सिर के बल खड़ा कर दिया है और मज़दूरों के जीवन को उलट-पुलट डाला है -- मज़दूर वर्गों के खिलाफ यह एक प्रकार के प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की कार्रवाई है।"

इसलिए, राजनीतिक पुनर्गठन के प्रति स्वीकार्य दृष्टिकोण की कुंजी किसी ऐसे रास्ते की तलाश करना है जो मज़दूर-किसान नियन्त्रण की वामपंथी अवधारणाओं को उस भागीदारी लोकतंत्र के साथ पुनः जोड़ दे, जो आज दुनिया के प्रगतिशील एजेण्डा का एक हिस्सा बना हुआ है। यह तलाश पहले ही शुरू हो चुकी है। क्रान्ति में शामिल पुराने वामपंथियों द्वारा हू जिनताओ को लिखे गये 2004 के पत्र की मुख्य माँगों में से एक यह थी कि सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के साधन के रूप में नीचे से उठने वाले जन संघर्षों को फिर से ऊर्जस्वी किया जाये और जनवादी व्यवस्था के एक अंग के रूप में पार्टी और राज्य के कामकाज में मेहनतकश वर्गों को सीधे भूमिका दी जाये। बहरहाल, एकीकृत आन्दोलन खड़ा करने और क्रान्तिकारी बदलावों को अंजाम देने के रास्ते की बाधाएँ चीन में भी उतनी ही दुरूह हैं जितना आज किसी और जगह। अतीत की अपनी विरासत के बावजूद पुराने मज़दूर और किसान इस बात से आशंकित हैं कि समाजवाद के लिए संघर्ष अगर जल्दी ही नये धरातल पर नहीं पहुँचा तो क्रान्ति के दौर की स्मृति विलुप्त हो जायेगी और नौजवान पीढ़ी अमीर बनने की लालसा और उपभोक्ता संस्कृति के अलावा न कुछ जानेगी और न कुछ पाने की कोशिश करेगी। ऐसी हालत में, यदि कभी वे बुनियादी बदलाव की ज़रूरत महसूस करेंगे तो उन्हें सब कुछ शून्य से फिर शुरू करना होगा।

फिर भी चीनी जनता इस दृष्टि से बेहतर स्थिति में है कि उसके पास समाजवाद के दौर के अनुभव हैं। कभी-कभी दूर-दूर तक भले ही इसके कोई आसार नज़र न आते हों लेकिन समाजवादी क्रान्ति को फिर से जीवित करने की दिशा में तेज़ गति से आगे बढ़ने की सम्भावना चीन में मौजूद है, एक ऐसी सम्भावना जो एक बार फिर पूरी दुनिया को झकझोर देगी। यह परिदृश्य निश्चय ही उन तमाम सम्भावित परिदृश्यों में से सिर्फ़ एक है जो यह बताता है कि निकट भविष्य में चीन में क्या होने वाला है। चीनी समाज की वर्ग संरचना की जटिलता और ध्रुवीकरण इसे अन्तरविरोधी दिशाओं में खींच रहे हैं जिसके व्यापक नतीजे सामने आ सकते हैं।

यह बात मेहनतकश वर्गों की स्थितियों और नयी चुनौतियों के प्रति पार्टी और राज्य की प्रतिक्रिया, दोनों ही मामलों में हाल के घटनाक्रमों से स्पष्ट हो जाती है। पूरे देश में इस उथल-पुथल को मानो बढ़ावा देने के लिए, दो शीर्षस्थ नेताओं, हू जिनताओ और वेन जियाबाओ ने ग्रामीण नीति में बदलावों का एक सिलसिला शुरू कर दिया है जिसका काफ़ी नाटकीय असर पड़ा है। इनमें किसानों पर लगाये गये उस कृषि कर का और साथ ही अधिकांश ऐसे स्थानीय शुल्कों का, जिनमें बहुतेरे ग़ैरक़ानूनी थे, निरस्तीकरण शामिल है, जो कि विरोध का एक मुख्य स्रोत था। ख़ास तौर पर ग्रामीण इलाकों में, जिसमें छोटे शहरों के कारख़ाने और गाँव शामिल हैं, और शिक्षा, स्वास्थ्य तथा पर्यावरण विकास के क्षेत्र में पूँजी निवेश को और अधिक बढ़ाने की योजना भी है। इस प्रकार की व्यवस्था करने के साथ-साथ कृषि माल की कीमतों को और अधिक अनुकूल बना देने से बहुत से किसान परिवारों ने उल्लेखनीय रूप से आर्थिक दबावों से मुक्ति पा ली। यहाँ तक कि सरकारी स्तर पर अब नये समाजवादी गाँवों की बात की जाने लगी है। हालाँकि इस शब्दावली का मतलब अभी बहुत स्पष्ट नहीं है और हो सकता है कि पहले ही से लागू की जा चुकी ग्रामीण नीतियों को एक ज़्यादा वामपंथी लगने वाला नाम देने का यह महज़ एक प्रयास भर हो। सुधारों के भीतर जिन सुधारों को घोषित किया गया है उनमें कितनी गहराई है, यह तो आगे पता चलेगा। विशेषकर, यह देखते हुए कि स्थानीय पैमाने पर इसके लागू न होने का इतिहास रहा है, जो कि चीनी शासन की एक स्थानिक बीमारी है, और विकास के लिए भ्रष्ट अधिकारियों द्वारा गाँव की ज़मीनों की बिक्री लगातार होती रही है, जो कई इलाकों में अब भी बेरोकटोक जारी है। फिर भी, इसका एक प्रभाव बहुत स्पष्ट है। लगभग तीन साल साल पहले, स्थिति के आश्चर्यजनक उलटाव के चलते अभी तटीय इलाकों के एक्सपोर्ट ज़ोन में मज़दूरों की लगातार बढ़ती कमी महसूस की जा रही है क्योंकि प्रवासी मज़दूर अपने इलाके के हालात में बेहतरी का कुछ हद तक लाभ उठाने के मकसद से और साथ ही तटीय कारख़ानों में निर्मम शोषण के खिलाफ नामंज़ूरी की बढ़ती भावना के चलते बड़ी तादाद में अपने गाँव या कम से कम अपने घर के और करीब के शहरों में लौट रहे हैं। प्रव्रजन की यह उल्टी दिशा उन प्रव्रजकों के प्रतिरोध, उन्नत चेतना और स्वतः संगठन को प्रतिबिम्बित करती है जिनमें से कई तो अब अनुभवी प्रौढ़ हो चुके हैं और जो उन स्थितियों को कभी स्वीकार नही करेंगे जो नौजवानी के वर्षों में उन्हें लुभाती थीं। यहाँ तक कि नौजवान प्रवासी मज़दूरों की वह धारा भी अब सूखना शुरू हो चुकी है, जिसमें ख़ासकर वे ग़रीब किसान औरतें थीं जिन्हें कारख़ानों द्वारा प्राथमिकता दी जाती थी और जो सर्वाधिक शोषणकारी स्थितियों का सामना करती थीं।

एक ओर इसका सकारात्मक प्रभाव यह हुआ है कि निर्यातक उद्योगों को काफ़ी बड़ी श्रम शक्ति को लुभाने के प्रयास में मज़दूरी व अन्य लाभ बढ़ाने के लिए बाध्य होना पड़ा वही इस बात के संकेत भी मिले हैं कि नियोक्ता मज़दूरी कम करने के इरादे से कम ख़र्चीले देशों, जैसे कि वियतनाम, भारत और बंगलादेश की ओर भाग रहे हैं। अतः जिस वर्तमान व्यवस्था की प्रकृति वैश्विक पूँजीवादी बाज़ारवाद की हो और जिसमें चीन ज़्यादा से ज़्यादा जुड़ता चला जा रहा हो उसे संशोधित करने का कोई सरल उपाय नहीं है, क्योंकि ऐसी हर कार्रवाई नये अन्तरविरोधों को जन्म देती है। हालाँकि भीतरी बाज़ार का विस्तार हो रहा है, पर वैश्विक स्तर पर प्रतिस्पर्धी क्षमता में किसी तरह की गम्भीर गिरावट और फलस्वरूप आर्थिक मन्दी -- वह सबसे बड़ा हौवा जो चीनी नेतृत्व को डराता है -- न केवल उस नीति में संशोधन करने की क्षमता को कम कर देगा जिसे हू और वेन "सामाजिक समता" पर ज़ोर सहित लागू करने की कोशिश कर रहे हैं, बल्कि व्यापक पैमाने पर गड़बड़ी फैलने का ख़तरा भी पैदा कर देगा।

इस प्रकार के अन्तरविरोधों को हल करने में पूँजीवादी बाज़ारीकरण की असफलता वामपंथ को नयी ताक़त दे रही है। इस बढ़ते प्रभाव का एक ज्वलन्त उदाहरण मार्च 2006 में दिखायी पड़ा।

एक दशक के दौरान शायद पहली बार कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित विधायिका, नेशनल पीपुल्स कांग्रेस में समाजवाद और पूँजीवाद पर विचारधारात्मक बहस चली, जिसके बारे में बहुतों ने मान लिया था कि चीन के त्वरित आर्थिक विकास के लम्बे दौर ने काफ़ी पहले ही इस बहस को दफना दिया था।

इस विवाद ने सरकार को सम्पत्ति अधिकारों की रक्षा करने वाले

एक प्रस्तावित क़ानून को फिलहाल टाल देने के लिए बाध्य किया है जिसके आसानी से पारित हो जाने की उम्मीद की जा रही थी। साथ ही इसने समाजवाद की ओर झुकाव रखने वाले अध्येताओं और नीतिगत सलाहकारों के एक छोटे मगर मुखर समूह के बढ़ते हुए प्रभाव को भी रेखांकित किया। पुरानी शैली के इन वामपंथी चिन्तकों ने चीन में आय के बढ़ते अन्तर और बढ़ते सामाजिक असन्तोष का इस्तेमाल उनके शब्दों में निजी सम्पत्ति और बाज़ार-संचालित आर्थिक विकास की अन्धी दौड़ के बारे में सन्देह प्रकट करने के लिए किया है।... जिन लोगों ने इस हमले को पुराने दौर की ओर वापसी की कोशिशें कहकर ख़ारिज कर दिया, उन्होंने एक ऐसे देश में समाजवादी विचारों के प्रति आकर्षण को कम करके आँका जहाँ अमीर और ग़रीब के बीच की खाई, बेतहाशा भ्रष्टाचार, श्रमिकों का शोषण और ज़मीनों पर कब्ज़ा रोज़-ब-रोज़ यह याद दिलाते हैं कि चीन अपनी आधिकारिक विचारधारा से भटककर कितनी दूर जा चुका है (*न्यूयार्क टाइम्स,* 12 मार्च, 2006)।

हालांकि देर-सबेर सम्पत्ति विधेयक किसी न किसी रूप में शायद पारित ही हो जायेगा, फिर भी "शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में बाज़ार के विस्तार को सम्भव बनाने" के प्रस्ताव और यहाँ तक कि ज़मीन के निजीकरण के लिए और अधिक उग्र सुधारवादी माँगों को कम से कम तत्काल धक्का पहुँचा है।

शीर्ष नेतृत्व भी कम से कम ऊपरी तौर पर ही सही, एक बार फिर उस समाजवाद की दिशा में वापसी की बाध्यता को महसूस कर रहा है, जो सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी का सैद्धान्तिक आधार, व्यवहार में पूँजीवाद लागू होने के बावजूद, अभी भी बना हुआ है।

2002 में सत्ता में आने के बाद से श्री हू अपनी वामपंथी विश्वसनीयता को क़ायम करने का प्रयास कर रहे हैं। इसके लिए वे मार्क्सवाद का गुणगान कर रहे है, माओ की प्रशंसा कर रहे हैं और देश की आधिकारिक लेकिन अक्सर उपेक्षित समाजवादी विचारधारा की मौजूदा युग के साथ ज़्यादा संगति बिठाने के मकसद से शोध के लिए धन उपलब्ध करा रहे हैं (*न्यूयार्क टाइम्स,* 12 मार्च, 2006)।

व्यापक तौर पर अब पार्टी को भ्रष्टाचार में डूबा हुआ माना जाता है, और इसकी क्षीण होती वैधता को फिर से क़ायम करने के मकसद से, माओ काल के तरीकों तक का फिर से इस्तेमाल किया जा रहा है।

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी उस विशालकाय कम्पनी की तरह, जिसे अपनी सांगठनिक अव्यवस्था और जनता में अपनी डूबती साख की चिन्ता रहती है, खुद को एक प्रभावी आधुनिक यंत्र के रूप में पुनर्गठित करने की कोशिश कर रही है। परन्तु ऐसा करने के लिए उसने अपने एक सबसे पुराने राजनीतिक उपकरण -- माओवादी शैली में विचारधारात्मक प्रचार अभियान और उसे पूरा करने के लिए आवश्यक अध्ययन मण्डलों को चुना है।

पार्टी के 7 करोड़ आम सदस्यों को माओ और देङ सियाओ-पिङ के भाषणों के साथ-साथ 17000 से भी अधिक शब्दों के उबाऊ निबन्ध अर्थात पार्टी संविधान को पढ़ने का आदेश दिया गया है। यह सिलसिला 14 महीनों से जारी है। अनिवार्य बैठकों में ऐसे सत्र रखे जाते हैं जहाँ कार्यकर्ताओं को अपनी आत्मालोचना करनी पड़ती है और एक दूसरे की आलोचना भी करनी पड़ती है। (*न्यूयार्क टाइम्स,* 9 मार्च, 2006)

कुछ लोग इस अभियान को सुधार की कोशिश के रूप में गम्भीरता से लेते हैं, तो कुछ काफ़ी व्यंग्य और उपेक्षा से इसे देखते हैं। अभियान के सीधे प्रभाव से कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण इसकी यह स्वीकारोक्ति है कि पार्टी "जनता की सेवा करने" की अपनी उस भूमिका से भी बहुत दूर भटक चुकी है, जैसा कि माओ ने आह्वान किया था; अपने मूल क्रान्तिकारी लक्ष्यों से तो यह बहुत-बहुत दूर जा चुकी है। शायद ही किसी को हू और वेन से यह उम्मीद होगी कि वे समाजवादी क्रान्ति के पुनरुत्थान का नेतृत्व करेंगे, या यहाँ तक कि उस पूँजीवादी राह से कोई आमूल विपथगमन करेंगे जिस पर पार्टी और राज्य पिछले तीस वर्षों से चल रहे हैं, और जिससे आर्थिक शक्तियाँ अब बड़ी मजबूती से बँध चुकी हैं। लेकिन समाजवादी अवधारणाओं और माओ के अध्ययन को आधिकारिक तौर पर बढ़ावा देने से यह ज़रूर होगा कि गहराते संकट को सम्बोधित करने के लिए वामपंथी धारा के पुनरुत्थान हेतु और अधिक जगह निर्मित होगी। हाल के वैश्विक मंचों से अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति के उलट -- ऐसे जुड़ावों को सीमित करने के सरकारी प्रयासों के बावजूद -- अब वैश्विक संचार और संगठन के नये और तेज़ी से फैलते नेटवर्कों के ज़रिये दुनियाभर में वामपंथी संघर्षों की जानकारी भी बढ़ रही है और उनके साथ नज़दीकी रिश्ते भी बन रहे हैं।

मेहनतकश वर्गों की बिगड़ती स्थितियाँ उन्हें तेज़ी से ज़्यादा रैडिकल और जुझारू दिशा में धकेल रही हैं। न केवल मज़दूरों और किसानों की कतारों में, बल्कि बहुत से बुद्धिजीवियों और यहाँ तक कि व्यापक मध्यवर्ग के कम से कम कुछ हिस्से के बीच इस बात की एक गहरी और बढ़ती हुई समझदारी है कि वैश्विक पूँजीवाद के पास उनकी स्थितियों का कोई जवाब नहीं है, और यह कि माओ के नेतृत्व में उन्होंने जिस क्रान्तिकारी समाजवाद का निर्माण किया था वह कम से कम आगे बढ़ने के एक और रास्ते की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। कारख़ानों और खेतों में चीन के मज़दूर और किसान न सिर्फ़ पूँजीवादी शोषण के नये रूपों का प्रतिरोध कर रहे हैं, बल्कि उनके पास एक और दुनिया की स्मृतियाँ हैं जिसके बारे में वे पहले से जानते हैं कि यह सम्भव है। सुधारों के पहले के समाजवादी दौर के अपने जीवन से उन्होंने यह जान लिया है कि वैश्विक पूँजीवाद की बेलगाम लूट के व्यावहारिक विकल्प मौजूद हैं।

इस विरासत के बावजूद, अतीत की ओर सरलतावादी ढंग से वापसी न तो सम्भव है और न ही वांछनीय। बहुत कुछ बदल चुका है, और बहुत सारे जिन्न बोतल से बाहर निकाले जा चुके हैं जिन्हें बस यूँ ही वापस नहीं किया जा सकता। अतीत की सफलताओं और जीतों के साथ ही असफलताओं और गलतियों की नये सिरे से पड़ताल करनी होगी, और अन्य जगहों की ही तरह, चीन में भी समाजवाद के पहले दौर की सीमाओं से पार पाने के नये उपाय तलाशने होंगे। आने वाले दौर में संघर्ष क्या दिशा लेगा इसकी भविष्यवाणी करना आसान नहीं है। लेकिन आगे बढ़ते हुए चीन के मेहनतकश वर्गों को पीछे भी मुड़कर देखना चाहिए, तभी वे नये समाजवादी समाज की अपनी राह फिर से ढूँढ़ सकेंगे, एक ऐसी राह जो उनके ऐतिहासिक और वर्तमान संघर्षों को आज के वैश्विक आन्दोलनों से जोड़ेगी, और एक बार फिर क्रान्तिकारी रूपान्तरण को सम्भव कर दिखायेगी।

अनुवाद : मीनाक्षी

('मंथली रिव्यू', जून 2006 से साभार)

राहुल फाउण्डेशन का सम्पूर्ण सूचीपत्र

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़, उनके विचार, उनका जीवन

1. भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़ 175.00
2. शहीदेआज़म की जेल नोटबुक — भगतसिंह — 65.00
3. विचारों की सान पर — भगतसिंह — 25.00
4. क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास — शिव वर्मा — 10.00
5. भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति –बिपन चन्द्र 10.00
6. अमर शहीद सरदार भगतसिंह — जितेन्द्रनाथ सान्याल — 70.00
7. यश की धरोहर – भगवानदास माहौर, सदाशिव मलकापुरकर, शिववर्मा 30.00
8. भगतसिंह और उनके साथी – अजय घोष, गोपाल ठाकुर 30.00
9. संस्मृतियाँ — शिव वर्मा — 50.00
10. इक्कीसवीं सदी में भगतसिंह — रविभूषण — 10.00
11. भगतसिंह : अनवरत जलती मशाल – राजकुमार राकेश, मनोज शर्मा 10.00
12. शहीद सुखदेव : नौघरा से फाँसी तक — डा. हरदीप सिंह (सं.) — 25.00

महत्वपूर्ण और विचारोत्तेजक पुस्तकें

1. उम्मीद एक ज़िन्दा शब्द है 60.00
(‘दायित्वबोध’ के महत्वपूर्ण सम्पादकीय लेखों का संकलन)
2. एनजीओ : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र 30.00
3. डब्ल्यूएसएफ : साम्राज्यवाद का नया ट्रोजन हार्स 50.00
4. छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें 10.00

दायित्वबोध पुस्तिका शृंखला

1. अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएँ — दीपायन बोस — 10.00
2. समाजवाद की समस्याएँ, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति — शशि प्रकाश — 12.00
3. क्यों माओवाद — शशि प्रकाश — 10.00

बिगुल पुस्तिका शृंखला

1. अक्टूबर क्रान्ति की मशाल 12.00
2. पेरिस कम्यून की अमर कहानी 10.00
3. कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढाँचा – लेनिन 5.00
4. मकड़ा और मक्खी — विल्हेल्म लीब्कनेख़्त — 3.00
5. ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीके — सेर्गेई रोस्तोवस्की — 3.00
6. मई दिवस का इतिहास — अलेक्ज़ैण्डर ट्रैक्टनबर्ग — 5.00

मार्क्सवाद

1. कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र — मार्क्स-एंगेल्स — 10.00
2. साहित्य और कला — मार्क्स-एंगेल्स — 150.00
3. फ्रांस में वर्गसंघर्ष — कार्ल मार्क्स — 40.00
4. फ्रांस में गृहयुद्ध — कार्ल मार्क्स — 20.00
5. लूई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रूमेर — कार्ल मार्क्स — 35.00
6. उजरती श्रम और पूँजी — कार्ल मार्क्स — 10.00
7. मज़दूरी, दाम और मुनाफ़ा — कार्ल मार्क्स — 15.00
8. गोथा कार्यक्रम की आलोचना — कार्ल मार्क्स — 10.00
9. लुडविग फ़ायरबाख़ और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त – एंगेल्स 20.00
10. जर्मनी में क्रान्ति तथा प्रतिक्रान्ति — फ्रेडरिक एंगेल्स — 30.00
11. समाजवाद : वैज्ञानिक तथा काल्पनिक — फ्रेडरिक एंगेल्स — 12.00
12. पार्टी कार्य के बारे में — लेनिन — 25.00
13. एक क़दम आगे दो क़दम पीछे — लेनिन — 60.00
14. जनवादी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद के दो रणकौशल – लेनिन 25.00
15. समाजवाद और युद्ध — लेनिन — 10.00
16. साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम अवस्था — लेनिन — 20.00
17. राज्य और क्रान्ति — लेनिन — 20.00
18. सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काउत्स्की — लेनिन — 15.00
19. दूसरे इण्टरनेशनल का पतन — लेनिन — 10.00
20. गाँव के ग़रीबों से — लेनिन — 10.00
21. मार्क्सवाद का विकृत रूप तथा साम्राज्यवादी अर्थवाद – लेनिन 10.00
22. कार्ल मार्क्स और उनकी शिक्षा — लेनिन — 10.00
23. क्या करें? — लेनिन — 30.00
24. वामपंथी कम्युनिज़्म एक बचकाना मर्ज़ — लेनिन — 15.00
25. पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन — लेनिन — 15.00
26. जनता के बीच पार्टी का काम — लेनिन — 30.00
27. धर्म के बारे में — लेनिन — 20.00
28. राज्यसत्ता क्या है? — लेनिन — 10.00
30. तोल्स्तोय के बारे में — लेनिन — 8.00
31. जुझारू भौतिकवाद — प्लेख़ानोव — 35.00
32. लेनिनवाद के मूलभूत सिद्धान्त — स्तालिन — 15.00
33. बोल्शेविक पार्टी का इतिहास 80.00
34. माओ त्से-तुङ की रचनाएँ : प्रतिनिधि चयन (एक खण्ड में) 70.00
35. कम्युनिस्ट जीवनशैली और कार्यशैली के बारे में – माओ त्से-तुङ 40.00
36. सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना – माओ त्से-तुङ 35.00
37. दर्शन विषयक पाँच निबन्ध – माओ त्से-तुङ 25.00
38. कला-साहित्य विषयक एक भाषण और पाँच दस्तावेज़ – माओ त्से-तुङ 12.00
39. माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण 35.00
40. महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति : चुने हुए दस्तावेज़ और लेख (खण्ड 1) 35.00
41. बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में – चाङ चुन-चियाओ 3.00
42. इतिहास ने जब करवट बदली — विलियम हिण्टन — 20.00
43. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद — वी. अदोरात्स्की — 15.00
44. राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (दो खण्डों में) प्रत्येक खण्ड 60.00
45. अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन — अल्बर्ट रीस विलियम्स — 75.00
46. लेनिन के जीवन के चन्द पन्ने — लीदिया फ़ोतियेवा — 50.00
47. मार्क्सवाद क्या है — एमिल बर्न्स — 20.00
48. भौतिकवाद और समाज का विज्ञान — मॉरिस कॉर्नफोर्थ — 5.00
49. पार्टी और दर्शन — मॉरिस कॉर्नफोर्थ — 3.00
50. कम्युनिज़्म क्या है — आर.डब्ल्यू. रॉब्सन — 5.00
51. सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना — मार्टिन निकोलस — 50.00

राहुल साहित्य

1. तुम्हारी क्षय — राहुल सांकृत्यायन — 15.00
2. दिमाग़ी गुलामी — राहुल सांकृत्यायन — 15.00
3. वैज्ञानिक भौतिकवाद — राहुल सांकृत्यायन — 50.00
4. राहुल निबन्धावली — राहुल सांकृत्यायन — 50.00
5. स्तालिन : जीवनी — राहुल सांकृत्यायन — 75.00

परम्परा से प्रेरणा

1. चुनी हुई रचनाएँ — गणेशशंकर विद्यार्थी — 75.00
2. सलाख़ों के पीछे से — गणेशशंकर विद्यार्थी — 30.00
3. ईश्वर का बहिष्कार — राधामोहन गोकुलजी — 15.00
4. लौकिक मार्ग — राधामोहन गोकुलजी — 15.00
5. धर्म का ढकोसला — राधामोहन गोकुलजी — 15.00
6. स्त्रियों की स्वाधीनता — राधामोहन गोकुलजी — 15.00

विविध

1. फाँसी के तख़्ते से — जूलियस फ़्यूचिक — 30.00
2. पाप और विज्ञान — डायसन कार्टर — 60.00
3. सापेक्षिकता सिद्धान्त क्या है? — लेव लन्दाऊ, यूरी रूमेर — 25.00

English Publications

1. Class Struggles in France – Karl Marx 45.00
2. The Origin of Family, Private Property and the State – Frederick Engels 50.00
3. One Step Forward, Two Steps Back – Lenin 70.00
4. The State and Revolution – Lenin 30.00
5. Fundamental Problems of Marxism – Plekhanov 30.00
6. The Foundations of Leninism – Stalin 30.00
7. Marxism and Problems of Linguistics – Stalin 20.00
8. Selected Readings – Mao Tse-Tung 75.00
9. Quotations from the Writings of Mao Tse-Tung 40.00
10. An Appeal to the Young – Peter Kropotkin 10.00

मुख्य वितरक : **जनचेतना**

आर्थिक विकास की यशोगाथा में छुपा समृद्धि और वंचना का अन्तरविरोध

पंजाब और उत्तराखण्ड विधानसभा चुनावों में मुँहकी खाने के बाद मनमोहन सिंह समेत तमाम कांग्रेसी बढ़ती महँगाई के बारे में "चिन्ताएँ" प्रकट करने लगे हैं। मनमोहन सिंह ने लोकसभा में राष्ट्रपति के अभिभाषण पर धन्यवाद प्रस्ताव पर चर्चा के दौरान महँगाई पर जल्द ही लगाम लगाने का संकल्प दुहराया। लेकिन कांग्रेसियों के राजकाज के अब तक के अनुभवों के आधार पर कोई भी कह सकता है कि ये "चिन्ताएँ" दिखावटी हैं और संकल्प खोखले। नौ प्रतिशत विकास दर हासिल कर लेने के नशे में डूबी पूँजीसेवकों की इस जमात के पास 'आम आदमी' के लिए संवेदना का एक क़तरा भी नहीं है। महँगाई रोकने के नाम पर कुछ तात्कालिक कवायदें करके इन चिन्ताओं का मुखौटा उतारकर फेंक दिया जायेगा और फिर सारी कवायदें विकास दर बढ़ाने पर केन्द्रित हो जायेंगी। संसद में प्रस्तुत वर्ष 2006-2007 के आर्थिक सर्वेक्षण और नये केन्द्रीय आम बजट पर एक सरसरी नज़र डालने से ही इस पुरानी सच्चाई की फिर से तस्दीक हो जायेगी कि मनमोहन-चिदम्बरम एण्ड कम्पनी के पास आम आदमी को देने के लिए लफ़्फ़ाजियों के सिवा कुछ नहीं है और उनकी असली चिन्ताएँ कारपोरेट जगत के "विकास" और उसके सुखों-दुखों पर केन्द्रित हैं।

आर्थिक सर्वेक्षण का पापस्वीकार और 'समावेशी विकास' की लफ़्फ़ाज़ी

वर्ष 2006-07 का आर्थिक सर्वेक्षण जहाँ एक ओर पिछले तीन वर्षों से लगातार औसतन 8 प्रतिशत और चालू वर्ष में 9.2 प्रतिशत की वृद्धि दर पर लहालोट है वहीं मुद्रास्फीति की दर 6.5 प्रतिशत से ऊपर चले जाने पर चिन्ता प्रकट करता नज़र आता है। इसके साथ ही कृषि क्षेत्र में पिछले तीन वर्षों के दौरान औसतन मात्र 2.2 प्रतिशत की वृद्धि दर पर आँसू बहाये गये हैं। सर्वेक्षण मुद्रास्फीति को नियंत्रित करते हुए इस उच्च विकास दर को बनाये रखने के साथ ही "समावेशी" विकास यानी विकास के फल को नीचे तक पहुँचाने के लिए आवश्यक क़दम उठाने की सिफ़ारिश करता है। वर्ष 2007-08 के केन्द्रीय बजट में चिदम्बरम ने आर्थिक सर्वेक्षण की इन सिफ़ारिशों का कितना ध्यान रखा है, इस पर चर्चा से पहले आइये देखें कि "उच्च विकास दर के इस नये चरण" की असलियत क्या है।

कुछ बुर्जुआ आर्थिक विश्लेषकों के अनुसार अर्थव्यवस्था की मौजूदा उच्च विकास दर के पीछे एक हद तक आँकडो़ं का चमत्कार भी है। इन विश्लेषकों के दावों को पूरी तरह निराधार भी नहीं कहा जा सकता। वर्ष 1999-2000 में राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी और आधार वर्ष में परिवर्तन किया गया था। क्या इसे महज़ संयोग माना जाये कि जिन क्षेत्रों में सांख्यिकीय संशोधन किये गये थे उन्हीं क्षेत्रों में हाल के वर्षों में बचत और निवेश में सबसे अधिक बढ़ोत्तरी दर्ज़ की गयी है। बहरहाल, इन सांख्यिकीय चमत्कारों की बात छोड़ दें तो भी अहम सवाल यह है कि ऊँची वृद्धि दर और "समावेशी विकास" एक-दूसरे के लिए इतने पराये क्यों बने हुए हैं।

आर्थिक समीक्षा में जी.डी.पी. की वृद्धि दर के साथ ही विकास के जो अन्य आँकड़े प्रस्तुत किये गये हैं उनमें प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दर 7.4 प्रतिशत, बचत दर 32.4 प्रतिशत और निवेश दर 33.8 प्रतिशत दर्शायी गयी है। भारत का विदेशी मुद्रा भण्डार 180 अरब डालर तक पहुँच गया है और वर्ष 2005-06 में पहले आठ महीनों में भारत ने निर्यात की वृद्धि दर के मामले में चीन को पछाड़ दिया है। उपर्युक्त अवधि में चीन की निर्यात वृद्धि दर केवल 25. 8 रही जबकि भारत ने 40.4 प्रतिशत की निर्यात वृद्धि दर्ज़ की। पिछले दिनों टाटा और बिड़ला ने विदेशी कम्पनियों का अधिग्रहण भी किया। लेकिन बुर्जुआ समष्टि अर्थशास्त्र के ये विकास सम्बन्धी आँकड़े विकास की वास्तविक तस्वीर सामने नहीं लाते। असली तस्वीर तब सामने आती है जब हम सच्चाई के दूसरे पहलू पर नज़र डालते हैं।

खुद आर्थिक समीक्षा में स्वीकार किया गया है कि रोज़गार का सृजन अत्यन्त धीमी रफ्तार से हो रहा है। वर्ष 2001-2005 के दौरान रोज़गार वृद्धि दर केवल 2.5 प्रतिशत रही है जबकि इससे पूर्व के पाँच वर्षों (1995-2000) के दौरान यह केवल 1.6 प्रतिशत रही है। अगर केवल संगठित क्षेत्र में रोज़गार वृद्धि दर की बात करें तो पिछले दस वर्षों (1994-2004) में यह ऋणात्मक (- 0.38 प्रतिशत) रही है। इसके पूर्व के दस वर्षों (1983-94) में भी वृद्धि दर केवल 1.2 प्रतिशत ही रही है। ज़ाहिर है कि संगठित क्षेत्र में रोज़गार की यह कमी निजीकरण की नीतियों के कारण ही पैदा हुई है। लेकिन आर्थिक सर्वेक्षण जब रोज़गार वृद्धि के उपायों की बात करता है तो अपनी आशाएँ निजी क्षेत्र पर ही टिकाता है जबकि उपर्युक्त अवधि में निजी क्षेत्र में भी रोज़गार वृद्धि दर नगण्य ही रही है। देखें तालिका-एक।

संगठित क्षेत्र में रोज़गार सृजन की स्थिति

तालिका-एक

संगठित क्षेत्र में रोज़गार वृद्धि दर (प्रतिशत में)

वर्ष	संगठित क्षेत्र (निजी-सार्वजनिक)	निजी क्षेत्र
1983-94	1.2	0.44
1994-2004	-0.38	0.61

स्रोत : भारत सरकार का आर्थिक सर्वेक्षण 2006-2007

का रोना रोने के बावजूद ऐसी कोई खुशफ़हमी नहीं पालनी चाहिए कि निजीकरण की नीतियों को उलटने की कोई सिफ़ारिश सर्वेक्षण करता है। वह काफ़ी ज़ोर देकर सार्वजनिक क्षेत्र की नयी भूमिका को इन शब्दों में परिभाषित करता है :

"सार्वजनिक क्षेत्र में कर्मियों की संख्या को युक्तिसंगत बनाना, जिसका प्राथमिक उद्देश्य शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क और सिंचाई जैसी

आवश्यक सेवाओं को उपलब्ध कराना है न कि प्रत्यक्ष रोज़गार देना, स्वागतयोग्य है और इसे जारी रहना चाहिए...।"

ऊँची वृद्धि दर की सच्चाई का दूसरा पहलू यह है। यानी 'रोज़गार विहीन विकास'। 'स्टाफ़िंग लीज़" नामक एक निजी संस्था के सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष 2020 तक भारत में बेरोज़गारों की संख्या 50 करोड़ के ऊपर पहुँच जायेगी और बेरोज़गारी दर 12 प्रतिशत।

इस ऊँची वृद्धि दर के लाभों से हमारे देश की गरीब मेहनतकश आबादी किस हद तक वंचित है इसका अनुमान राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के कुछ आँकड़ों से लगाया जा सकता है। नमूना सर्वेक्षण के अनुसार वर्ष 1996 में गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वालों की संख्या 26 करोड़ थी जो 2005 में बढ़कर 22 करोड़ हो चुकी है। इसी प्रकार देश में अभी भी 18 करोड़ लोग झुग्गियों में रहते हैं और इतने ही लोग फुटपाथों पर सोते हैं। ज़ाहिर है कि देश में भवन निर्माण उद्योग में जो तेजी आयी है उसका लाभ केवल खुशहाल मध्य वर्ग तक सिमट कर रह गया है। पिछले दिनों एक बीमा कम्पनी ने अपने एक सर्वेक्षण में यह सच्चाई उजागर की थी कि देश की 65 प्रतिशत आबादी स्वास्थ्य, चिकित्सा और अस्पतालों का खर्च उठाने की स्थिति में नहीं है। ज़ाहिर है कि राष्ट्रीय आय में जो बढ़ोत्तरी हो रही है वह मुट्ठी भर लोगों के हाथों में संचित हो रही है। एक तरफ वंचितों की यह तस्वीर है तो दूसरी ओर समृद्धि की मीनारें ऊँची होती जा रही हैं। देश में प्रति वर्ष 20 प्रतिशत की दर से करोड़पतियों की संख्या में वृद्धि हो रही है।

बड़ी देशी औद्योगिक कम्पनियाँ और मुट्ठीभर ऊपरी जमातें सामाजिक सम्पदा का निजी संचय किस तरह कर रही हैं उसे समझने के लिए कुछ आँकड़े ही पर्याप्त हैं। देशी कम्पनियाँ राष्ट्रीय आय का 4.1 प्रतिशत शेष समाज की बचत से प्राप्त करती हैं जबकि सरकार करों द्वारा राष्ट्रीय आय का 11 प्रतिशत प्राप्त करती है। कम्पनियों द्वारा जनता से की जाने वाली इस ''वसूली'' (राष्ट्रीय आय का 4.1 प्रतिशत) में बढ़ती कीमतों के रूप में उद्योगपतियों द्वारा उपभोक्ताओं से की गयी जबरिया वसूली को भी जोड़ दें तो व्यक्तियों-परिवारों की आय, बचत और सम्पत्ति (भूमि अधिग्रहण के रूप में जबरन तथा कम कीमतों पर किया गया हस्तान्तरण) से लिया गया हिस्सा सरकारी कर वसूली के आसपास आराम से पहुँच जायेगा। और आगे चलिए। कम्पनियों और सम्पत्तिवान तबकों के पास लगभग 1.16 लाख करोड़ रुपये का सरकारी कर बकाया है। इस मुट्ठी भर तबके को हर साल करों में भारी छूट मिलती है (पिछले साल यह राशि 58 हज़ार करोड़ रुपये आँकी गयी थी)। इस तबके ने बैंकों के लगभग 60 हज़ार करोड़ रुपये हज़म कर रखे हैं और डकार भी नहीं ले रहे हैं। इसके अलावा मुनाफ़े, डिविडेण्ड, ब्याज आदि के रूप में होने वाली प्रत्यक्ष आमदनी का कहना ही क्या! क्या अब भी कोई शुबहा है कि 9.2 प्रतिशत की विकास दर किसके पेट में समा जा रही है। आय और सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण का आलम यह है कि शेयर बाज़ार की प्रतिभूतियों का मोल राष्ट्रीय आय के 90 प्रतिशत के बराबर पहुँच चुका है।

राष्ट्रीय आय के वितरण की इस भीषण असमानता को देखते हुए एक साधारण पाठक भी यह समझ सकता है कि पूँजीवादी सरकारों को पूँजीपतियों की मैनेजमेण्ट कमेटी क्यों कहा जाता है। वित्त मंत्री पी. चिदम्बरम ने अपने बजट भाषण में समावेशी विकास समता और सामाजिक न्याय की दुहाई तो खूब दी है लेकिन एक भी क़दम ऐसा नहीं उठाया है जिससे उनकी इन घोषित प्रतिबद्धताओं की झलक भी मिले। उन्होंने वर्ष 2007-2008 के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामीण विकास और राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार योजना जैसी ध्वजपोत कही जाने वाली तथाकथित आठ कल्याणकारी योजनाओं के लिए जो बजटीय आवण्टन किया है उसकी मामूली चीरफाड़ से ही असलियत सामने आ जाती है।

वित्त मंत्री ने शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में इस बार बजटीय आवण्टन में क्रमशः 34.2 प्रतिशत और 21.9 प्रतिशत बढ़ोत्तरी का खूब हल्ला मचाया है। जबकि असलियत यह है कि इसके बावजूद भी यह आवण्टन जी.डी.पी. के तीन प्रतिशत से भी कम है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि ज़मीनी स्तर पर इन आवण्टनों का लाभ किस हद तक पहुँचेगा यह अब तक के अनुभवों के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है। यहाँ यह भी दिलचस्प है कि शिक्षा मद के आवण्टन की राशि जुटाने के लिए जो 3 प्रतिशत उपकर लगाया गया है उसका बोझ गरीब और अमीर सबको बराबर-बराबर उठाना है। शायद वित्तमंत्री महोदय के लिए 'समता के विचार' का अर्थ यह है कि गरीब हो या अमीर सबकी हज़ामत समान भाव से की जाये।

सरकार ने ध्वजपोत कहे जाने वाले आठ कल्याणकारी कार्यक्रमों के बजटीय आवण्टन को बढ़ा हुआ दिखाकर आँखों में धूल झोंकने की कोशिश की है। इन सभी कार्यक्रमों के आवण्टन में औसत बढ़ोत्तरी सात प्रतिशत हुई है लेकिन अगर औसतन लगभग सात प्रतिशत मुद्रास्फीति पर ग़ौर करें तो यह बढ़ोत्तरी लगभग शून्य हो जाती है। खाद्यान्न सब्सिडी के आवण्टन में बढ़ोत्तरी मात्र 6.2 प्रतिशत है जो वस्तुतः कटौती के समान है। इसी तरह का घपला हमें राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार गारण्टी के आवण्टन में दिखायी देता है। पिछले बजट में इस योजना को 200 जिलों में शुरू करने की घोषणा करते हुए 11,300 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था जो आवश्यकता से काफ़ी कम था। इस बार 130 और नये जिलों तक इस योजना का दायरा बढ़ाया गया है लेकिन पिछले साल की आवण्टित रकम में केवल 700 करोड़ रुपये की वृद्धि की गयी है। यानी जिलों की संख्या में 40 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी जबकि धन आवण्टन में बढ़ोत्तरी की गयी है मात्र 6 प्रतिशत।

पिछड़ती खेती : घड़ियाली आँसू

कृषि क्षेत्र के लिए भी वित्तमंत्री महोदय ने जो बजटीय प्रावधान किये हैं वे "विकास" की दौड़ में पिछड़ती खेती में शक्ति संचार करने में बिल्कुल सक्षम नहीं हैं। लेकिन बजटीय प्रावधानों की समीक्षा से भी पहले हमें यह बुनियादी बात समझनी चाहिए कि पूँजीवादी विकास के आगे बढ़ने के साथ उद्योग व सेवाओं की तुलना में कृषि क्षेत्र का पिछड़ता जाना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जिसे बजटीय प्रावधानों या सरकारी इच्छाशक्ति से नहीं रोका जा सकता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन की प्रेरक शक्ति मुनाफ़ा होती है। जैसे-जैसे पूँजी की पैठ विभिन्न माध्यमों-रास्तों से ग्रामीण-कृषि क्षेत्र में बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उत्पादन की प्रेरक शक्ति उपभोग के स्थान पर अधिकाधिक मुनाफ़ा होता जाता है। खेती अधिक से अधिक पूँजीसघन होती जाती है यानी उन्नतशील बीज रासायनिक उर्वरकों व कीटनाशकों का अधिकाधिक उपयोग, सिंचाई के लिए वर्षा के बजाय ट्यूबवेलों, पम्पसेटों पर निर्भरता का बढ़ते जाना। इसके साथ ही फसलों के पैटर्न पर भी असर पड़ता है। किसान खाद्यान्नों के उत्पादन के बजाय उन नक़दी फसलों के उत्पादन पर अधिक ज़ोर देने लगते हैं जो अधिक से अधिक मुनाफ़ा दें। देश में नयी आर्थिक नीतियाँ लागू

होने के बाद से खेती के पूँजीवादीकरण की प्रक्रिया अत्यधिक तेज हो गयी है। इजारेदार औद्योगिक घरानों के मुनाफ़ों को बढ़ाने के लिए खेती के परम्परागत तरीकों के बजाय फसलों के वैविध्यीकरण के नाम पर नकदी फसलों के उत्पादन को बढ़ावा दिया जा रहा है। इससे खाद्यान्न उत्पादन की दर में निरन्तर गिरावट का रुख सामने आ रहा है। इसके साथ ही उपजों की ख़रीद-फ़रोख़्त के क्षेत्र में खुले बाज़ार की छूट, वायदा कारोबार की छूट, सरकार द्वारा खाद्यान्नों की अनिवार्य ख़रीद में कमी और सार्वजनिक वितरण व्यवस्था लगातार कमज़ोर होते जाने का ही असर खाद्यान्नों की कीमतों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी के रूप में सामने आया है। बढ़ती मुद्रास्फीति के लिए भी एक हद तक कम कृषि उपज ज़िम्मेदार है। खेती के पूँजीवादी विकास की इस प्रक्रिया में कृषि क्षेत्र औद्योगिक और सेवा क्षेत्र से पिछड़ता जाता है (देखें तालिका दो और तीन)। एक तो कृषि की उत्पादकता बढ़ाने की एक सीमा होती है और दूसरे उत्पादकता बढ़ाने के लिए कृषि क्षेत्र के बुनियादी और अवरचनागत ढाँचे के विकास की खातिर जितने बड़े स्तर पर निवेश की आवश्यकता होती है उसके प्रति पूँजीवादी सरकारें उदासीन बनी रहती हैं। किसी दूरगामी लाभ के बजाय कारपोरेट घरानों के तात्कालिक हितों के प्रति अधिक संवेदनशीलता दिखाती हैं। तालिका-चार में हम देख सकते हैं कि किस प्रकार हमारे देश में कृषि क्षेत्र में सार्वजनिक निवेश लगातार कम होता गया है।

आर्थिक सर्वेक्षण में कृषि क्षेत्र के संकट के कारणों की चर्चा करते हुए "निवेश की कमी, उर्वरकों के उपयोग में असन्तुलन, बीजों की कम अदला-बदली, विकृतिपूर्ण प्रोत्साहन प्रणाली एवं फसल के बाद मूल्य सृजन की कमी" को गिनाया गया है। लेकिन नये बजट में कृषि क्षेत्र के लिए जो आवण्टन किया गया है वह ऊँट के मुँह में जीरे के बराबर है। पिछले वर्ष कृषि क्षेत्र में केन्द्रीय राजस्व तथा पूँजीगत आवण्टन 84.42 अरब रुपये था जिसे इस साल बढ़ाकर 94.21 अरब रुपये किया गया है। यानी पिछले साल की तुलना में केवल दस प्रतिशत अतिरिक्त आवण्टन। अगर सात प्रतिशत को छू रही मुद्रास्फीति को ध्यान में रखें तो इस आवण्टन की असलियत सामने आ जाती है। इस बार भी यह राशि सकल कृषि उत्पाद के दो प्रतिशत तक भी नहीं पहुँचती। हालाँकि वित्तमंत्री महोदय ने अपने बजट भाषण में कृषि क्षेत्र पर अहसान करने के अन्दाज़ में कहा कि "मैंने अभी 15 मिनट या इससे अधिक समय कृषि पर चर्चा में दिया है।" लेकिन ठोस आवण्टन की बात आने पर वही ढाक के तीन पात। चिदम्बरम लफ़्फ़ाज़ियों से कृषि क्षेत्र का संकट दूर करना चाहते हैं इसीलिए अपने बजट भाषण के अन्त में सन्त कवि तिरुवल्लुवर को उद्धृत करना नहीं भूले -- 'हलवाहे अगर अपना हाथ जोड़े रहें तो/अपरिग्रही सन्त भी मुक्ति न पा सकेंगे'।

लेकिन 9.2 प्रतिशत वृद्धि दर के मद में चूर चिदम्बरम को तो कारपोरेट महारथियों का चित्त विजय करना है। उन्हें हलवाहों की फ़िक्र भला क्यों हो! विशेष आर्थिक क्षेत्र ('सेज़') के नाम पर लाखों हेक्टेयर कृषि योग्य ज़मीन पूँजीपतियों को औने-पौने दामों पर बेची जा रही है। कई अर्थशास्त्री और एम.एस. स्वामीनाथन जैसे चर्चित कृषि विशेषज्ञ भी आने वाले दिनों में भीषण खाद्यान्न संकट की चेतावनियाँ दे रहे हैं। उद्योग और सेवा क्षेत्र की तुलना में पिछड़ती खेती का अन्दाज़ा इससे भी लगाया जा सकता है कि सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा लगातार घटते-घटते आज 20 प्रतिशत से भी कम हो गया है जबकि सेवा क्षेत्र का योगदान 55

तालिका : दो
अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर (प्रतिशत)
(क्षेत्रवार और समग्र)

वर्ष	विनिर्माण	सेवा क्षेत्र	कृषि क्षेत्र	सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.)
2004-05	8.7	9.6	2.2	7.5
2005-06	9.1	11.3	2.0	9.0*
2006-07	11.3	11.2	2.7	9.2**

स्रोत : भारत सरकार का आर्थिक सर्वेक्षण 2006-2007
*त्वरित आकलन **अग्रिम आकलन

तालिका : तीन
पिछड़ती खेती (स्थिर कीमतों पर)

पंचवर्षीय योजना	सकल घरेलू उत्पाद	कृषि और सहायक क्षेत्र
सातवीं योजना (1985-90)	6.0	3.3
वार्षिक योजना (1990-92)	3.4	1.3
आठवीं योजना (1992-97)	6.7	4.7
नवीं योजना (1997-2002)	5.5	2.7
दसवीं योजना (2002-07)	7.3	2.2

तालिका-चार
कृषि में सार्वजनिक निवेश

अवधि	सार्वजनिक निवेश (अरब रुपयों में)	सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत
1980-84	70.33	4.08
1985-89	56.78	2.90
1990-94	48.44	2.07
1995-99	47.90	1.75
2000-02	45.65	1.54

स्रोत : केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन

प्रतिशत और उद्योग का 25 प्रतिशत तक पहुँच गया है। सेवा क्षेत्र का यह अभूतपूर्व विस्तार भूमण्डलीकरण के दौर के पूँजीवाद, या जिसे कुछ राजनीतिक विश्लेषक परवर्ती पूँजीवाद कहना पसन्द करते हैं, की विशेषता है।

ऊँची विकास दर और मुद्रास्फीति : पूँजीवादी विकास की हमजोलियाँ

अगर पूँजीवादी सरकारों को महँगाई-मुद्रास्फीति बढ़ने के सामाजिक-राजनीतिक परिणामों की चिन्ता न होती तो उनके माथे पर कोई बल नहीं पड़ता। चीज़ों की कीमतें बढ़ाना और मुद्रास्फीति बढ़ाकर थोड़े समय में तेज़ी से अपना मुनाफ़ा बढ़ाना पूँजीपतियों का हथकण्डा होता है। लेकिन लम्बे समय तक मुद्रास्फीति का बने रहना या इसकी वृद्धि दर का दहाई के अंकों को पार कर जाना उलटकर मुनाफ़े को नुकसान भी पहुँचाने लगता है। क्योंकि इससे ख़रीदारों की क्रय शक्ति घट जाती है और मालों की माँग कम हो जाती है जिसका सीधा असर उत्पादक गतिविधियों पर पड़ता है और इससे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर कम हो जाती है। इसलिए सरकारें एक हद तक मुद्रास्फीति नियंत्रित करती भी नज़र आती हैं। यानी, बढ़ती महंगाई सें 'आम आदमी' को होने वाली परेशानियों की वजह से नहीं वरन पूँजीवादी विकास की ज़रूरतों से सरकारें मुद्रास्फीति कम करने की कवायदें करती नज़र आती हैं। चिदम्बरम ने नये बजट में भी मुद्रास्फीति कम करने के कुछ उपाय किये हैं। लेकिन एक स्तर तक मुद्रस्फीति का बने रहना पूँजीवादी विकास के लिए शुभ और पूँजीपतियों के लिए खुशी का सबब होता है। इसी सच्चाई को चिदम्बरम ने अपने एक बयान में स्वीकार किया था। उन्होंने कहा था कि विकास की मौजूदा दर को बनाये रखने के लिए एक सीमा तक मुद्रास्फीति का बने रहना ज़रूरी है और लोगों को इसके साथ जीने की आदत डाल लेनी चाहिए। हालांकि यह बयान उन्होंने तब दिया था जब पंजाब और उत्तराखंड के चुनाव नतीजे आये नहीं थे। अब मुद्रास्फीति को लेकर प्रकट की जाने वाली "चिन्ताएँ" चुनावी नतीजों की मार से निकल रही हैं। आखिर पूँजीपतियों की सेवा करने के लिए भी एक हद तक जनता के प्रति जवाबदेही दिखाना और उसका विश्वास अर्जित करना ज़रूरी होता है।

चिदम्बरम ने अपने बजट भाषण में लोगों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि उनके द्वारा उठाये गये क़दमों से मुद्रास्फीति पाँच से साढ़े पाँच फीसदी बढ़ोत्तरी के अपने दशकों से प्रचलित ढर्रे पर आ जायेगी मानो यह दर कोई प्राकृतिक नियम हो। दरअसल, दशकों से बनी हुई 5.5 प्रतिशत की मुद्रास्फीति से पूँजीपतियों-व्यापारियों-सटोरियों का मुट्ठीभर तबका राष्ट्रीय आय का अधिक से अधिक हिस्सा हड़पता चला आ रहा है।

पिछले दिनों मुद्रास्फीति बढ़ने के कारणों के बारे में वित्तमंत्री और तमाम बुर्जुआ अर्थशास्त्री यह विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं कि यह अर्थव्यवस्था की ओवरहीटिंग का नतीजा है। जब किसी अर्थव्यवस्था की तेजी से संवृद्धि होती है तब उत्पादन की क्षमता अपने अधिकतम स्तर के करीब पहुँच जाती है। परिणामस्वरूप माँग की तुलना में वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति कम पड़ती है, जिससे कीमतें बढ़ने लगती हैं। इसे ही ओवरहीटिंग कहा जाता है। इससे निपटने के नाम पर बजट में गेहूँ और चावल के वायदा कारोबार पर रोक लगायी गयी है, कुछ वस्तुओं का आयात किया गया है और कुछ के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। यह माँग की तुलना में पूर्ति के पक्ष को मज़बूत करने के नाम पर किया गया है। लेकिन सवाल यह है कि यह असन्तुलन पैदा ही क्यों हुआ? अचानक इतनी माँग बढ़ी ही क्यों? इसका सीधे-सीधे जवाब देने से वित्तमंत्री सहित सभी सरकारी नुमाइन्दे कतराते हैं।

अर्थव्यस्था की यह तथाकथित ओवरहीटिंग उस कृत्रिम माँग के कारण पैदा हुई है जो खुले बाज़ार की नीतियों के कारण आयी है। कृषि उपजों के व्यापार के बड़े खिलाड़ियों को लाभ पहुँचाने के लिए इस क्षेत्र में भी वायदा कारोबार की अनुमति और अनियंत्रित आयात-निर्यात नीति की घोषणा की गयी। खाद्यान्नों और सब्ज़ियों की कीमतों में बढ़ोत्तरी का बुनियादी कारण यही है। पिछले एक साल के भीतर दालों का थोक भाव 25 प्रतिशत, गेहूँ का 15 प्रतिशत, फलों का 12 प्रतिशत और दूध का 6 प्रतिशत चढ़ चुका है। कृषि उपजों के क्षेत्र में वायदा कारोबार और आयात-निर्यात असन्तुलन के उदाहरणों से बात आसानी से समझी जा सकती है।

पिछले तीन सालों में कृषि उपजों के क्षेत्र में वायदा कारोबार लगभग सत्रह गुना बढ़ गया है। 2003-04 में यह मात्र 1.29 लाख करोड़ रुपये था जो 2005-06 में बढ़कर 21.34 लाख करोड़ रुपये हो गया। सट्टेबाज़ी की ताक़त अब इतनी बढ़ गयी है कि जिन लोगों ने इस क्षेत्र में बड़े-बड़े निवेश कर रखे हैं वे हर हाल में यह सुनिश्चित कर ले जाते हैं कि इन चीजों की कीमतें न गिरने पायें। वे जितनी ज़्यादा कीमतें बढ़ाते हैं उतना ही ज़्यादा पैसा गरीब और मध्यवर्ग की जेब से निकलता जाता है। इसके बाद सट्टेबाज़ इस पैसे का इस्तेमाल ज़मीन-जायदाद की कीमतें चढ़ाने में करते हैं। इस क्षेत्र में देखी जा रही बढ़त इस तरफ और भी ज़्यादा निवेश खींचकर लाती है जिससे अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता बढ़ती है। इसका नतीजा आर्थिक वृद्धि के रूप में देखने को मिलता है।

वित्तमंत्री और तमाम अर्थशास्त्री खाद्यान्नों की कीमतें घटाने के लिए सारी आशाएँ इस मौसम की अच्छी फसल पर केन्द्रित किये हुए हैं और भविष्य में उनकी उत्पादकता बढ़ाने की बात भी कर रहे हैं लेकिन यह भी लोगों को झाँसा देना ही है। सच्चाई यह है कि पिछले दो वर्षों के दौरान खाद्यान्न उत्पादन में कोई गिरावट नहीं आयी है। भारतीय कृषि को भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के साथ समेकित करने के नाम पर अनावश्यक आयात-निर्यात को बढ़ावा दिया जा रहा है। मसलन, ऊँची दरों पर गेहूँ का आयात उस समय किया गया जब इसके उत्पादन में कमी आने का कहीं कोई संकेत नहीं था। इसके साथ ही, इस क्षेत्र के कई बड़े खिलाड़ियों को, जिनमें कुछ भूमण्डलीय खाद्य महारथी भी शामिल हैं, किसानों से सीधी ख़रीद की अनुमति दे दी गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि सरकारी गोदाम खाली पड़े रह गये।

कुछ आर्थिक विश्लेषकों के आँकड़ों के अनुसार वर्ष 2006 की ख़रीद के सीज़न में निजी कम्पनियों ने कुल 30 लाख टन गेहूँ की ख़रीद की जबकि सरकार द्वारा 55 लाख टन गेहूँ के आयात ने भारत को दुनिया का सबसे ज़्यादा गेहूँ आयात करने वाला देश बना दिया। यह अभी तक रहस्य ही बना हुआ है कि देशी और विदेशी बड़े व्यापारियों ने किसानों से गेहूँ ख़रीदकर जो ज़खीरा इकट्ठा किया, वह किस ब्लैकहोल में समा गया। जबकि देश में चढ़ी गेहूँ की कीमतें नीचे लाने के नाम पर इसका काफ़ी ऊँची दरों पर आयात किया गया। दूसरी तरफ देश में चीनी का जमाव काफ़ी ज़्यादा हो जाने के कारण खुले बाज़ार में इसकी कीमतें नीचे न आने देने के लिए सरकार इसके निर्यात की इजाज़त दे रही है। इसी तरह दलहन और मक्का के भी निर्यात की इजाज़त दी गयी जबकि हमारा देश इनका भी बड़ा आयातक है।

खाद्यान्न व्यापार के देशी-विदेशी बड़े खिलाड़ियों को लाभ पहुँचाने के लिए सरकार ने यह जो गड़बड़झाला किया है उस पर से ध्यान हटाने के लिए महँगाई और मुद्रास्फीति का ठीकरा अपर्याप्त आपूर्ति के सिर फोड़ा जा रहा है। इन मुनाफ़ाखोरों को फायदा पहुँचाने के लिए ही सरकार ने आवश्यक वस्तु अधिनियम में ढील दी है। खुले बाज़ार के इस खुले खेल में यह पता लगाना सरकार के लिए भी मुश्किल है कि इन लोगों ने सट्टेबाज़ी के लिए खाद्यान्नों और सब्ज़ियों--जिनमें प्याज़ भी शामिल है--की कितनी मात्रा दबा रखी है।

वित्तमंत्री महोदय ने मुद्रास्फीति रोकने की बजटीय कवायद के तहत 'आपूर्ति पक्ष' को मजबूत करने की जो घोषणाएँ की हैं वे महज़ तात्कालिक हैं क्योंकि बुनियादी नीतियों की दिशा उनके उलट है। खुले बाज़ार की शक्तियों की सरकार पर जो पकड़ है उसके कारण ये मजबूरी में कसे गये पेंच जल्द ही ढीले कर दिये जायेंगे। फिर मुद्रास्फीति बढ़ने का एक चरण आयेगा, फिर हल्ला मचेगा, फिर कुछ फ़ौरी क़वायदें की जायेंगी और पूँजीवादी लूट का यह कारोबार बदस्तूर जारी रहेगा।

यही बात मुद्रास्फीति घटाने के लिए रिज़र्व बैंक द्वारा की जाने वाली मौद्रिक क़वायदों पर भी लागू होती है। बाज़ार में मुद्रा की अधिकता को कम करने के लिए रिज़र्व बैंक बचत पर ब्याज बढ़ाने की घोषणा करता है जिससे एक हद तक पैसा वस्तुओं और सेवाओं के बाज़ार में खर्च होने के बजाय बैंक में ज़्यादा जमा होने लगता है। माँग में सीमित कमी आती है और इस तरह माँग-पूर्ति का सन्तुलन दुरुस्त होने से मुद्रास्फीति नीचे गिरती है। लेकिन जमा पर ज़्यादा ब्याज देने से होने वाले घाटे की भरपाई के लिए बैंक कर्ज़ों पर भी ब्याज दर बढ़ा देते हैं जिसका नकारात्मक असर निवेश पर पड़ता है। फलतः अर्थव्यवस्था में मन्दी के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इससे उबरने के लिए उल्टी दिशा में मौद्रिक क़वायद शुरू होती है। फलतः मुद्रास्फीति बढ़नी शुरू होती है, माँग बढ़ती है, अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर बढ़ती है। इस तरह यह गोलमाल चलता रहता है। कहने का मतलब यह कि मुद्रास्फीति का कोई स्थायी या दूरगामी इलाज पूँजीवाद के पास नहीं है। पूँजीवादी विकास और मुद्रास्फीति का चोली दामन का साथ है।

यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि ऊँची वृद्धि दर का एक कारण उधारी है क्योंकि बैंकों ने उधारी पर ब्याज दर कम कर दी है। यह खुदरा उधारी और हाउसिंग फाइनेंस पूरी दुनिया में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को जिलाये हुए हैं। इसके ख़तरों के मद्देनज़र पिछले दिनों रिज़र्व बैंक ने इन बाज़ारों में अत्यधिक सक्रियता के लिए बैंकों को फटकार लगायी है। लेकिन इसका कोई असर नहीं होने वाला। यह प्रवृत्ति भी भूमण्डलीकृत पूँजीवाद की चारित्रिक विशेषता बन चुकी है।

शेयर बाज़ार की नाजुकमिज़ाजी : उड़नछू पूँजी की करामात

पिछले दिनों भारतीय अर्थव्यवस्था की ऊँची वृद्धि दर के साथ-साथ शेयर बाज़ार के संवेदी सूचकांक में अक्सर आने वाली उछालें भी सुर्खियाँ बनती रहती हैं। शेयर बाज़ार के भूमण्डलीय गड़बड़घोटाले से नावाकिफ़ लोगों को संवेदी सूचकांक की उछाल और गिरावट अर्थव्यवस्था के तापमान को मापने का थर्मामीटर नज़र आता होगा। लेकिन अब वस्तुतः बुनियादी अर्थव्यवस्था के विकास से इसका कोई सीधा रिश्ता नहीं रह गया है। प्राथमिक स्तर का शेयर कारोबार, जो एक हद तक अर्थव्यवस्था की वास्तविक हलचलों का पैमाना माना जा सकता है, आज समूचे शेयर कारोबार का एक बेहद छोटा हिस्सा रह गया है। अब प्राथमिक शेयरों के ऊपर कई स्तरों की सट्टेबाज़ी का बाज़ार इतना विस्तृत हो चुका है कि अब शेयर बाज़ार वस्तुतः जुआघर बन चुके हैं जिनमें अरबों-खरबों की मुद्रा-पूँजी हवा के गुब्बारों की तरह फूलती जाती है। दूसरे शब्दों में, शेयर बाज़ार आज केवल ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनियों द्वारा पूँजी जुटाने का माध्यम ही नहीं बल्कि यह मुद्रा-पूँजी के निवेश का एक स्वतंत्र स्वायत्त क्षेत्र बन चुका है। यह प्राथमिक शेयरों के द्वितीयक, तृतीयक, चतुर्थक स्तरों पर सट्टाबाज़ार के ज़रिये निरन्तर क्रियाशील रहता है।

भारत में नयी आर्थिक नीतियाँ लागू होने के बाद शेयर कारोबार आश्चर्यजनक रूप से विस्तारित हुआ है। एक के बाद एक आने वाली सरकारों ने शेयर बाज़ार में निवेश को प्रोत्साहन देने के लिए जो तरह-तरह की छूटें दी हैं उसके कारण भारी परिमाण में देशी-विदेशी मुद्रा पूँजी आकर निवेशित हुई है। शेयर बाज़ार के बड़े खिलाड़ी उद्योगों और बैंकों से साँठ-गाँठ करके अनेकानेक प्रकार से शेयरों के भाव चढ़ाते-गिराते रहते हैं और रातों-रात अरबों का वारा-न्यारा करते हैं। शेयर बाज़ार में निवेश का पैमाना या संवेदी सूचकांक का चढ़ना-गिरना अर्थव्यवस्था की वास्तविक उत्पादक गतिविधियों से वस्तुतः इतना कम संचालित होता है कि इसका ठीक-ठीक पता लगाना मुश्किल होता है कि कब किसी अनिष्टकारी आर्थिक सूचना या राजनीतिक घटनाक्रम या यहाँ तक कि किसी अफ़वाह मात्र से शेयर बाज़ार औंधे मुँह गिर पड़े। शेयर बाज़ार में निवेशित हो रही यह पूँजी इतनी नाजुक मिज़ाज है कि कब मात्र मौसम की रंगत बदलने से होने वाले सम्भावित नुकसान की आशंका में बिकवाली शुरू हो जाये और विदेशी संस्थागत निवेशक शेयर बाज़ार से पूँजी निकालकर रफ़ू-चक्कर हो जायें, कुछ कहा नहीं जा सकता। कुछ सालों पहले पूर्वी एशियाई देशों में जो शेयर विध्वंस हुआ था वह इसी उड़नछू या आवारा पूँजी की करतूत थी।

यह उड़नछू पूँजी आज भारत के शेयर बाज़ार में भारी परिमाण में लगी हुई है जो उपनी नाजुकमिज़ाजी के कारण सेंसेक्स को उठाती-गिराती रहती है। सेंसेक्स में पिछले लम्बे अरसे से जो भारी उछाल दिखायी देती रही है वह विदेशी संस्थागत निवेशकों के कारण ही है। वित्तमंत्री चिदम्बरम द्वारा बजट पेश करने के बाद भारत में शेयर बाज़ार में जो भारी गिरावट आयी उसका कारण एक हद तक कुछ बजटीय प्रावधान भी थे। शेयर निवेशकों को वित्तमंत्री से कारपोरेट जगत और शेयर बाज़ार के लिए करों में किसी नयी छूट या कुछ अन्य रियायतों की उम्मीद थी जो पूरी नहीं हुई। इन उम्मीदों के उलट वित्तमंत्री ने केन्द्रीय बैंकों की माँगें पूरी करते हुए इस बजट में लाभांश पर करों में छूट वापस ले ली जिससे लोग शेयर बाज़ार में पैसा लगाने के बजाय बैंकों में जमा करने के लिए प्रोत्साहित हों। लेकिन भारत के शेयर बाज़ार में गिरावट का कारण मुख्य रूप से विदेशी उड़नछू पूँजी की करतूत ही थी। वैसे शेयर बाज़ार के कुछ बुर्जुआ जानकारों का यह मानना है कि यह गिरावट चीन द्वारा अपनी अर्थव्यवस्था की 'ओवरहीटिंग' रोकने के लिए उठाये गये कुछ कदमों की वजह से है। कुछ का यह भी मानना है कि इसका एक और कारण डालर के मुकाबले येन की कीमत बढ़ना भी है। हो सकता है इस तात्कालिक गिरावट के पीछे यही कारण हों लेकिन बुनियादी बात है उड़नछू पूँजी की करामात। यह अनुत्पादक पूँजीनिवेश आज के पूँजीवाद की एक लाक्षणिक विशेषता बन चुका है जो विश्व पूँजीवाद की

अधिकाधिक परजीवी और मरणशील प्रकृति को ही परिलक्षित कर रहा है।

'समावेशी विकास' का रास्ता--पूँजीवाद का विनाश

वित्तमंत्री पी. चिदम्बरम ने अपने बजट भाषण में पंचवर्षीय योजना के 'अप्रोच पेपर' को उद्धृत करते हुए लफ़्फ़ाज़ी की है कि उनका मुख्य ज़ोर 'समावेशी विकास, समता और सामाजिक न्याय' पर केन्द्रित है। यह सौ फीसदी लफ़्फ़ाज़ी इसलिए है कि आर्थिक नीतियों की दिशा उलटे बिना और पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के बने रहने के बावजूद आख़िर वह कौन सा चमत्कार घटित हो जायेगा कि विकास का मौजूदा पैटर्न बदल जायेगा। वंचना के महासागर के बीच समृद्धि के टापुओं का निर्माण तो पूँजीवाद की चारित्रिक विशेषता है जिसे लफ़्फ़ाज़ियों से नहीं बदला जा सकता। दरअसल देश का मौजूदा विकास जिस भविष्य की ओर बढ़ रहा है वह नवउदारवादी पूँजीवादी अर्थशास्त्र के चश्मे से नज़र ही नहीं आ सकता। लेकिन यही चश्मा पहनकर पूँजीपतियों का यह मक्कार मुनीम मुस्कुराते हुए जनता को बेवकूफ़ बनाने की क़वायदों में जुटा हुआ है।

लेकिन भविष्य की दिशा बहुत स्पष्ट है। भारतीय समाज में समृद्धि और वंचना के इस भीषण अन्तरविरोध से भावी प्रचण्ड सामाजिक विस्फोटों की ज़मीन पकती जा रही है। आर्थिक विकास की इस यशोगाथा का अन्तिम अध्याय पूँजीवादी समृद्धि के टापुओं के ध्वंसावशेषों की बुनियाद पर लिखा जायेगा और लिखने वाले होंगे वे करोड़ों-करोड़ शोषत-वंचित जन जिनके लिए इन टापुओं में कोई जगह नहीं है। 'समावेशी विकास', सामाजिक न्याय व समता का रास्ता पूँजीवाद के विनाश से होकर गुज़रता है और मेहनतकशों के समाजवाद की ओर जाता है।

-- अरविन्द

(1 मार्च, 2007)

अनुराग ट्रस्ट बाल साहित्य की सम्पूर्ण पुस्तक सूची

1. दान्को का जलता हुआ हृदय	मक्सिम गोर्की	15.00
2. दादा आर्खिप और ल्योंका	मक्सिम गोर्की	30.00
3. सेमागा कैसे पकड़ा गया	मक्सिम गोर्की	15.00
4. बाज़ का गीत	मक्सिम गोर्की	15.00
5. एक छोटे लड़के और लड़की की कहानी	मक्सिम गोर्की	15.00
6. वांका	अन्तोन चेखव	15.00
7. नन्हा राजकुमार	आतुआन द सैंतेग्ज़ूपेरी	40.00
8. तोता	रवीन्द्रनाथ टैगोर	15.00
9. पोस्टमास्टर	रवीन्द्रनाथ टैगोर	15.00
10. काबुलीवाला	रवीन्द्रनाथ टैगोर	15.00
11. अपना-अपना भाग्य	जैनेन्द्र	15.00
12. हमारा दिमाग़ कैसे काम करता है -- किशोर		20.00
13. रामलीला	प्रेमचन्द	15.00
14. दो बैलों की कथा	प्रेमचन्द	20.00
15. ईदगाह	प्रेमचन्द	20.00
16. लॉटरी	प्रेमचन्द	20.00
17. गुल्ली-डण्डा	प्रेमचन्द	10.00
18. बड़े भाई साहब	प्रेमचन्द	15.00
19. मोटेराम शास्त्री	प्रेमचन्द	20.00
20. हार की जीत	सुदर्शन	15.00
21. इवान	व्लादीमिर बोगोमोलोव	40.00
22. चमकता लाल सितारा	ली शिन-थ्येन	50.00
23. उल्टा दरख़्त	कृश्नचन्दर	35.00
24. हरामी	मिखाईल शोलाख़ोव	25.00
25. दोन किहोते	सर्वान्तेस (नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	20.00
26. आश्चर्यलोक में एलिस -- लुइस कैरोल	(नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	25.00
27. रानी लक्ष्मीबाई -- वृन्दावनलाल वर्मा	(नाट्य रूपान्तर - नीलेश रघुवंशी)	25.00
28. ज़िन्दगी से प्यार (दो साहसिक कहानियाँ)	-- जैक लण्डन	30.00
29. गुदड़ी लाल के कारनामे	सुन याओ च्युन	40.00
30. लाखी	अन्तोन चेख़व	15.00
31. बेझिन चरागाह	इवान तुर्गनेव	15.00
32. हिरनौटा	द्मीत्री मामिन सिदीर्याक	10.00
33. घर की ललक	निकोलाई तेलेशोव	10.00
34. बस एक याद	लेओनिद अन्द्रेयेव	10.00
35. मदारी	अलेक्सान्द्र कुप्रिन	10.00
36. पराए घोंसले में	फ़्योदोर दोस्तोयेव्स्की	10.00
37. कोहकाफ़ का बन्दी	तॉलस्ताय	12.00
38. मनमानी के मज़े	सेर्गेई मिखालोव	15.00
39. सदानन्द की छोटी दुनिया	सत्यजीत राय	10.00
40. छत पर फँस गया बिल्ला	विताउते जिलिन्सकाइते	15.00
41. गोलू के कारनामे	रामबाबू	12.00
42. दो साहसिक कहानियाँ	होल्गर पुक्क	10.00
43. आम ज़िन्दगी की मज़ेदार कहानियाँ	होल्गर पुक्क	10.00
44. कंगूरे वाले मकान का रहस्यमय मामला	होल्गर पुक्क	8.00
45. रोज़मर्रे की कहानियाँ	होल्गर पुक्क	10.00
46. अजीबोगरीब किस्से	होल्गर पुक्क	10.00
47. नये ज़माने की परिकथाएँ	होल्गर पुक्क	10.00
48. किस्सा यह कि एक देहाती ने दो अफसरों का कैसे पेट भरा	-- मिखाइल सल्तिकोव-श्चेद्रिन	10.00
49. बहादुर	अमरकान्त	10.00

मुख्य वितरक : जनचेतना

परिकल्पना प्रकाशन की कुछ अन्य पुस्तकें

पृष्ठ 54 से आगे

स्त्री-विमर्श

1. दुर्ग द्वार पर दस्तक	**कात्यायनी**	**50.00**

मार्क्सवाद

1. माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य	**-- रेमण्ड लोट्टा**	**25.00**
2. क्रान्ति का विज्ञान	**-- लेनी वुल्फ़**	**10.00**

नौजवानों के लिए विशेष

1. नौजवानों से दो बातें	**-- पीटर क्रोपोटकिन**	**5.00**
2. क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा	**-- भगतसिंह**	**5.00**
3. मैं नास्तिक क्यों हूँ और 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका	**-- भगतसिंह**	**5.00**
4. बम का दर्शन और अदालत में बयान	**-- भगतसिंह**	**5.00**
5. जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो	**-- भगतसिंह**	**5.00**
6. भगतसिंह ने कहा... (चुने हुए उद्धरण)		**5.00**
7. जय जीवन!	**-- निकोलाई आस्त्रोवस्की**	**50.00**

नई पीढ़ी के निर्माण के लिए

1. एक पुस्तक माता-पिता के लिए	**-- अन्तोन मकारेन्को**	**80.00**
2. मेरा हृदय बच्चों के लिए	**-- वसीली सुख़ोम्लीन्स्की**	**75.00**

मध्यपूर्व में एक और आत्मघाती दुस्साहस की राह पर अमेरिका

इराक़ में बुरी तरह फँसे होने के बावजूद तेल की कभी न बुझने वाली प्यास अमेरिका को मध्य पूर्व में एक बार फिर एक ऐसे दुस्साहस की ओर ले जा रही है जो उसके लिए पहले से भी ज़्यादा आत्मघाती साबित होने वाला है। ईरान पर हमला आसन्न भले ही न हो पर जिस तरह अमेरिका इस मुद्दे को लगातार तूल दे रहा है और इससे मध्यपूर्व में अमेरिकी हित जिस तरह जुड़े हुए हैं उसे देखते हुए ऐसा लग रहा है कि अमेरिका का पीछे हटना लगभग नामुमकिन है और आज नहीं तो कल उसकी नीतियाँ ईरान पर हमले की ओर ही ले जायेंगी। कहने की ज़रूरत नहीं है कि अगर ऐसा हुआ पहले से बुरी तरह दलदल में फँसा अमेरिकी साम्राज्यवाद का हाथी और भी बुरी तरह धँस जायेगा।

इराक़ पर हमले के लिए गढ़े गये तमाम अमेरिकी झूठों की तर्ज़ पर ईरान पर हमले के लिए भी माहौल तैयार करने में अमेरिकी प्रशासन और कारपोरेट मीडिया जुट गये हैं। डाउनिंग स्ट्रीट मेमो के खुलासे के बाद अब हर कोई जानता है कि इराक़ पर हमला करके सरकार का तख़्ता पलट करने का निर्णय हमले के एक साल पहले जुलाई 2003 में ही लिया जा चुका था जिसके लिए आतंकवाद और जनसंहार के हथियारों को बहाना बनाया जाना था। हथियारों के बारे में मीडिया में तरह-तरह की रिपोर्टें, ख़ुफ़िया एजेंसियों के अनुमान, संयुक्त राष्ट्र की जाँच टीमें और अन्तरराष्ट्रीय क़ानून की दुहाइयाँ, ये सब महज़ दुनिया की जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए थे। ठीक इसी तर्ज़ पर अब ईरान के खिलाफ़ हमले का माहौल बनाया जा रहा है। कोई आश्चर्य नहीं कि जल्द ही मीडिया में एक ऐसा अभियान शुरू किया जाये जिसका मकसद अमेरिकी जनता में ईरान के परमाणु हमले का 11 सितम्बर जैसा आतंक पैदा करना हो।

पिछले कुछ सप्ताह में अमेरिका लगातार माहौल को गरमाने में लगा रहा है। ईरान के ख़िलाफ़ संयुक्त राष्ट्र के प्रतिबन्ध लागू कराने के बाद से सैनिक कार्रवाई की परोक्ष धमकियाँ जारी हैं। फारस की खाड़ी में दो अमेरिकी विमानवाहक पोत पहुँच चुके हैं। तुर्की में सैनिक अड्डों पर एफ़-16 बमवर्षक तैनात कर दिये गये हैं। मध्य पूर्व में अमेरिकी सैन्य कार्रवाईयों की कमान एक ऐसे एडमिरल को सौंपी गयी है जो पहले खाड़ी युद्ध में विमानों से ज़बर्दस्त बमबारी के अभियानों का अनुभवी है। खाड़ी के देशों और सउदी अरब को ईरानी मिसाइलों से बचाने के लिए वहाँ पेट्रियाट मिसाइलें तैनात की जा रही हैं। इतना ही नहीं बुश ने इराक़ में अमेरिकी सेनाओं को ईरानी अफ़सरों को पकड़ने या मार देने की अनुमति दे दी है। इस सब के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि ईरान पर कभी भी हमला हो सकता है। वजह यह नहीं है कि बुश प्रशासन ऐसा करना नहीं चाहता, बल्कि वजह यह है कि उसके पास ऐसा करने के लिए ज़रूरी साधन नहीं है। इराक़ में चार साल से लगातार एक लाख चालीस हज़ार अमेरिकी सैनिक फँसे हुए हैं और बीस हज़ार अतिरिक्त सैनिक भेजे जाने वाले हैं। ऐसे में अमेरिका के पास किसी बड़ी ज़मीनी लड़ाई के लिए सेना नहीं बची है।

फिर अमेरिका लगातार इस मुद्दे को तूल क्यों दे रहा है? वजह साफ़ है। ईरान से टकराव की जड़ में न तो ईरान के परमाणु हथियार हैं और न ही आतंकवाद को इसका तथाकथित समर्थन या इज़रायल का इसका विरोध। असल मुद्दा यह है कि मध्य पूर्व और इसके तेल पर किसका नियंत्रण होगा। इराक़ पर हमला करके वहाँ अपनी पिट्ठू सरकार बैठाने का एक ही मकसद था, दुनिया के दूसरे सबसे बड़े तेल भण्डार पर कब्ज़ा करना और मध्य पूर्व के बीचोबीच विशाल सैनिक अड्डा क़ायम करना जहाँ से अमेरिका अपने क्षेत्रीय दुश्मनों ईरान और सीरिया को सैनिक और आर्थिक रूप से धमका सकता था। ऐसा करने में वह एक हद तक ही कामयाब हो पाया क्योंकि इराक़ में ज़बर्दस्त प्रतिरोध संघर्ष ने उसे बुरी तरह फँसा रखा है और इराक़ी तेल पर आज तक उसका पूरा नियंत्रण नहीं हो सका।

सैनिक तैयारियों के साथ-साथ अमेरिका ईरान की आर्थिक घेराबन्दी करने में लगा हुआ है। अमेरिकी वित्त विभाग ने ईरान के पाँचवे सबसे बड़े बैंक, बैंक सिपाह, पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। अमेरिकी दबाव के चलते, जर्मनी के दूसरे सबसे बड़े बैंक ने डॉलर मुद्रा में होने वाले ईरान के कारोबार को सँभालने से इनकार कर दिया है, अन्य यूरोपीय बैंकों ने अपना निवेश कम कर दिया है, तथा ईरान के तेल एवं गैस सेक्टर के विकास के लिए जापान से होने वाला पाँच अरब डॉलर का सौदा रुक गया है क्योंकि ईरान के राजनीतिक भविष्य को लेकर जापान उहापोह में है।

विश्व तेल बाज़ार में तेल मूल्यों में लगातार हो रही गिरावट से ईरान की अर्थव्यवस्था को भारी नुकसान पहुँच रहा है जिसका आधा राजस्व तेल की बिक्री से आता है। पिछले छह महीनों में तेल की कीमतें 78 डॉलर प्रति बैरल से गिर कर 50 डॉलर प्रति बैरल पर आ गयी हैं। अगर यह गिरावट जारी रही तो ईरान का तेल निर्यात घाटे में चला जायेगा। अमेरिकी हमले के साये में ईरान को नये ऋण देने में यूरोपीय बैंकों की हिचकिचाहट के कारण ईरान की स्थिति पहले ही कठिन हो गयी है। तेल में गिरावट के लिए सउदी अरब ज़िम्मेदार है जिसके पीछे अमेरिका खड़ा है। दिसम्बर 2006 में 'न्यूयार्क टाइम्स' की एक रिपोर्ट के अनुसार सउदी अरब के शाह अब्दुल्ला ने अमेरिकी उपराष्ट्रपति डिक चेनी को एक योजना बतायी थी जिसके तहत सउदी तेल का उत्पादन बढ़ाकर कीमतें नीचे लाकर ईरान की अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचाया जाना था। अब इसी पर अमल हो रहा है।

इन आर्थिक दबावों का ईरान पर असर पड़ने लगा है। वहाँ महँगाई और बेरोज़गारी तेजी से बढ़ रहे हैं। आम ईरानियों पर पड़ने वाले दबावों के कारण राजनीतिक असन्तोष फैलने लगा है। दिसम्बर में हुए स्थानीय चुनावों में राष्ट्रपति अहमदीनेजाद के सहयोगियों को करारी हार का सामना करना पड़ा और उन पर दायें-बायें दोनों तरफ से हमले हो रहे हैं।

अमेरिका के लिए सबसे नाराज़ करने वाली बात यह है कि इराक़ में ईरान का असर बढ़ता जा रहा है। सद्दाम हुसैन के तख़्तापलट के बाद इराक़ में अमेरिका ने जो नयी सरकार बनवायी उसमें ईरान समर्थक पार्टियाँ (शिया और कुर्द दोनों) हावी हैं। आज ईरान इराक़ के सबसे बड़े व्यापारिक साझीदारों में से एक है। 2005 में इराक़ ने एक अरब डॉलर का ईरानी माल ख़रीदा। ईरान प्रतिदिन इराक़ की 20 प्रतिशत रसोई गैस और 50 लाख लीटर किरासन तेल की आपूर्ति करता है। वह इराक़ को बड़े पैमाने पर बिजली की आपूर्ति कर रहा है और बनने वाली नयी योजनाओं के ज़रिये इसे चार गुना करने की उसकी योजना है।

बुश प्रशासन किसी भी कीमत पर मध्य पूर्व में ईरान के प्रभाव को कम करना चाहता है। सैनिक घेरेबन्दी, घुड़कियाँ, धमकियाँ, कूटनीतिक अलगाव, उकसानेबाज़ियाँ और आर्थिक दबाव, सबका यही मकसद है। इराक़ की तरह ईरान में सत्ताबदल कराना अमेरिका का लक्ष्य नहीं है लेकिन ईरान को पीछे धकेलने की आक्रामक नीति हमले तक ले जा सकती है, इसके कई कारण हैं।

इराक़ में ईरान के बढ़ते असर के अलावा अमेरिका से टकराव का सबसे बड़ा मुद्दा है ईरान का परमाणु कार्यक्रम। आखिर क्या वजह है कि संयुक्त राष्ट्र के प्रतिबन्धों और अमेरिकी-इज़रायली हमले के ख़तरे के बावजूद ईरान के शासक परमाणु ऊर्जा विकसित करने पर अड़े हुए हैं! वे महज़ इसलिए ऐसा नहीं कर रहे हैं क्योंकि यह मौजूदा सत्ता के पीछे ईरानी जनता को गोलबन्द करने का एक आसान तरीका है। अमेरिका की ज़बर्दस्त बमबारी से ईरान के परमाणु संयंत्रों, सैनिक और आर्थिक ढाँचे (तेल क्षेत्रों सहित) को गम्भीर नुकसान होगा, दसियों हज़ार लोग मारे जायेंगे और ईरान तथा समूचे मध्यपूर्व में भारी अस्थिरता पैदा हो जायेगी। ईरानी सत्ता इतना बड़ा जोखिम महज़ इतने के लिए नहीं उठा सकती। यह भी सच है कि ईरान परमाणु हथियार विकसित करने से अभी बहुत दूर है। ईरान विरोधी प्रचार तेज़ होने से पहले, अमेरिका की ख़ुफ़िया एजेंसियों का आकलन था कि नतांज़ स्थित अपने प्रमुख परमाणु संयंत्र में 50 सेंट्रीफ्यूगों के नष्ट हो जाने तथा कुछ अन्य गम्भीर तकनीकी समस्याओं के कारण ईरान 2015 तक परमाणु हथियार नहीं बना सकती।

ईरान के परमाणु कार्यक्रम के बारे में अमेरिका सरकार का हिस्टीरिया पाखण्ड की पराकाष्ठा है। ईरान ने परमाणु अप्रसार संधि (एनपीटी) तहत अपनी सारी वचनबद्धताएँ पूरी की हैं, फिर भी अमेरिका लगातार दबाव डालकर उस पर संयुक्त राष्ट्र प्रतिबन्ध लागू कराने में सफल रहा। दूसरी ओर, हाल ही में उसने भारत को परमाणु कार्यक्रम में मदद करने की सन्धि की है जिसने कभी एनपीटी पर हस्ताक्षर ही नहीं किये, और मध्यपूर्व की अकेली परमाणु शक्ति इज़रायल को अमेरिका हर साल अरबों डालर की सहायता देता है।

वास्तविकता यह है कि ईरान परमाणु शक्ति हासिल करने के लिए इसलिए ज़ोर लगा रहा है क्योंकि अगर मौजूद प्रवृत्ति जारी रही तो 2015 तक उसके पास निर्यात के लिए तेल नहीं बचा रह जायेगा। ईरान का तेल-उत्पादन लम्बे समय से लगातार गिर रहा है। तीन दशक पहले, ईरान आज के दैनिक उत्पादन, 37 लाख बैरल, का दोगुना तेल पैदा करता था। यह मात्रा भी ओपेक द्वारा ईरान के लिए तय कोटे से तीन लाख बैरल कम ही है, जिससे सरकार को 5.5 अरब डालर का सालाना घाटा हो रहा है। अगर मौजूद प्रवृत्ति बनी रही तो तेल उत्पादन में हर वर्ष 10 प्रतिशत की गिरावट आने का अनुमान है जबकि खपत तो बढ़ती ही रहेगी। निर्यात के लिए तेल नहीं रहा तो सरकार दिवालिया हो जायेगी। इससे जबर्दस्त सामाजिक उथल-पुथल पैदा होगी क्योंकि सरकार की भारी सब्सिडी के बिना ईंधन और भोजन का खर्च ज़्यादातर आबादी की पहुँच से बाहर हो जायेगा। तेल उत्पादन बढ़ाने के लिए तकनोलॉजी में भारी निवेश चाहिए, लेकिन सब्सिडियों में भारी कटौती किये बिना यह सम्भव नहीं और जनउभारों का डर अहमदीनेजाद की सत्ता को ऐसा करने नहीं दे रहा, हालाँकि कई ताक़तवर राजनीतिज्ञ इसकी माँग कर रहे हैं।

इस स्थिति से निकलने का एकमात्र रास्ता है परमाणु ऊर्जा विकसित करना। इसीलिए ईरानी शासक वर्ग का कोई भी धड़ा परमाणु कार्यक्रम रोककर अमेरिका से बातचीत शुरू करने के पक्ष में नहीं है। ईरानी सत्ता के लिए परमाणु ऊर्जा जीवन-मरण का प्रश्न है। अमेरिकी दबाव में विदेशी निवेशों का रास्ता बन्द करने और तेल के दाम गिराने से वह संकट और गहरा ही होगा जो अमेरिका के विरोध और धमकियों के बावजूद ईरान को परमाणु शक्ति हासिल करने की ओर धकेल रहा है। ऐसे में, ईरान द्वारा यूरेनियम संवर्धन से इन्कार करने के जवाब में अमेरिका को कहना ही पड़ेगा कि कूटनीतिक प्रयास विफल हो गये हैं और सैनिक कार्रवाई के अलावा अब कोई रास्ता नहीं बचा है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो भी दुनिया के पैमाने पर और ख़ासकर मध्यपूर्व में उसकी चौधराहट को धक्का पहुँचेगा। अपनी दादागीरी और सैन्य शक्तिमत्ता के प्रदर्शन के दम पर ही अमेरिका अपने दिनोदिन गम्भीर होते आर्थिक संकटों को टाल रहा है।

साफ है कि अमेरिका और ईरान के बीच टकराव का कारण ईरानी परमाणु हथियारों का डर, या आतंकवाद को इसका तथाकथित समर्थन या इज़रायल के प्रति इसका विरोध नहीं है। जैसा कि परमाणु वार्ताओं में शामिल एक यूरोपीय कूटनीतिज्ञ ने साफ-साफ कहा, "परमाणु मुद्दा तो महज़ एक बहाना है। असली मुद्दा यह है कि 10 वर्षों तक मध्य पूर्व और इसके तेल पर किसका नियंत्रण रहेगा।"

इराक़ पर कब्ज़े ने मध्यपूर्व में ऐसे अन्तरविरोधों को जन्म दिया है जो अमेरिका को दलदल में और गहरे धँसाते ही जायेंगे। लेकिन इस क्षेत्र के भू-सामरिक महत्व और यहाँ के विशाल ऊर्जा भण्डारों के लालच में वह नये-नये दुस्साहस करने से बाज़ नहीं आने वाला। इसीलिए बुश का यह फ़रमाना एकदम सही है कि "सम्मानजनक ढंग से निकल जाने की बात का यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है।" सही है, साम्राज्यवादी सम्मानजनक ढंग से कब प्रस्थान करते हैं। जनता के हाथों बुरी तरह पिटकर भागना ही उनकी फ़ितरत है, आदत है।

इराक़ में अमेरिका के हश्र को देखते हुए उसे अब अपने दुस्साहस के लिए सहयोगी जुटाना मुश्किल हो रहा है। स्पेन और इटली इराक़ से अपने सैनिक वापस बुला चुके हैं। उम्मीद है कि टोनी ब्लेयर भी इसी साल इराक़ में ब्रिटिश सैनिकों की संख्या में कमी का ऐलान करेगा। उधर अफ़ग़ानिस्तान में भी अमेरिका अकेला पड़ता जा रहा है जहाँ तालिबान लगातार अपनी ताक़त और प्रभाव क्षेत्र बढ़ाते जा रहे हैं। पिछले दिनों ऐन काबुल में अमेरिकी फ़ौजी अड्डे के बाहर हुए हमले में अमेरिकी उपराष्ट्रपति डिक चेनी बाल-बाल बचा।

तमाम चेतावनियों के बावजूद अगर अमेरिका ईरान पर हमला कर देता है तो यूरोप, रूस, चीन और तीसरी दुनिया के बड़े देशों से उसकी दूरी और बढ़ेगी। तात्कालिक तौर पर भले ही उसका दबदबा कुछ समय के लिए दिखायी दे, पर उसकी चौधराहट कमज़ोर होगी,

शक्ति प्रदर्शन और प्रलोभनों के दम पर जोड़ा-गाँठा गया उसके अन्तरराष्ट्रीय गठबन्धन की दरकनें और बढ़ जायेंगी।

अमेरिका किसी भी हाल में मध्यपूर्व से निकलने को तैयार नहीं है क्योंकि इराक़ पर हमले का मकसद था उस क्षेत्र में अमेरिकी वर्चस्व को मजबूत करना,और यह मकसद पूरा करने के लिए वह कोशिश करता रहेगा, लाशों के ढेर चाहे जितने ऊँचे जायें, खून का रंग चाहे जितना गहरा होता जाये। मरने वाले चाहे फिलस्तीनी हों, या इराक़ी, ईरानी हों या अमेरिकी -- साम्राज्यवादियों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

उधर इराक़ में भी अमेरिका की स्थिति दिन-ब-दिन ख़राब होती जा रही है। सद्दाम हुसैन को फाँसी पर लटकाने का दाँव भी उसके लिए उल्टा पड़ गया। आनन-फानन में सद्दाम को फाँसी देकर बुश प्रशासन अमेरिकी जनता और दुनिया के सामने जो भी साबित करना चाहता था उसका नतीजा ठीक उल्टा हुआ है और पूरे अरब जगत में अमेरिका के खिलाफ नफरत पहले से भी ज़्यादा बढ़ गयी है।

एक तरफ बुश और उसकी मण्डली बार-बार कहते रहे हैं कि जल्दी ही इराक़ से अमेरिकी सेनाओं को वापस बुला लिया जायेगा और दूसरी तरफ लगातार काबू से बाहर होते हालात के कारण उन्हें मजबूर होकर 21,500 और अमेरिकी सैनिक इराक़ भेजने की घोषणा करनी पड़ी है। लेकिन यह तय है कि ये नये सैनिक भी इराक़ में अमेरिका की हालत दिन-ब-दिन बिगड़ने से रोक नहीं सकते। पिछले कुछ सप्ताह से अमेरिकी फ़ौजों पर हमले बहुत तेज़ हो गये हैं और उनमें मरने वाले अमेरिकी सैनिकों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है।

अपने मुल्क की तबाही से इराक़ी जनता और पूरे अरब अवाम के भीतर ज़बर्दस्त गुस्सा है। विश्वसनीय अनुमानों के मुताबिक इराक़ पर अमेरिकी हमले के पहले प्रतिबन्धों के कारण लगभग पन्द्रह लाख इराकियों की मौत हो चुकी थी जिनमें से ज़्यादातर महिलाएँ और बच्चे थे। ताज़ा अनुमानों के अनुसार हमले के बाद से हुई मौतों की संख्या 6,65,000 पार कर चुकी है। इसके अलावा बहुत बड़ी संख्या में लोग अपाहिज, घायल और कुपोषण के शिकार हैं। संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी आयोग के अनुसार इराक़ में इस समय 16 लाख आन्तरिक शरणार्थी हैं, 18 लाख इराक़ी देश छोड़ चुके हैं और हर दिन एक लाख लोग देश छोड़कर जाने पर मजबूर हैं। इराक़ की आखिरी जनगणना के अनुसार वहाँ की आबादी 2 करोड़ 30 लाख थी। अमेरिकी हमले और प्रतिबन्धों के कारण 20 लाख से ज़्यादा लोग मारे गये हैं और 30 लाख से ज़्यादा बेघर हो चुके हैं--यानी आबादी के 20 प्रतिशत से भी ज़्यादा। और यह सिलसिला लगातार जारी है। देश के बुद्धिजीवियों का बड़ा हिस्सा इराक़ छोड़ चुका है और करीब एक हज़ार शिक्षक, पत्रकार, जज और डॉक्टरों की हत्या की जा चुकी है।

सत्ता में बैठे अमेरिकी दलाल इराक़ी संसाधनों की लूट से दसियों अरब डॉलर डकार चुके हैं लेकिन देश की बची-खुची आबादी की भारी बहुसंख्या भयंकर दरिद्रता का शिकार है। यह वही इराक़ है जो अरब जगत का सबसे उन्नत कल्याणकारी राज्य था। अमेरिकी हमले से पहले इराक़ काफ़ी हद तक धर्मनिरपेक्ष समाज था जहाँ शिया और सुन्नियों के बीच शादी के रिश्ते आम बात थी। आज इराक़ भयंकर साम्प्रदायिक कलह का शिकार है और अमेरिकी षड्यंत्र इसे गृहयुद्ध की कगार पर धकेलने में लगे हुए हैं।

इराक़ी आबादी को बाँटने की कोशिशों के बावजूद ज़्यादातर इराक़ी अपने देश की इस बर्बादी के लिए अमेरिका को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। हाल में किये गये कुछ सर्वेक्षणों के मुताबिक 90 प्रतिशत से ज़्यादा सुन्नियों और 60 प्रतिशत से अधिक शियाओं ने कहा कि अमेरिकी सैनिकों पर हमले पूरी तरह जायज़ और ज़रूरी हैं। 70 प्रतिशत से ज़्यादा इराक़ी, जिनमें कुर्द भी शामिल हैं, चाहते हैं कि अमेरिकी फ़ौजें उनका देश छोड़कर चली जायें। ऐसे में यह तय है कि अमेरिका इराक़ में चाहे जितने सैनिक झोंक दे उसे अन्ततः बुरी तरह पिटकर ही वहाँ से भागना होगा।

पिछले वर्ष के अन्त तक ही इराक़ में मरने वाले अमेरिकी सैनिकों की संख्या 3000 से अधिक हो गयी थी। इसके अलावा, दसियों हज़ार अमेरिकी सैनिक अपंग, घायल या मानसिक रोगों के शिकार हो चुके हैं। सैनिकों को वापस बुलाने की माँग अमेरिका में लगातार तेज होती जा रही है। ग़रीबों के बेटों को फौज में शामिल करने के लिए लालच और दबाव दोनों का इस्तेमाल करने के बावजूद अमेरिकी फ़ौज भर्ती के अपने लक्ष्यों को पूरा नहीं कर पा रही है। भर्ती पर खर्च कई गुना बढ़कर पिछले वर्ष एक अरब डॉलर से भी ऊपर जा पहुँचा है और भर्ती के मानक भी नीचे करने पड़े हैं। फौज में अब 40 वर्ष तक के लोग लिये जा रहे हैं, भर्ती के लिए 40,000 डॉलर का बोनस दिया जा रहा है और मानसिक योग्यता का स्तर श्रेणी तीन तक नीचे ले आया गया है जो एक भूतपूर्व जनरल के शब्दों में "चरम मूर्खता से बस एक स्तर ऊपर" होता है। खुद अमेरिकी सत्ता प्रतिष्ठान के भीतर मतभेद तीखे होते जा रहे हैं। पूर्व अमेरिकी सेना प्रमुख और पूर्व विदेश मंत्री कोलिन पॉवेल ने हाल में कहा कि अमेरिका इराक़ में युद्ध हार चुका है और सैनिकों की संख्या बढ़ाने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा। उसने कहा कि पूरी दुनिया में अमेरिकी फौजों पर लगातार पड़ रहे दबाव के कारण फौज "लगभग टूट चुकी है"। युद्ध का वित्तीय बोझ झेलना भी अमेरिकी अर्थव्यवस्था के लिए दिन-ब-दिन कठिन होता जा रहा है। केवल इराक़ युद्ध पर खर्च 8 अरब डॉलर प्रति माह पहुँच चुका है और अब तक हुआ कुल खर्च 3 खरब डॉलर से भी ज़्यादा हो चुका है। अमेरिका का राष्ट्रीय कर्ज़ 70 खरब डॉलर के आस-पास पहुँच रहा है और अमेरिकी अर्थव्यवस्था एक ऐसे संकट के कगार पर खड़ी है जो अगले डेढ़-दो वर्षों में बुरी तरह फट सकता है। यह वही समय होगा जब राष्ट्रपति पद के चुनाव सर पर होंगे। ऐसे में कोई आश्चर्य नहीं कि बुरी तरह बौखलाया अमेरिकी शासक गिरोह एक बार फिर तमाम सबकों को भूलकर कोई नया सैनिक दुस्साहस कर बैठे। इतिहास से सबक न लेना साम्राज्यवादियों की पुरानी फितरत है।

-- अनन्त

(5 मार्च, 2007)

इंकलाबी छात्रों-युवाओं की त्रैमासिक पत्रिका

आह्वान **कैम्पस टाइम्स**

सम्पादकीय कार्यालय : 'आह्वान कार्यालय', कल्याणपुर, गोरखपुर-273 001

एक प्रति : 10 रुपए, वार्षिक : 40 रुपए (डाकव्यय सहित 50 रुपए)

email : ahwancampustimes@gmail.com

अमेरिकी साम्राज्यवाद का व्यापार तथा बजट घाटा

अमेरिकी साम्राज्यवाद का व्यापार घाटा तथा इससे अभिन्न रूप से जुड़ा बजट घाटा इन दिनों चरम पर है। विश्व के कॉरपोरेट जगत, आर्थिक विशेषज्ञों, अर्थव्यवस्था एवं वाणिज्य से सम्बन्धित प्रिण्ट व इलेक्ट्रॉनिक मीडिया तथा विश्व अर्थव्यवस्था में पल-पल होने वाले बदलावों पर नज़र रखने वाले क्रान्तिकारियों के बीच विश्व अर्थव्यवस्था पर मँडरा रहे सम्भावित संकट की चर्चा का बाज़ार गरम है। साम्राज्यवादी अमेरिका के व्यापार तथा बजट घाटे ने विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के संचालकों को ऐसी मुश्किल स्थिति मे फँसा दिया है, जहाँ से बाहर निकलने की कोई तरकीब उन्हें नज़र नहीं आ रही है। विश्व पूँजीवाद के बौद्धिक चाकरों के दिमाग जवाब दे गये हैं, उनके सुझाये गये सब नुस्खे बेकार साबित हो रहे हैं।

ऐसा लगता है कि विश्व व्यापार, वित्त तथा निवेश का ढाँचा नियंत्रण से बाहर हो चुका है। इन तथ्यों पर गौर कीजिये--अमेरिकी अर्थव्यवस्था का हाल यह है कि सरकार का बजट घाटा सकल घरेलू उत्पादन के 4 प्रतिशत तक पहुँच चुका है तथा घरेलू सेक्टर का घाटा 6 प्रतिशत है। 2005 में अमेरिका का व्यापार घाटा 805 बिलियन डालर था, जो कि सकल घरेलू उत्पादन का 6.4 प्रतिशत था। अमेरिका का यह व्यापार घाटा कई देशों के व्यापार अधिशेष (अमेरिका के साथ) में बदल रहा है, जैसे कि जापान का विदेश व्यापार अधिशेष 164 बिलियन डालर है, चीन का 159 बिलियन डालर, पश्चिमी एशिया के देशों का व्यापार अधिशेष 196 बिलियन डालर है। बाकी सारे विश्व की बचतें प्रतिदिन लगभग 2 बिलियन डालर से भी अधिक अमेरिका की ओर प्रवाहित हो रही हैं। वर्ष 2006 के मई माह में सार्वजनिक कर्ज़ के अमेरिकी ब्यूरो का कहना है कि अमेरिका का राष्ट्रीय कर्ज़ 8.6 ट्रिलियन डालर है, जो कि एक अमेरिकी नागरिक पर लगभग 28,000 डालर बैठता है। मार्च, 2006 में अमेरिकी कांग्रेस ने राष्ट्रीय कर्ज़ की सीमा 9 ट्रिलियन डालर तक बढ़ा दी थी। लेकिन अमेरिका द्वारा लिये जा रहे उधार को देखते हुए लगता है कि आने वाले दिनों में अमेरिकी कांग्रेस को यह सीमा फिर से बढ़ानी पड़ेगी। अमेरिकी फेडरल रिज़र्व के भूतपूर्व चेयरमैन एलन ग्रीनस्पैन ने कहा था, "अमेरिका का बजट घाटा नियंत्रण से बाहर हो चुका है।" (इकॉनॉमिक टाइम्स, 26 सितम्बर 2005)। हावर्ड विश्वविद्यालय के प्रमुख तथा क्लिंटन प्रशासन में वित्त मंत्री रह चुके लॉरेंस समर्स का कहना है, "अमेरिका का बजट घाटा बड़ी आर्थिक महाशक्तियों के इतिहास में अभूतपूर्व है।" (द हिन्दू, 3 अप्रैल 2006)

अमेरिकी अर्थव्यवस्था के इस जुड़वाँ संकट (व्यापार तथा बजट घाटा) के लिए बुर्जुआ आर्थिक विशेषज्ञ दो कारण बताते हैं। उनके मुताबिक सारी समस्या की जड़ अमेरिकी उपभोग है। उनका कहना है कि अमेरिकी जनता अपने साधनों से अधिक खर्च करती है। दूसरा कारण वह बताते हैं कि शेष विश्व, विशेष तौर पर एशियाई देशों, की कमज़ोर मुद्राओं के परिणामस्वरूप मज़बूत बना डालर।

दरअसल, ये दो कारण नहीं बल्कि मूल रूप से एक ही कारण है। बस इतना है कि कुछ बुर्जुआ आर्थिक विशेषज्ञ इसका दोष अमेरिकी जनता के मत्थे मढ़ देते हैं, तो कुछ तीसरी दुनिया के देशों के बुर्जुआ शासकों के सिर पर। बुर्जुआ आर्थिक विशेषज्ञों द्वारा बताये जा रहे कारण तो बीमारी के लक्षण मात्र हैं, बुनियादी कारण नहीं। समस्या की जड़ तो खुद पूँजीवादी अर्थव्यवस्था है या कहें कि पूँजीवादी व्यवस्था ही अपने आप में एक समस्या है। उत्पादन के साधनों पर निजी मालिकाना तथा श्रम का समाजीकरण इस पूँजीवादी व्यवस्था का बुनियादी अन्तरविरोध है। जिसमें से समय-समय पर उत्पादन के संकट फूटते रहते हैं। अति उत्पादन के संकट को टालने तथा अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर बरकरार रखने के लिए अमेरिकी हुक्मरान ब्याज दरें कम करके तथा घाटे की वित्त व्यवस्था के ज़रिये अपने देश के भीतर उपभोक्ता मालों की ऊँची माँग बनाये रख रहे हैं। अमेरिकी आबादी की उच्च उपभोक्ता माँग के चलते न सिर्फ़ अमेरिका के भीतर पैदा किये जा रहे माल, बल्कि शेष विश्व, विशेष तौर पर यूरोपीय तथा एशियाई देशों, की निर्यातोन्मुखी अर्थव्यवस्थाएँ भी अपने निर्यातों के लिए मुख्य रूप से अमेरिकी बाज़ार पर ही निर्भर हैं। अमेरिकी अर्थव्यवस्था को आज के दौर में विश्व अर्थव्यवस्था का इंजन कहे जाने का एक कारण यह भी है। आज के पूँजीवादी विश्व में अतिरिक्त उत्पादन का संकट कितना भयंकर है, इसका अन्दाजा इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि विश्व अर्थव्यवस्था का इंजन कहे जाने वाले अमेरिका की जनता आज भविष्य से उधार लेकर खा रही है यानी उन्हें जो भविष्य में कमाना है, उसे वह आज खर्च कर रहे हैं। पूँजीपतियों को आज बाज़ार चाहिए, इसलिए वे नागरिकों को कर्ज़ देकर, ब्याज दरें कम करके बचतों को हतोत्साहित कर, किश्तों पर सामान देकर माँग को बनाये रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन यह पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का ही तर्क है कि वह अपने संकट से तात्कालिक तौर पर निजात पाने के लिए जो कदम उठाती है, उन कदमों की बदौलत एक अन्य पहले से भी बड़ा संकट इसके दरवाजे पर आकर दस्तक दे रहा होता है।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद दुनिया में अमेरिकी साम्राज्यवाद के सितारे बुलन्द हो गये। साथ ही दुनिया की मुद्रा के बतौर पाउण्ड स्टर्लिंग की जगह अमेरिकी डालर ने ले ली। आज दुनिया के अधिकांश देशों के विदेशी मुद्रा भण्डार डालर में है। वर्ष 2004 में अकेले जापान का विदेशी मुद्रा भण्डार 750 बिलियन डालर था, जबकि चीन, भारत, दक्षिण कोरिया, सिंगापुर तथा ताइवान का कुल विदेशी मुद्रा भण्डार 1.1 ट्रिलियन डालर था, जो कि अब तक और अधिक बढ़ चुका होगा।

डालर का विश्व मुद्रा की हैसियत में होना अमेरिका साम्राज्यवाद के लिए महत्वपूर्ण है, जैसा कि एक आर्थिक विश्लेषक ने कहा है, "जब बाकी दुनिया डालर हासिल करने के लिए सख्त मेहनत करती है, जो कि अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चीजें ख़रीदने तथा कर्ज़ के भुगतान के लिए ज़रूरी है, तब अमेरिका को सिर्फ़ डालर छापने होते हैं।" अमेरिकी साम्राज्यवादियों का मानना है, "डालर हमारी मुद्रा है, लेकिन इसकी समस्याएँ तुम्हारी हैं।"

सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ के 1991 में बिखराव के बाद वक्ती तौर पर अमेरिकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में एक़ध्रुवीय विश्व अस्तित्व में आया। साम्राज्यवादी तथा विकसित पूँजीवादी देश, जो कि पूँजी की बहुतायत के संकट से जूझ रहे थे, से अब पूँजी का बहाव पिछड़े पूँजीवादी देशों की तरफ बढ़ने लगा। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के विश्वव्यापी स्टॉक में 1990 में पिछड़े पूँजीवादी देशों का हिस्सा लगभग 20 प्रतिशत था, जो कि 2004 में बढ़कर 40 प्रतिशत हो गया। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के विश्वव्यापी स्टॉक में आज भी साम्राज्यवादी तथा विकसित पूँजीवादी देशों का हिस्सा लगभग 60 प्रतिशत है। ठहरावग्रस्त विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आज प्रयत्क्ष विदेशी निवेश का भी 60 से 70 प्रतिशत हिस्सा विलय और

अधिग्रहण में ही जा रहा है (वर्ल्ड इन्वेस्टमेंट रिपोर्ट, 2005)। ग्रीनफ़ील्ड निवेश के नाम पर जो कुछ भी हो रहा है, उसका एक हिस्सा भले ही नयी उत्पादन क्षमता बढ़ाने में लग रहा है, लेकिन इसका भी बड़ा हिस्सा साम्राज्यवादी देशों द्वारा पिछड़े पूँजीवादी देशों के कच्चे माल के साधनों को हड़पने में ही जा रहा है। (वर्ल्ड इन्वेस्टमेंट रिपोर्ट, 2005)

विकसित तकनीक पर कब्ज़ा जमाये साम्राज्यवादी पूँजी पिछड़े पूँजीवादी देशों की पूँजी के साथ गँठजोड़ करती है, जहाँ उपलब्ध सस्ते श्रम की बहुतायत के चलते उत्पादन लागत साम्राज्यवादी देशों के मुकाबले बहुत कम है। तीसरी दुनिया के देशों में साम्राज्यवादी तकनीक तथा यहाँ की सस्ती श्रम शक्ति को मिलाकर तैयार हुए सस्ते मालों की विकसित पूँजीवादी/साम्राज्यवादी देशों, ख़ासकर अमेरिका में, बाढ़-सी आ गयी है। इससे इन देशों के उद्योगों के लिए ख़तरा पैदा हो गया है। तीसरी दुनिया के देशों, विशेष तौर पर एशियाई देशों, से अमेरिका को निर्यात लगातार बढ़ते गये, जिसकी वजह से अमेरिका का व्यापार घाटा लगातार बढ़ता गया। नीचे दी गयी तालिका में अमेरिका का चीन के साथ व्यापार घाटे के रुझान को देखा जा सकता है।

अमेरिका को इस समय हर रोज़ बाकी दुनिया से 7 बिलियन डालर पूँजी खींचने की ज़रूरत पड़ती है, ताकि वह अपने व्यापार घाटे तथा पूँजी निवेश की ज़रूरतों की भरपाई कर सके। इस पूँजी की आमद बन्द होने की तो बात ही छोड़िये, इमसें ज़रा-सी भी कमी या अमेरिका की तरफ 12 ट्रिलियन डालर की दावेदारियों की वसूली, डालर की कीमत को महत्वपूर्ण हद तक नीचे ला सकती है। अपनी पारी में यह अमेरिका के अन्दर मुद्रास्फीति तथा ब्याज दरों में बढ़ोत्तरी को जन्म देगी, गृह निर्माण तथा शेयर बाज़ार को बुरी तरह प्रभावित करेगी। नतीजतन, अमेरिका के अन्दर ख़ास तौर पर और पूरी दुनिया में आम तौर पर मन्दी को जन्म देगी। अमेरिकी फेडरल रिज़र्व के भूतपूर्व चेयरमैन एलन ग्रीनस्पैन के शब्दों में, "अगर अमेरिका तथा अन्य देशों में वित्तीय अस्थिरता को नहीं रोका गया, अगर भूमण्डलीकरण का संरक्षणवाद की तरफ रुख इसके साथ आ जुड़ा तो यह विश्व अर्थव्यवस्था के लिए बहुत पीड़ादायक होगा।" (हिन्दू बिजनेसलाइन, 3 अगस्त, 2006)

तालिका : अमेरिका का चीन को निर्यात और चीन से आयात (बिलियन डालर में)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार घाटा
2000	16	100	84
2001	19	102	83
2002	22	125	103
2003	28	152	124
2004	35	197	162
2005	41	243	202

(स्रोत : द हिन्दू, 15 अप्रैल 2006)

विश्व अर्थव्यवस्था में यह भुगतान असन्तुलन लम्बे समय तक इसे टिकाऊ बना रहने देगा, इसकी दूर-दूर तक कोई सम्भावना दिखायी नहीं देती।

इन हालात से निकलने के लिए बुर्जुआ थिंक टैंक कई नुस्खे सुझा रहे हैं। लॉरेंस समर्स का कहना है, "घरेलू माँग आधारित रणनीति विश्व व्यवस्था को जो फायदे पहुँचायेगी, उसके अलावा निर्यात पर निर्भरता कम करने वाली रणनीति वित्तीय अस्थिरता के मामले में भी मददगार होगी।" (द हिन्दू, 3 अप्रैल 2006) भूमण्डलीकरण के उपदेशक अब स्वदेशीकरण, यानी देश के भीतर पैदा हुआ माल देश में ही खपाया जाये, की पुकार मचाने लगे हैं। लेकिन वे यह नहीं समझ पा रहे कि विश्व अर्थव्यवस्था का जुड़ाव तथा पूँजी का अन्तरराष्ट्रीयकरण एवं भूमण्डलीकरण इस हद तक पहुँच चुके हैं कि वहाँ से वापसी लगभग नामुमकिन है। मुनाफ़े की हवस में धरती का चप्पा-चप्पा छान रही पूँजी कोई असील गाय नहीं है कि समर्स जब जैसे चाहें, उसे किसी भी खूँटे से बाँधे दें। पूँजी निवेश तथा व्यापार के भूमण्डलीकरण के बग़ैर पूँजी जीवित ही नहीं रह सकती है।

विश्वव्यापी भुगतान असन्तुलन के संकट में से बाहर निकलने के लिए बुर्जुआ थिंक टैंक द्वारा सुझाया जा रहा दूसरा नुस्खा यह है कि या तो अमेरिका डालर का अवमूल्यन करे, जिससे कि उसके निर्यात सस्ते हो सकें तथा आयात महँगे, इस तरह अमेरिका का व्यापार घाटा कम किया जा सकता है; या फिर, तीसरी दुनिया के पिछड़े पूँजीवादी देश अपनी मुद्राओं की कीमत डालर के मुकाबले बढ़ा दें, जिसके परिणामस्वरूप डालर की कीमत कम हो जाये। कई अमेरिकी अर्थशास्त्री तो "बन्दूक की नोक पर युआन (चीनी मुद्रा) की कीमत बढ़ाने" के लिए कह रहे हैं (हिन्दू बिजनेस लाइन, 22 मई, 2005)। अमेरिका का नया वित्त मंत्री हेनरी पॉल्सन इस प्रश्न पर काफ़ी दुविधा में फँसा हुआ है। लोगों के बीच वह मज़बूत डालर की हिमायत करता है, मगर साथ ही इस बात पर भी ज़ोर देता है कि डालर का मूल्य बाज़ार की शक्तियों द्वारा तय होना चाहिए (हिन्दू बिजनेस लाइन, 14 जून, 2006)।

बैंक ऑफ इण्टरनेशनल सेटलमेण्ट का भी यही सुझाव है कि वर्तमान भुगतान असन्तुलन को दुरुस्त करने के लिए डालर के तीव्र अवमूल्यन की ज़रूरत है, लेकिन इसके साथ ही वह इससे विश्व अर्थव्यवस्था में होने वाली उथल-पुथल की भी चर्चा करता है।

विश्व पूँजीवाद के बौद्धिक महारथियों द्वारा दबी जुबान से सुझाये जा रहे ये नुस्खे कारगर नहीं हैं। इसके कई कारण हैं--एक, अगर अमेरिकी डालर का अवमूल्यन होता है तो एकल विश्व मुद्रा के रूप में अमेरिकी डालर का प्रभुत्व ख़त्म हो सकता है। दुनिया के बाकी देशों का डालर में विश्वास कम होगा तथा लाजिमी ही वह अपने विदेशी मुद्रा भण्डारों की वैविध्यीकरण के लिए कदम उठायेंगे जिससे डालर की माँग में भारी गिरावट आयेगी तथा डालर का अवमूल्यन नियंत्रण से बाहर हो सकता है। अमेरिकी साम्राज्यवादी यह हरगिज़ नहीं चाहेंगे।

दूसरा, अमेरिकी डालर के अवमूल्यन से तथा इसके सापेक्ष अन्य देशों की मुद्राओं की मूल्य बढ़ोत्तरी से इनके विदेशी मुद्रा भण्डार, जो कि बड़ी मात्रा में डालर में हैं, ख़तरे में पड़ जायेंगे। जिस रफ्तार से डालर का अवमूल्यन होगा, उसी अनुपात में इन देशों के विदेशी मुद्रा भण्डार कम हो जायेंगे।

तीसरा कारण यह है कि डालर के अवमूल्यन से अमेरिका को होने वाले निर्यात महँगे हो जायेंगे क्योंकि दुनिया भर में, ख़ासतौर पर एशिया के पिछड़े पूँजीवादी देशों की, अर्थव्यवस्थाएँ बड़े पैमाने पर निर्यातोन्मुख हो चुकी हैं। इनके निर्यातों का बड़ा हिस्सा अमेरिका में ही खपता है। इसलिए अमेरिका को इन देशों के निर्यात कम होने से इन देशों के निर्यातों पर निर्भर उद्योग तबाह हो जायेंगे तथा इनकी समूची अर्थव्यवस्थाएँ ही भीषण संकट में फँस जायेंगी। यह विश्वव्यापी उथल-पुथल को जन्म दे सकता है। अमेरिकी डालर के अवमूल्यन से डालर के वर्चस्व वाली प्रतिभूतियों में निवेश किये गये अरबों डालर का निवेश ख़तरे में पड़ जायेगा।

चौथा कारण है, अमेरिकी डालर के अवमूल्यन से अगर अन्य देश अपने विदेशी मुद्रा भण्डार का वैविध्यीकरण करेंगे तो वह डालर की जगह यूरो को ही प्राथमिकता देंगे, क्योंकि विश्व अर्थव्यवस्था में डालर के बाद यूरो ही दूसरे स्थान पर है। मगर यूरो मुद्रा वाले देश भी ऐसा नहीं चाहते, क्योंकि इससे विश्व में यूरो की जो माँग बढ़ेगी वह यूरो की मूल्य बढ़ोत्तरी को जन्म देगी। ये देश भी निर्यात के लिए अमेरिका पर बहुत अधिक निर्भर हैं। यूरो का मूल्य बढ़ने से इनके अमेरिका को निर्यात बुरी तरह प्रभावित होंगे।

इसी दुविधा में आज दुनिया भर के पूँजीपति तथा उनके बौद्धिक चाकर फँसे हुए हैं। डालर के

अवमूल्यन तथा अन्य मुद्राओं की मूल्य बढ़ोत्तरी को लेकर अन्य देशों (ख़ासतौर पर एशियाई देशों) के हुक्मरानों की हालत आज 'साँप के मुँह में छछून्दर' वाली बनी हुई है। लेकिन अगर विश्व पूँजीवाद के बौद्धिक चाकरों द्वारा सुझाये गये नुस्खों (डालर का अवमूल्यन) पर अमल नहीं होता, तो अमेरिका के जुड़वाँ घाटे (बजट तथा व्यापार घाटा) बढ़ते ही जायेंगे, जिसका अन्तिम नतीजा भी 'डालर क्रैश' में ही निकलेगा। बैंक ऑफ इण्टरनेशनल सेटलमेण्ट ने अपनी 2005-06 की रिपोर्ट में "विश्व आर्थिक बिरादरी" को आने वाले संकट की चेतावनी दी है तथा विश्व अर्थव्यवस्था को इसका सामना करने के लिए तैयार रहने का आह्वान किया है।

विश्व पूँजीवाद के बौद्धिक नीम-हकीमों द्वारा सझ्झाये गये नुस्खों पर अमल हो या न हो, जो भी हो नतीजा तो एक ही निकलना है। मरीज़ की हालत दिन-प्रतिदिन और भी बिगड़ती जायेगी। भले ही यह तब तक नहीं मरेगा जब तक इसे मारने वाली ताक़त, विश्व सर्वहारा, की राजनीतिक रूप से जागरूक संगठित ताक़त खड़ी नहीं होती।

-- सुखदेव

(10 फरवरी, 2007)

पंजाबी में क्रान्तिकारी और मार्क्सवादी साहित्य के प्रकाशक

शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन

154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फ़ेज़-3, पखोवाल रोड, लुधियाना

फोन : 09888655663/09888841568

पंजाबी में देश-विदेश के उत्कृष्ट प्रगतिशील साहित्य के प्रकाशक

दस्तक प्रकाशन

प्रीत विहार, ताड पखोवाल रोड, लुधियाना

फोन : 09888655663

पंजाबी की प्रखरतम और सर्वाधिक विचारोत्तेजक वैचारिक पत्रिका

प्रतिबद्ध

सम्पादक : सुखविन्दर

पताः द्वारा, अवतार सिंह

रायखाना, तहसील-तलवण्डी साबो

ज़िला : भटिण्डा (पंजाब)

pratibadh05@yahoo.co.in

टिप्पणियाँ

चीन में अति उत्पादन का संकट

विश्व सर्वहारा के महान शिक्षक कार्ल मार्क्स कहते हैं कि पूँजीवाद के विकास के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा खुद पूँजीवाद है। इसी तरह, पूँजीवादी निवेश के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा भी खुद पूँजीवाद ही है।

उत्पादन के साधनों पर निजी पूँजीपतियों का निजी नियंत्रण मण्डी तथा मुनाफ़े के लिए उनके दरमियान होड़ को तीखा करता है। इस होड़ में वही टिक सकते हैं, जो अपनी उत्पादन लागत कम करने में कामयाब होते हैं, बाकी इस होड़ में नहीं टिक पाते, वह पूँजीपतियों के जमात का अंग नहीं बने रह पाते। उत्पादन लागत कम करने का पूँजीपतियों के पास एक ही रास्ता है, मज़दूरों के वेतन लगातार कम करते जाना, वेतन बढ़ाये बग़ैर काम के घण्टे बढ़ाते जाना, मज़दूरों को दी जाने वाली अन्य 'सुविधाओं' में लगातार कटौती करते चले जाना। यानी मज़दूरों के खून-पसीने की एक-एक बूँद को सिक्कों में ढालते चले जाना। मार्क्स कहते हैं कि जब मज़दूर मालिकों के पास अपनी श्रम शक्ति बेचते हैं तो मालिकों की पूरी कोशिश होती है कि वह मज़दूरों को कम से कम दें, लेकिन जब वही मज़दूर वेतन लेकर बाज़ार में अपने इस्तेमाल की चीजें ख़रीदने जाते हैं तो मालिकों की इच्छा होती है कि वह अधिक से अधिक ख़रीदें। लेकिन ये दोनों चीजें एक साथ सम्भव नहीं है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों के स्वामियों (पूँजीपतियों) के पास पहले से यह देख पाने का कोई ज़रिया नहीं होता कि उनके कारखानों में जिस माल का उत्पादन किया जा रहा है, वह मण्डी में बिक भी पायेगा या नहीं, मण्डी में अपना माल ले जाने के बाद ही वे यह जान पाते हैं। जब अर्थव्यवस्था में उछाल का समय होता है, तो सभी पूँजीपति इस बहती गंगा में हाथ धो लेने के लिए, अधिक से अधिक निवेश करते हैं, नतीजा होता है अति-उत्पादन जिसका खामियाजा भी मज़दूर वर्ग को ही भुगतना पड़ता है, क्योंकि माल न बिकने से कारखाने या तो बन्द हो जाते हैं, या फिर उनमें उत्पादन कम कर दिया जाता है, जिससे मज़दूरों को बेकारी की चक्की में पिसना पड़ता है, मुनाफ़े के लिए पूँजीपतियों के बीच अन्धी होड़, इस होड़ में टिके रहने के लिए उत्पादन लागत घटाने के लिए मज़दूरों के वेतनों में कटौती, नतीजतन अति उत्पादन का संकट। यह पूँजीवादी व्यवस्था के ऐसे असाध्य रोग हैं जिनका निदान पूँजीवादी व्यवस्था की चौहद्दी में नामुमकिन है। लगभग 150 साल पहले पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का मार्क्स द्वारा किया गया यह विश्लेषण, पूँजीवाद के बुनियादी अन्तरविरोधों की यह निशानदेही, आज भी कितनी प्रासंगिक है इसे देखने के लिए आज की विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पर एक सरसरी निगाह ही काफ़ी है।

पिछली सदी के अन्त में संशोधनवाद के दुर्ग सोवियत यूनियन के टूटने को पूँजीवाद के बौद्धिक चाकरों की जमात ने पूँजीवाद की जीत का नाम दिया। कुछ ने तो इतिहास के अन्त तक की घोषणा कर डाली। कुछ ने कहा कि अब हम उत्तर-औद्योगिक युग में पहुँच गये हैं, जहाँ पर वर्ग तथा वर्ग संघर्ष लुप्त हो चुके हैं। लेकिन पिछले डेढ़ दशक में अमेरिका, यूरोप, लातिन अमेरिका से लेकर, दक्षिण पूर्व एशिया, चीन तथा दुनिया के अन्य हिस्सों में हुए मज़दूरों के लड़ाकू प्रदर्शनों तथा जन विद्रोहों ने इस तरह की मूर्खतापूर्ण घोषणाओं का मुँह बन्द कर दिया। अब इस तरह की घोषणाएँ लगभग दम तोड़ चुकी हैं।

सोवियत संघ के बिखराव के बाद वक्ती तौर पर अन्तरसाम्राज्यवादी अन्तरविरोधों के कुछ समय के लिए मद्धिम पड़ जाने पर कुछ बुर्जुआ बुद्धिजीवियों जिनमें तथाकथित मार्क्सवादी बुद्धिजीवी भी शामिल थे, ने ऐलान किया कि अब अन्तरसाम्राज्यवादी अन्तरविरोध ख़त्म हो गये हैं। इसलिए अब विश्व स्थायी शान्ति के युग में प्रवेश कर गया है, मगर अब दुनिया भर में उभर रही अलग-अलग साम्राज्यवादी धुरियाँ, ख़ासकर रूस द्वारा अमेरिकी साम्राज्यवाद की चौधराहट को दी जा रही चुनौती, यह दर्शाती है कि रूप अब फिर से दुनिया को लूटने-बाँटने की दौड़ में शामिल होने जा रहा है, अन्तरसाम्राज्यवादी अन्तरविरोधों के ख़त्म हो जाने के ऐलान करने वाले बुर्जुआ कलम घसीटों को चुल्लू भर पानी में डूब मरने को मजबूर कर रही है। बुर्जुआ कलमघसीटों द्वारा, संशोधनवादियों के सिद्धान्तकारों द्वारा और तथाकथित मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों द्वारा एक ऐसा ही अन्य ऐलान यह किया गया था कि कार्ल मार्क्स द्वारा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का किया गया विश्लेषण अब पुराना पड़ गया है, कि आज के 'नये' पूँजीवाद के लिए कार्ल मार्क्स का विश्लेषण प्रासंगिक नहीं रहा गया है। मगर ऐसे ऐलानों का जवाब भी स्वयं विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के भीतर से ही निकल कर आ गया। पिछले कुछ वर्षों की घटनाएँ इस दावे की गवाह हैं कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का कार्ल

मार्क्स द्वारा किया गया विश्लेषण ना सिर्फ़ प्रासंगिक बल्कि पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक है।

आज विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के सिर पर अति उत्पादन का जो संकट मँडरा रहा है यह बुर्जुआ कलम घसीटों के उन दावों को खोखला साबित कर रहा है जो पिछले डेढ़-दो दशकों से यह दावा करते आ रहे थे कि अब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने अति उत्पादन के संकट पर काबू पर लिया है क्योंकि अब इजारेदार समूह पहले ही मिलकर यह तैय कर लेते हैं कि किस चीज का कितना उत्पादन करना है। वैसे तो पूरी विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ही अति उत्पादन के संकट का सामना कर रही है, मगर चीन का उल्लेख यहाँ पर विशेष रूप से ज़रूरी है। आज विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था जिस अति उत्पादन के संकट का सामना कर रही है, उसकी भी बड़ी वजह चीन की ऊँची वृद्धि दर है।

1976 में कामरेड माओ की मृत्यु के बाद संशोधनवादी देङ गुट चीन में राज्य सत्ता पर काबिज हो गया। 1956 में ख्रुश्चेव गुट के सोवियत संघ में राज्य सत्ता पर कब्जे के बाद, एक के बाद एक समाजवादी देशों में पूँजीवादी पुर्नस्थापना का सिलसिला शुरू हुआ। चीन में 1976 में चीन में पूँजीवादी पुर्नस्थापना हो जाने से विश्व सर्वहारा वर्ग से आखिरी दुर्ग भी छिन गया।

1980 से देङ गुट ने आधुनिकीकरणों के नाम पर चीनी अर्थव्यवस्था के 'उदारीकरण' की प्रक्रिया शुरू की। यह उदारीकरण दरअसल समाजवाद की सभी विशेषताओं को खतम करना था। कदम ब कदम, जनता की साझा सम्पत्ति को निजी हाथों में सौंपा जाने लगा। विदेशी पूँजी के लिए चीन के दरवाजे पूरी तरह खोल दिये गये। चीन 1980 से लेकर अब तक लगभग ढाई दशकों तक औसत 8-9 प्रतिशत सलाना की वृद्धि दर बनाये रखने में कामयाब रहा। चीन की इस ऊँची वृद्धि दर में विदेशी साम्राज्यवादी पूँजी की भी बड़ी भूमिका रही है। सस्ते श्रम तथा सस्ते कच्चे माल की तलाश में धरती का कोना कोना छान रही साम्राज्यवादी पूँजी के लिए चीन में देङ गुट का काबिज़ होना एक वरदान साबित हुआ। अनेकों बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने चीन को अपने उत्पादन केन्द्र में बदल दिया। चीन में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा तैयार किये जाने वाले माल का बड़ा हिस्सा निर्यात के लिए होता है। उदाहरण के लिए फिलिप्स की चीन में 23 फैक्टरियाँ हैं, जो कि लगभग 500 करोड़ डालर सलाना का उत्पादन करती हैं, इस उत्पादन का दो तिहाई हिस्सा निर्यात कर दिया जाता है। इस तरह चीन की अर्थव्यवस्था मुख्य तौर पर निर्यातों पर निर्भर अर्थव्यवस्था बन गयी। आज एशिया से होने वाले निर्यातों में अकेले चीन का हिस्सा 31 प्रतिशत है।

चीन अपने निर्यातों के लिए मुख्य तौर पर अमेरिका पर निर्भर है। पिछले समय में अमेरिका को चीन के निर्यात में तीखी वृद्धि देखी जा सकती है। साल 2000 से चीन से अमेरिका को निर्यात 8400 करोड़ डालर था जो कि 2005 में बढ़कर 20,200 करोड़ डालर हो गया। अमेरिका को आज विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का इंजन कहा जाता है। वह इसलिए कि दुनिया के ज़्यादातर देश आज अपने निर्यातों के लिए अमेरिका पर निर्भर हैं। दूसरी तरफ अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने अपने उत्पादन का बड़ा हिस्सा ग़रीब देशों में हस्तान्तरित कर दिया है। ग़ैर उत्पादक काम भी इण्टरनेट के ज़रिये भारत जैसे देशों में शिफ्ट किये जा रहे हैं ताकि इन देशों के सस्ते कच्चे माल तथा श्रम से अपार मुनाफ़े कमा सकें। इससे अमेरिका में बेरोज़गारी लगातार बढ़ रही है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था लम्बे समय से मन्दी की मार झेल रही है। अफगानिस्तान तथा इराक़ युद्ध में इन देशों में हुई तबाही ने अमेरिकी निवेश के लिए कुछ मौका प्रदान किया। इन देशों पर हमले से हुई हथियारों की खपत ने अमेरिकी अर्थव्यवस्था को जरा राहत पहुँचायी। पर युद्ध के ठण्डा पड़ते ही मन्दी का प्रेत फिर से प्रकट हो जाता है। युद्ध के बग़ैर अमेरिकी अर्थव्यवस्था साँस नहीं ले सकती।

अमेरिकी सरकार ब्याज दरें कम करके, लोगों को आसान किश्तों पर कर्ज़े, मकान तथा अन्य सामान उपलब्ध करवाकर, बजट घाटा उठाकर वहाँ माँग बरकरार रख रही है। इसी माँग पर चीन, भारत, यहाँ तक कि यूरोप की अर्थव्यवस्थाएँ टिकी हुई हैं। अमेरिका का बजट तथा व्यापार घाटा लगातार बढ़ रहा है। इसका नतीजा लाजिमी तौर पर डालर के लुढ़कने में निकलेगा, जो पूरी विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को भयंकर संकट में धकेल देगा।

मगर यह तो विश्व पूँजीवाद के आने वाले दिनों की बात है, चीन तो इससे बहुत पहले ही संकट में फँस रहा है, 90 के दशक में ही चीनी अर्थव्यवस्था के कोर सेक्टरों, जैसे स्टील, आटोमोबाइल, सीमेण्ट, एल्युमिनियम तथा भवन निर्माण आदि में समस्या बढ़ती ही गयी है। एक अन्दाजे के मुताबिक चीन के 75 प्रतिशत उद्योग अति उत्पादन के शिकार हैं। चीन के स्टेट डेवलप्मेण्ट तथा रिफॉर्म कमीशन का अनुमान है कि 2010 तक चीन का आटोमोबाइल उद्योग माँग से दोगुना पैदा करने लगेगा। एक अन्य रिपोर्ट के मुताबिक सभी मुख्य उद्योगों की सालाना मुनाफ़ा वृद्धि दर घट कर आधी रह गयी है तथा घाटे वाले कुछ उद्योगों के घाटे में 57.6 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है।

दूसरे विश्व युद्ध में हुई भयंकर तबाही ने विश्व पूँजीवाद को नया जीवनदान दिया था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद का समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पराभव तथा अमेरिकी साम्राज्यवाद की बढ़त का समय था। तबाह हुई यूरोप के पुनर्निर्माण में निवेश से अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने अपार मुनाफ़े हासिल किये। दूसरी तरफ तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों में इसी समय राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन पूरे उफान पर था। एक के बाद एक देश आजाद हो रहे थे, नव स्वाधीन देशों ने साम्राज्यवादी पूँजी तथा मालों के आयात पर कई तरह की रोकें लगाईं। इसलिए विकसित पूँजीवादी। साम्राज्यवादी देश निवेश तथा व्यापार का बड़ा हिस्सा आपस में ही करने लगे। 1948 से 1973 तक के समय को पूँजीवादी अर्थशास्त्री पूँजीवाद का स्वर्णिम युग कहते हैं। मगर 1973 के बाद इस स्वर्णिम युग की चमक क्षीण होने लगी। इन देशों में बाज़ार तथा निवेश के मौके निःशेष हो गये तो इन देशों की पूँजी ने तीसरी दुनिया के देशों का रुख किया। 1980 से शुरू हुई यह प्रक्रिया 1991 में सोवियत संघ के विघटन के बाद तेज रफ्तार से आगे बढ़ी। इस प्रक्रिया की बदौलत तीसरी दुनिया के कई देशों में तेज रफ्तार पूँजीवादी विकास हुआ। पूँजीवाद के बौद्धिक चाकरों ने ज़ोर-शोर से यह प्रचार शुरू किया कि तीसरी दुनिया के देश विदेशी पूँजी के लिए अपने दरवाजे खोलकर ग़रीबी, पिछड़ेपन से निजात पा सकते हैं, इसके लिए समाजवाद की कोई ज़रूरत ही नहीं है। पूँजीवाद का रास्ता ही उनके लिए सबसे बेहतर विकल्प है।

लेकिन जल्दी ही विदेशी साम्राज्यवादी पूँजी से निर्मित आर्थिक विकास के यह मॉडल एक के बाद एक टांय-टांय फिस्स हो गये। सबसे पहले तो लातिन अमेरिका के देशों की बारी आयी। मेक्सिको में 1987 के काले सोमवार से शुरू हुआ आर्थिक तबाही तथा स्वतःस्फूर्त जन उभारों का सिलसिला अभी हाल तक भी थमा नहीं है। अब भले ही ब्राजील जैसे कुछेक मुल्कों की आर्थिक स्थिति कुछ सँभली है, मगर यह सँभलना भी कुछ समय के लिए राहत भर साबित होगा। लातिन अमेरिका के बाद बारी आयी दक्षिण पूर्व एशिया के देशों की। 1997 में विदेशी पूँजी के दम पर निर्मित आर्थिक विकास तथा 'खुशहाली' के ये मॉडल भरभरा कर गिर गये। इण्डोनेशिया, मलेशिया, थाईलैण्ड, दक्षिण कोरिया जैसे तथा कथित 'नव औद्योगिक देशों' की अर्थव्यवस्थाओं को भयंकर तबाही का सामना करना पड़ा।

कहा जा सकता है कि भारत तथा चीन उक्त प्रक्रिया की आखिरी कड़ियाँ हैं। इन देशों का हश्र भी वही होगा, जो लातिनी अमेरिकी तथा दक्षिण पूर्व एशियाई देशों का हुआ है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की आन्तरिक गतिकी के नियमों की विज्ञानसम्मत समझदारी के आधार पर कहा जा सकता है कि यह अवश्यम्भावी है। बस देखना यह है कि वह दिन कब आता है, चीन में तो वह संकट दस्तक दे

रहा है जिसकी भविष्यवाणियाँ तथा उम्मीद दुनिया भर के सच्चे मार्क्सवादी पिछले लम्बे समय से कर रहे थे।

1976 से लेकर अब तक लगभग तीन दशकों तक चीन की वृद्धि दर औसतन 8 से 9 प्रतिशत तक रही है। 1949 से 1976 तक समाजवादी चीन ने (1949-54 तक नव जनवाद का समय) जो उपलब्धियाँ हासिल की थीं, उनसे बने आधार पर, बड़े पैमाने पर विदेशी पूँजी निवेश के चलते (तीसरी दुनिया के देशों में होने वाले कुल प्रत्यक्ष विदेशी पूँजी निवेश का लगभग 50 प्रतिशत) तथा अमेरिका बजट तथा व्यापार घाटे की 'कृपा' के चलते चीन तीन दशकों तक इतनी ऊँची वृद्धि दर क़ायम रखने में कामयाब रहा। पूँजीवादी रास्ते पर चलते हुए इतने लम्बे समय तक किसी देश के लिए इतनी ऊँची वृद्धि दर बनाये रखना पूँजीवाद के इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। इसने कई कमअकल तथाकथित मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों तक को 'बाज़ार समाजवाद' का मुरीद बनाया।

अब आज के चीन की तुलना हम समाजवादी चीन (1949-76) से करें। 1949-76 तक चीनी अर्थव्यवस्था की औसत वृद्धि दर लगभग 7 प्रतिशत रही। मगर इसमें तथा 1976 के बाद की चीन की आर्थिक वृद्धि दर में एक गुणात्मक अन्तर है। 1949-76 तक चीन ने जो आर्थिक विकास किया, वह समूची मेहनतकश जनता के हित में था। यह विकास पूरे समाज की भौतिक- सांस्कृतिक तरक्की का साधन बना। इस विकास की दिशा व्यक्तियों के दरमियान तथा इलाकों के बीच ग़ैर बराबरियों को ख़त्म करते जाने की थी। वेश्यावृत्ति, मादा भ्रूण हत्याएँ आदि सामाजिक असमानताओं का नामोनिशान मिटा दिया गया था। बेरोज़गारी की समस्या को जड़ से उखाड़ दिया गया।

मगर जब हम 1976 के बाद के चीन के विकास को देखते हैं तो तस्वीर इसके ठीक उल्टी नज़र आती है। इस तथाकथित आर्थिक विकास ने चीन के तमाम मेहनतकशों का जीवन तबाह- बर्बाद कर दिया है। सामाजिक ध्रुवीकरण अभूतपूर्व ऊँचाइयाँ छू रहा है। करोड़ों लोग बेरोज़गार दर-दर ठोकरें खा रहे हैं। चीन में बेरोज़गारी का आलम यह है कि बुर्जुआ अर्थशास्त्री तक इसे ख़तरनाक कहते हैं। समाजवाद द्वारा ख़त्म की गयी तमाम सामाजिक बुराइयों ने फिर से सिर उठा लिया है। इसका विकास का फायदा मुट्ठीभर नवधनाढ्यों, नये जन्मे पूँजीपति वर्ग, साम्राज्यवादियों तथा चीन की सत्ता पर काबिज़ संशोधनवादी पार्टी के नेताओं को ही हुआ है। चीन की इस संशोधनवादी पार्टी के अनेकों नेता आज करोड़पति-अरबपति बन चुके हैं।

मगर 1976 में चीन की राज्यसत्ता पर काबिज़ हुए संशोधनवादियों का मार्ग इतना सुगम नहीं रहा। उन्हें कदम-कदम पर मेहनतकश जनता से भीषण प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा है। चीन की जनता तथा पार्टी की कतारें दिन प्रतिदिन इन डेंगपंथियों की असलियत जानती जा रही हैं। चीन में कामरेड माओ के विचारों का प्रभाव एक बार फिर फैल रहा है। झेङझाऊ नामक शहर माओवादियों के गढ़ के रूप में उभर कर सामने आया है। यह शहर संशोधनवादियों के नापाक मंसूबों को मिट्टी में मिला देने के लिए चीन के मज़दूरों द्वारा दी जा रही टक्कर का प्रतीक बन चुका है। जैसे-जैसे चीन का आर्थिक-राजनीतिक संकट गहरायेगा, चीन की मेहनतकश जनता के संघर्ष का तूफान भी उठेगा।

चीन में आने वाले भावी जनसंघर्ष के तूफान का स्वरूप लातिनी अमेरिकी देशों के जनविद्रोहों जैसा या 1997 के इंडोनेशिया के जनविद्रोह जैसा कतई नहीं होगा। क्योंकि चीन की जनता ने पिछली लगभग तीन चौथाई सदी तक राष्ट्रीय मुक्ति तथा समाजवाद के लिए संघर्ष किया था। चीन ही वह धरती है जहाँ पर एक वर्गविहीन समाज बनाने की दिशा में सबसे उन्नत प्रयोग 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' का प्रयोग हुआ था। इतनी समृद्ध विरासत की स्वामी चीन की मेहनतकश जनता आने वाले दिनों में बहुत जल्द ही आज के युग की क्रान्तियों की मार्गदर्शक विचारधारा मार्क्सवाद-लेनिनवाद- माओवाद तक पहुँचेगी जिसके संकेत आज ही नज़र आ रहे हैं।

-- **सुखदेव** (1 मार्च, 2007)

फार्म 4
(नियम 8 के अन्तर्गत)

पत्रिका का नाम	- दायित्वबोध
प्रकाशन का स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशन अवधि	- त्रैमासिक
मुद्रक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
प्रकाशक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
संपादक का नाम	- विश्वनाथ मिश्र
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर
मुद्रणालय का नाम	- रुचिका प्रिंटर्स, वेस्ट गोरख पार्क, दिल्ली-32
उन व्यक्तियों के नाम	- विश्वनाथ मिश्र
व पते जो समाचारपत्र के स्वामी हों तथा समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	- एमआईजी 134, राप्तीनगर फेज एक, गोरखपुर

मैं, विश्वनाथ मिश्र, एतद् द्वारा घोषणा करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं।

हस्ताक्षर
विश्वनाथ मिश्र

जनचेतना

जनचेतना का प्रथम केन्द्र :

जाफरा बाज़ार, गोरखपुर-273 001

(अन्य केन्द्रों के लिए देखें पिछले कवर पर जनचेतना का विज्ञापन)

आप इस प्रकार हमसे सीधे पुस्तकें मँगा सकते हैं :

-- मुख्य कार्यालय के पते पर पत्र भेजें तथा हर पत्र एवं आदेश-पत्र पर अपना पूरा नाम-पता पिनकोड सहित साफ-साफ लिखें।

-- मनीआर्डर के पीछे सन्देश वाले स्थान पर अपना पूरा नाम-पता पिन कोड सहित साफ-साफ लिखें।

-- चेक/ड्राफ्ट 'जनचेतना के नाम से लखनऊ में देय भेजें।

-- पुस्तकों पर डाकव्यय तथा रेल ट्रांसपोर्ट भाड़ा अलग से देय होगा।

-- विक्रय के लिए थोक में पुस्तकें मँगाने पर हार्डबाउण्ड पुस्तकों पर 40 प्रतिशत; परिकल्पना प्रकाशन तथा अनुराग ट्रस्ट की पेपरबैक पुस्तकों पर 33 प्रतिशत तथा राहुल फाउण्डेशन की पेपरबैक पुस्तकों पर 25 प्रतिशत कमीशन देय होगा।

-- वी.पी.पी. से पुस्तकें मँगाने के लिए मूल्य की 25 प्रतिशत राशि अग्रिम भेजें।

आइये, आप भी हमारी इस मुहिम के सहयात्री बनिये!

क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन वर्ष

(23 मार्च 2005–28 सितम्बर 2008)

भगतसिंह, और उनके साथियों की शहादत की 75वीं वर्षगाँठ और जन्मशताब्दी के तीन ऐतिहासिक वर्षों के दौरान साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध नये जनमुक्ति संघर्ष की तैयारी के आह्वान के साथ क्रान्तिकारी छात्रों–युवाओं का देशव्यापी अभियान

स्मृति संकल्प यात्रा

एक बार फिर
महान शहीदों की स्मृतियों और विरासत से
सँजोना है संकल्प और विवेक का ईंधन
और प्रज्जवलित करनी है
नये संघर्षों की आग,
भविष्य-स्वप्नों से ढालनी हैं इस्पाती मुक्ति-परियोजनाएँ।
उठो, देश के युवा शिल्पियो,
चलो जनजीवन की कार्यशाला में
गढ़ने के लिए
स्वस्थ-सकर्मक जीवन-ऊष्मा से स्पन्दित यथार्थ।
पूँजी की रक्त-पिपासु सत्ता के विरुद्ध
निर्णायक न्याय-युद्ध के सेनानियो,
चलो प्रतीक्षारत जनता के बीच
प्रबल चक्रवाती झंझा को आमंत्रण देते हुए।

साथियो,

एक ज़िन्दा क़ौम की युवा पीढ़ी गुज़रे हुए अतीत को वापस लाने का ख़्वाब नहीं देखती, बल्कि वह अतीत से सबक लेती है, अपने पूर्वज क्रान्तिकारियों और शहीदों की स्मृति से प्रेरणा और विचारों से दिशा लेती है तथा कठिनतम चुनौतियों से जूझती हुई भविष्य-निर्माण के महासमर में सन्नद्ध हो जाती है।

बर्तानवी गुलामी से आज़ादी के साठ वर्षों बाद देश आज कहाँ पहुँचा है?— आँसुओं के सागर में समृद्धि के कुछ द्वीप, ग़रीबी, अभाव और यंत्रणा के रेगिस्तान में विलासिता की कुछ मीनारें, ऊँची विकास-दर के शोर के बीच अकूत सम्पदा की ढेरी पर बैठे मुट्ठी भर परजीवी और दूसरी ओर शिक्षा और स्वास्थ्य-सुविधा तो दूर, बारह-चौदह घण्टों तक हड्डियाँ गलाने के बावजूद दो जून की रोटी भी मुश्किल से जुटा पाने वाली चालीस करोड़ की आबादी, बीस करोड़ बेरोज़गार युवा, भुखमरी के शिकार करोड़ों बच्चे, शरीर बेचने को बेबस लाखों स्त्रियाँ। देशी पूँजीपतियों की बेलगाम लूट और विदेशी लूट-खसोट के लिए खुले दरवाज़े की नीति, संसद और विधानसभाओं में ऊँघते और धींगामुश्ती करते पूँजी के टुकड़खोर चाकर गुण्डे और अपराधी, मज़दूरों के हितों का सौदा करने वाले नकली वामपंथी, जनाक्रोश पर पानी के छींटे मारने वाले एन.जी.ओ., बिके हुए सुविधाभोगी बुद्धिजीवी, जनान्दोलनों पर लाठी-गोली की बौछार, साम्प्रदायिक दंगों और धार्मिक कट्टरपंथ की फासिस्ट राजनीति, जाति के आधार पर आम मेहनतकश जनता को बाँटने की साज़िशें — यही है इक्कीसवीं सदी के "चमकते चेहरे वाले" भारत की तस्वीर। ज़ाहिर है कि इस सड़े-गले ढाँचे को मिट्टी में मिलाकर ही जन-मुक्ति का स्वप्न साकार किया जा सकता है और एक नये भारत का निर्माण किया जा सकता है।

भगतसिंह और उनके विचारवान युवा साथियों ने दस फ़ीसदी थैलीशाहों के लिए नहीं, बल्कि नब्बे फ़ीसदी आम जनता के लिए आज़ादी और जनतंत्र का सपना देखा था। बर्तानवी गुलामी और सामन्तवाद से लड़ाई उनकी दृष्टि में साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद के विरुद्ध लम्बी लड़ाई की एक कड़ी थी। उनका सपना सच्चे अर्थों में समाजवाद का सपना था — यानी एक ऐसा समाज जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर आम मेहनतकश जनता काबिज़ हो।

वर्ष 2005-2006 भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आज़ाद और यतीन्द्रनाथ दास की शहादत का पचहत्तरवाँ वर्ष था। यही वर्ष चन्द्रशेखर आज़ाद का जन्मशताब्दी वर्ष भी था। सितम्बर 2008 को भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष का भी समापन होगा। चटगाँव विद्रोह के 75 वर्ष, नौसेना विद्रोह के 60 वर्ष और 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के 150 वर्ष भी इसी दौरान पूरे होंगे। यह अवसर इस देश के नौजवानों के लिए अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी की याददिहानी का अवसर है। यह 'नयी प्रेरणा-नये संकल्प-नयी शुरुआत' का अवसर है। इसीलिए, 23 मार्च 2005 से लेकर 28 सितम्बर 2008 के बीच के इन तीन वर्षों को, एक नयी क्रान्ति का सन्देश जन-जन तक पहुँचाने वाली स्मृति-संकल्प यात्राओं के माध्यम से क्रान्तिकारी नवजागरण के तीन ऐतिहासिक वर्ष बना देने के लिए हम कृतसंकल्प हैं।

अपनी यात्रा टोलियों के अभियानों, जनसभाओं, सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि के माध्यम से हम छात्रों-युवाओं का आह्वान करते हैं कि वे क्रान्ति का सन्देश लेकर गाँवों-शहरों के मेहनतकशों तक जायें तथा उन्हें तमाम पूँजीवादी चुनावी पार्टियों, नकली वामपंथियों, ट्रेडयूनियनबाज़ों, एनजीओपंथियों, साम्प्रदायिक फासिस्टों और जातिवादी राजनीति के सरगनाओं से आगाह करें। हम उनका आह्वान करते हैं कि वे अपने क्रान्तिकारी संगठन बनायें और मेहनतकश जनता को संगठित करने के लिए आगे आयें। हम बुद्धिजीवियों का आह्वान करते हैं कि वे ज्ञान बेचकर सुख-सुविधा खरीदने की स्वार्थी प्रवृत्ति छोड़कर जनता के आदमी बनें और क्रान्तिकारी परिवर्तन के विचार एवं संस्कृति को जन-जन तक पहुँचाने वाले हरकारे बन जायें।

एक नयी क्रान्ति के लिए नयी क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी शक्ति का ढाँचा गढ़ना होगा और इस काम में हमें तत्काल, प्राणप्रण से जुट जाना होगा। इसलिए, आओ, एकजुट होकर आगे कदम बढ़ायें।

दिशा छात्र संगठन   नौजवान भारत सभा

सम्पर्कः

● बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094, फोन : 011-65976788 ● रूम नं.-3, ए-67, क्रिश्चियन कालोनी, पटेल चेस्ट इंस्टीट्यूट के निकट, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, फोन : 9213243755/9911055517 ● डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020, फोन : 0522-2786782 ● 16/6, बाघम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद, 09415646383 ● संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर, फोन : 0551-2241922 ● नोएडा, फोन : 09211273360 ● गाजियाबाद, फोन : 09891993332 ● लुधियाना, अजयपाल, फोन : 09888655663/09888841568 ● डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवासदन, मर्यादपुर

ईमेल : smriti_sankalp@yahoo.com, smriti.sankalp@gmail.com

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

जनचेतना

• एक सांस्कृतिक मुहिम • एक वैचारिक प्रोजेक्ट • वैकल्पिक मीडिया का एक मॉडल

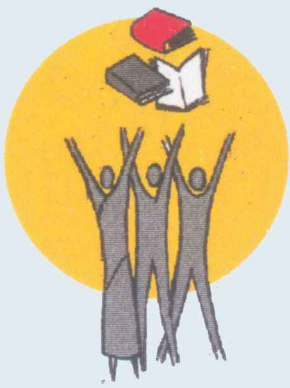

किताबें नहीं
हम आने वाले कल के सपने लेकर आये हैं
किताबें नहीं
हम असली इन्सान की तरह
जीने का संकल्प लेकर आये हैं।
हम हैं उम्मीदों के हरकारे
हम हैं विचारों के डाकिये।

दो दशक पहले प्रगतिशील, जनपक्षधर साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने की मुहिम की एक छोटी-सी शुरुआत हुई, बड़े मंसूबे के साथ। एक छोटी-सी दुकान और फुटपाथों पर, मुहल्लों में और दफ़्तरों के सामने छोटी-छोटी प्रदर्शनियाँ लगाने वाले तथा साइकिलों पर, ठेलों पर, झोलों में भरकर घर-घर किताबें पहुँचाने वाले समर्पित अवैतनिक वालण्टियरों की टीम – शुरुआत बस यहीं से हुई। आज यह वैचारिक अभियान उत्तर भारत के दर्जनों शहरों और गाँवों तक फैल चुका है। एक बड़े और एक छोटे प्रदर्शनी वाहन के माध्यम से जनचेतना हिन्दी और पंजाबी क्षेत्र के सुदूर कोनों तक हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी साहित्य एवं कला-सामग्री के साथ सपने और विचार लेकर जा रही है, जीवन-संघर्ष-सृजन-प्रगति का नारा लेकर जा रही है।

**आम लोगों के लिए
ज़रूरी हैं वे किताबें
जो उनकी ज़िन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुँचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी।
घर-घर तक चिनगारी छिटकाने वाला
तेज़ हवा का झोंका बन जाना होगा
ज़िन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन-जन तक पहुँचाना होगा।**

जनचेतना परिकल्पना प्रकाशन, राहुल फाउण्डेशन (प्रकाशन प्रभाग), अनुराग ट्रस्ट (बाल साहित्य के प्रकाशक), शहीद भगतसिंह यादगारी प्रकाशन (पंजाबी राजनीतिक प्रकाशक), दस्तक प्रकाशन (पंजाबी साहित्यिक प्रकाशक) और प्रांजल आर्ट पब्लिशर्स (कला-सामग्री के प्रकाशक) के सभी प्रकाशनों के मुख्य वितरक की भूमिका भी निभाती है।

हमारे पास आपको मिलेंगे :

• सर्वोत्कृष्ट विश्व क्लासिक्स • स्तरीय प्रगतिशील साहित्य • इतिहास, दर्शन और समाज-विज्ञान की चुनिन्दा पुस्तकें • भगतसिंह और उनके साथियों का सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य • जीवन और समाज की समझ देने वाला और भविष्य का मार्ग बतलाने वाला क्रान्तिकारी राजनीतिक साहित्य • मक्सिम गोर्की की कृतियों का सबसे बड़ा संग्रह • दिमाग़ की खिड़कियाँ खोलने और कल्पना को पंख देने वाला बाल साहित्य • आकर्षक कलात्मक चित्र, पोस्टर, कैलेण्डर और कार्ड • क्रान्तिकारी गीतों के कैसेट

मुख्य कार्यालय : डी-68, निरालानगर, लखनऊ–226020
फोनः 0522-2786782, ईमेल : janchetna@rediffmail.com
अन्य केन्द्र : • जनचेतना सचल पुस्तक प्रतिष्ठान, मोबाइल : 09818651276
• जनचेतना ठेला, चौड़ा मोड़, नोएडा, शाम 5 से 8 बजे तक, फोन : 9211273360
• सी-74, एस.एफ.एस. फ्लैट्स, सेक्टर-19, रोहिणी, दिल्ली, फोन : 9213639072
• 16/6, वाघम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद, 09415646383
• 154, शहीद करनैल सिंह नगर फेज़-3, पखोवाल रोड, लुधियाना, फोन : 09888655663

आप हमसे पुस्तकें कैसें मँगा सकते हैं, यह जानने के लिए देखें भीतर पृष्ठ 82

आइये, आप भी इस मुहिम में हमारे सहयात्री बनिये।